

तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. अतुल कुमार प्रसाद सिंह



प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार)-844128 (भारत)

2016

तीर्थकरों के पंचकल्याणक

गर्भकल्याणक—तीर्थकर के गर्भ में आने पर उनकी माता 14 दिव्य स्वप्न देखती हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार स्वप्नों की संख्या 16 है।

जन्म-कल्याणक—तीर्थकर के जन्म होने पर इन्द्र देवताओं सहित आकर उनका जन्म कल्याणक महोत्सव मनाते हैं और उन्हें मेरुपर्वत पर ले जाकर उनका क्षीरसागर के जल से अभिषेक आदि करते हैं।

दीक्षा-कल्याणक—दीक्षा-ग्रहण का समय आने से एक वर्ष पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या ग्रहण करने का अनुरोध करते हैं। तब वे एक वर्ष तक करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। दीक्षा के दिन इन्द्र देवता सहित उनका अभिनिष्क्रमण मनाते हैं। इसके बाद तीर्थकर पालकी में बैठकर वन की ओर जाते हैं। तीर्थकर स्वयं दीक्षित होते हैं। उनका कोई दीक्षा गुरु नहीं होता।

कैवल्य-कल्याणक—तीर्थकर नाम-कर्मवाले को केवल-ज्ञान के समय भी इन्द्र देवता सहित आकर उनका कैवल्य महोत्सव मनाते हैं तथा धर्म-सभा के लिए समवसरण की रचना करते हैं।

निर्वाण-कल्याणक—तीर्थकर के निर्वाण के अवसर पर भी देवों द्वारा उनका निर्वाण-महोत्सव मनाया जाता है। तीर्थकरों के विशेष अतिशय भी होते हैं।

XII +242

ISBN No.- 9789381403167

Price:- ₹ 310.00

तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

प्रधान सम्पादक

प्रो० (डॉ०) ऋषभचन्द्र जैन

निदेशक

प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली (बिहार)

लेखक

डॉ० अतुल कुमार प्रसाद सिंह



प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

बासोकुण्ड, पिन-844128 मुजफ्फरपुर (बिहार)

2016

TITTHOGALI PRAKIRNAK KA SAMIKSHATMAK ADHYAYAN

(Critical Study of Titthogali Prakirnak)

General Editor

Prof. (Dr.) Rishabha Chandra Jain

Director, Reserch Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa, Vaishali

Author

Dr. Atul Kumar Prasad Singh

@ Research Institute of Prakrit Jainology & Ahimsa, Vaishali

First Edition : 2016

ISBN : 978-93-81403-16-7

Price : Rs. 310.00

Published on behalf of the Reserch Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa, Vaishali, Basokund, Muzaffarpur, Bihar by Prof. (Dr.) Rishabha Chandra Jain, Director Website : www.ripja.bih.nic.in, Email-vaishaliinstitute@gmail.com, Mob. No. : 09471001719.

Printed in India at the sri Rajballabh Prasad, (Prop.) D. K. Offset, Rampur lane, Musallahpur hat, patna-800006, Ph. : 09835406193



The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955, with the object, inter alia, to promote advance studies and research in Prakrit and Jainology and to publish works of permanent value to scholars. This institute is one of the six research institutes being run by the Government of Bihar. The other five are : (i) Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) K. P. Jayaswal Research Institute for research in ancient, medieval and modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasha Parishad for research and advance studies in Hindi at Patna; (iv) Nava Nalanda Mahavihara for research and post-graduate studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and (v) Institute of Post-graduate Studies and Research in Arabic and Persian at Patna.

As part of the programme of rehabilitating and reorienting ancient learning and scholarship, this is the Research Volume no-102 which is “तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन” 'Critical Study of Tittthogali Prakirnak'. The Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in fullness of time.

प्रधान सम्पादकीय

‘तित्थोगाली’ जैन आगम परम्परा का महत्त्वपूर्ण प्रकीर्णक ग्रन्थ है। इसकी गणना दस प्रकीर्णकों में नहीं है, बल्कि अन्य २० या २२ प्रकीर्णकों की सूची में यह शामिल है। सभी उपलब्ध प्रकीर्णकों में परिमाण की दृष्टि से यह सबसे बड़ा है। इसमें १२६१ प्राकृत गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में जैन परम्परा सम्मत काल-विषयक विवेचन विस्तार से किया गया है, जिसमें अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, कर्मभूमि, अकर्मभूमि, सुषमा, दुषमा आदि का प्रतिपादन उल्लेखनीय है। इस प्रकीर्णक का काल विषयक विवेचन तिलोपपण्णत्ती से पर्याप्त साम्य रखता है। अवसर्पिणी काल के प्रथम सुषमा-सुषमा आरे में भवन सुन्दर और पर्वत कल्पवृक्षों से परिपूर्ण होते हैं। पृथ्वी रत्नों से परिपूर्ण एवं नदियाँ सुन्दर होती हैं। इस काल में मनुष्य युगल रूप में जन्म लेते हैं तथा ६४ कलाओं में स्वभावतः निपुण होते हैं। उनमें स्वामी-सेवक, क्रेता-विक्रेता, प्रेष्य-प्रेषक आदि की अवधारणा का अभाव रहता है। वे सुरूप, सौभाग्यशाली, सुखसेवी, सुन्दर गन्धयुक्त, पराक्रमी, क्षीणकषाय, अल्प इच्छावान, संपत्ति मोह से रहित, अचण्ड, बत्तीस लक्षणों के धारक तथा फलाहारी होते हैं। इनकी आयु और शरीर का परिमाण भी विशाल होता है। इनकी जरूरतें मतांगक, भृंग, त्रुटितांग, दीप, ज्योतिष, चित्रांग, चित्तरस, मणियंग, गृहागार और अनग्नक नामक दस कल्पवृक्षों से पूर्ण होती हैं। ये परस्पर आसक्त होते हैं। इनकी आयु नौ मास शेष रहने पर गर्भ ठहरता है। युगल बालक-बालिका को जन्म देकर माता-पिता मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पुरुष की मृत्यु छींक से और स्त्री की मृत्यु जंभाई से होती है। मृत्यु के बाद उनके शरीर शरत्कालीन मेघ के समान विनष्ट हो जाते हैं। नवजात बालक-बालिका युगल कुछ ही दिनों में अंगूठा चूसते हुए उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुणों, तारुण्य और सम्यक् दर्शन के ग्रहण योग्य हो जाते हैं। इनके शरीर मल-मूत्र रहित होते हैं।

आगे के सुषमा, सुषमा-दुषमा कालों में भोगभूमि की व्यवस्थाओं में निरन्तर हास होता जाता है। चौथे दुषमा-सुषमा काल में भोगभूमि का समापन तथा कर्मभूमि का प्रारम्भ होता है। कर्मभूमि के प्रथम राजा भगवान् ऋषभदेव होते हैं, वे ही साधनहीन मनुष्यों को असि, मसि, कृषि आदि करने की विद्याएँ सिखाते हैं। इसी कालखण्ड में शेष २३ तीर्थकर और अन्य शलाकापुरुष जन्म लेते हैं। इसके बाद के दुषमा और दुषमा-दुषमा कालों में मनुष्य के आचार-विचार, आयु-बल आदि निरन्तर निम्न से निम्नतर को प्राप्त होते जाते हैं। उसके बाद उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होता है, जिसमें पुनः निम्नतर से उच्चतर की ओर

vi : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

धीरे-धीरे क्रमशः आचार-विचार, आयु-बल आदि बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल का यह चक्र प्रवर्तमान रहता है। यह काल चक्र की व्यवस्था बड़ी रोचक एवं व्यवस्थित है।

इस पुस्तक में तिरेसठ शकालापुरुषों, कल्की और भगवान् महावीर के बाद की स्थूलभद्र तक की पट्ट परंपरा का विवेचन किया गया है। तित्थोगाली प्रकीर्णक के अनुसार लोक-व्यवहार, मनुष्य का स्वभाव, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों पर विस्तार से विचार किया गया है। इसमें तित्थोगाली की भाषा, छन्द आदि का भी विवेचन हुआ है। तित्थोगाली पर अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य और दिगम्बर परंपरा के प्रभाव की विवेचनपूर्वक समीक्षा की गयी है। तित्थोगाली में पूर्ववर्ती ग्रन्थों की गाथाओं का पर्याप्त मात्रा में प्रायः यथावत् प्राप्त होना, उसके महत्त्व को रेखांकित करता है। निष्कर्षतः तित्थोगाली प्रकीर्णक का प्रस्तुत समीक्षात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है।

डॉ. अतुल कुमार प्रसाद सिंह ने अपनी पुस्तक को प्रकाशनार्थ संस्थान को दिया इसलिए उन्हें साधुवाद देता हूँ। इसके मुद्रण के लिए डी. के. ऑफसेट, पटना के संचालकों श्री राजवल्लभ प्रसाद एवं श्री रमेश कुमार को धन्यवाद देता हूँ, जिनके सत्प्रयत्न से यह पुस्तक आकर्षक बन पायी है। अपने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी सहयोगियों का भी स्मरण करता हूँ, जिनके सद्भाव के कारण इसका प्रकाशन कार्य सम्पन्न हो पाया है।

भगवान महावीर निर्वाण दिवस

३० अक्टूबर, २०१६

ऋषभचन्द्र जैन

निदेशक

प्राक्कथन

मानव स्वभाव से ही चिंतनशील प्राणी रहा है। अस्तित्व में आने के बाद से ही वह अपने और इस सम्पूर्ण सृष्टि के विषय में चिंतन-मनन करता रहा है और इसी क्रम से उसने अपने-अपने ढंग से तरह-तरह की अवधारणाओं को विकसित किया। जीव, जगत्, आत्मा, ईश्वर, कर्म और मोक्ष आदि उसके चिंतन के मुख्य बिन्दु रहे, और इसपर लगातार नयी-नयी विचारधाराएँ आती और प्रवाहित होती रही हैं। इसी क्रम में भारत में ब्राह्मण, श्रमण आदि धाराओं का विकास हुआ। इसी श्रमणधारा का एक प्रमुख अंग जैन-धर्म के रूप में सामने आया, जिसने उपर्युक्त विषयों पर अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त किये। जिनको आधार बनाकर विपुल साहित्य की रचना की गयी। ये साहित्य विचारधारा और अपनी अवधारणाओं पर आधारित होने से खास-खास पंथों में प्रचलित और मान्य हुई।

प्रस्तुत तित्थोगाली प्रकीर्णक जैन-धर्म की परम्पराओं और उसकी मूल अवधारणा को व्यक्त करनेवाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी विशेषता है कि जैनों में परवर्ती काल में हुए विभिन्न साम्प्रदायिक भेदों-उपभेदों से कई मामलों में ऊपर उठकर यह अपनी निष्पक्ष अवधारणा को प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि जैनों के विभिन्न सम्प्रदायों में मान्य आगम या आगम-तुल्य ग्रन्थों की सूची में इसका कोई स्थान नहीं है। फिर भी जहाँ ८४ आगमों की गणना होती है, वहाँ यह प्रकीर्णक खण्ड के अन्तर्गत समाहित है। इस ग्रन्थ को नौ अध्यायों में विभक्त कर मैंने इस पर शोध-कार्य किया है और इसमें निहित अमूल्य सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक तत्त्वों को दर्शाने का प्रयास किया है। यह ग्रन्थ ५वीं शताब्दी के लगभग का है, परन्तु अभी तक इस पर कोई कार्य नहीं हो पाया है। मुनि पुण्यविजय जी ने इसके पाठ का संस्करण और संपादन करने का एक स्तुत्य प्रयास अवश्य किया था, जो उनके 'पड़ण्यसुताइं' नामक दो खण्डों के प्रथम खंड में कुल ३२ प्रकीर्णकों के साथ संकलित है। इस ग्रन्थ को देखने का मौका मुझे आदरणीय प्रो० सागरमल जैन, (तत्कालीन निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ) जैसे जैन-विद्या के सम्मानित विद्वान् की प्रेरणा से मिला था और उन्हीं की प्रेरणा से मैंने इसका हिन्दी अनुवाद किया। इसे जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ ने प्रकाशित किया है। अनुवाद क्रम में ही इसमें निहित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तत्त्वों की ओर मेरा ध्यान गया और इसपर और गहराई में उतरने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शोध छात्र के रूप में पंजीकृत होने पर मैंने इसे ही अपने शोध विषय के रूप में चुना।

इस ग्रन्थ के अध्यायों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय “आगम साहित्य” नामक इस अध्याय में अधिकतम मान्य ४५ आगमों के अतिरिक्त प्रकीर्णक ग्रन्थ के रूप में मान्य २ अन्य प्रकीर्णकों का संक्षिप्त परिचय, उसमें तित्थोगाली का स्थान तित्थोगाली के रचनाकार और उसका रचनाकाल के विषय में विचार गया है। इसी क्रम में आगमों की परिभाषा, अवधारणा, स्वरूप एवं संख्या पर भी विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय “काल-चक्र विवेचन” नामक इस अध्याय में जैन मान्यतानुसार ‘काल’ की अवधारणा, लोक-स्वरूप, काल की ईकाइयाँ आदि के साथ तित्थोगाली में प्रयुक्त काल-चक्र पर विचार किया गया है।

तृतीय अध्याय “तित्थोगाली में तीर्थकर” नामक इस अध्याय में तीर्थकर की अवधारणा का विकास, तीर्थकर-स्वरूप, उनकी संख्या का निर्धारण आदि पर विचार कर तित्थोगाली में वर्णित अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में उत्पन्न हुए और होनेवाले भरत-ऐरावत-क्षेत्रों के तीर्थकरों के विषय में गवेषणा की गयी है। इसी क्रम में अन्य क्षेत्रों की अवधारणा और वहाँ तीर्थकरों की अवस्थिति की भी चर्चा प्रस्तुत है।

चतुर्थ अध्याय “तीर्थकरेतर विभूतियाँ” नामक अध्याय में विभिन्न काल खण्डों में भरत-ऐरावत क्षेत्रों के चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों की अवधारणा, उनकी संख्या, समय, ऋद्धि एवं कार्यों का वर्णन एवं प्रतिवासुदेवों का वर्णन है। ये सब शलाकापुरुष के नाम से जाने जाते हैं।

पंचम अध्याय “ऐतिहासिक काल-गणना और तित्थोगाली” नामक इस अध्याय में तित्थोगाली में प्रसंगवश आये ऐतिहासिक घटनाओं और नामों पर विचार कर उनको व्यवस्थित किया गया है।

षष्ठ अध्याय “तित्थोगाली में संस्कृति और समाज” नामक इस अध्याय में ग्रन्थ में प्रयुक्त तत्कालीन रस्म-रिवाज, रहन-सहन, सामाजिक मान्यताओं एवं सांस्कृतिक सामग्री पर विचार कर उसे संकलित किया गया है।

सप्तम अध्याय “तित्थोगाली की भाषा एवं छन्द-योजना” नामक इस अध्याय में “प्राकृत भाषा का उद्भव, विकास एवं तित्थोगाली में प्रयुक्त भाषा की विविधता, इसपर अन्य भाषाओं का प्रभाव एवं इस भाषा का भाषातात्त्विक विवेचना के साथ इसके छन्दों एवं छन्द के भेदों का विवेचन प्रस्तुत है।

अष्टम अध्याय “तित्थोगाली की परम्परा” नामक इस अध्याय में ग्रन्थ में विषयों के मूल स्रोत, उसमें आयी विभिन्नता की मूल अवधारणा, दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित अवधारणा का प्रभाव एवं अन्य वाचना से आये प्रभाव को दर्शाया गया है।

नवम अध्याय यह अध्याय “उपसंहार” है। इसमें सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध की विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

लगभग पाँच वर्षों तक चले इस शोध-कार्य की समापन-वेला में अपने शुभचिन्तकों, विद्वानों एवं अन्य व्यक्तियों का स्मरण न करना कृतघ्नता होगी। इसमें सर्वप्रथम में अपने माता-पिता को प्रमाण करता हूँ जिन्होंने बचपन से ही मुझे उचित रास्ते पर चलना सिखाया और अध्ययन का सुयोग दिया। उनके ऋण से उन्मत्त होना इस संसार में असम्भव है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पूर्व निदेशक प्रो० सागरमल जैन के प्रति गुरु-भाव से ही कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके सहयोग के बिना यह शोध-कार्य असम्भव था। उनकी सदाशयता और हर प्रकार के सहयोग का उल्लेख शब्दों में बाँधकर मैं सीमित नहीं करना चाहता।

मेरे इस महानिबन्ध को पुस्तक का आकार प्रदान करने में प्राकृत भाषा और साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान् तथा प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली के निदेशक प्रो० ऋषभचन्द्र जैन का कृतज्ञ हूँ, जिनकी कृपापूर्ण उदार दृष्टि से यह ग्रन्थ प्राकृत संस्थान में स्थान पाकर प्रकाशित हो सका।

जैनविश्वभारती संस्थान, लाडनूँ के तत्कालीन कुलपति श्रद्धेय प्रो० रामजी सिंह एवं प्राकृत विभाग के शिक्षकों, श्रद्धेय प्रो० देवनारायण शर्मा (पूर्व विभागाध्यक्ष), डा० जगतराम भट्टाचार्य (विभागाध्यक्ष), डा० हरिशंकर पाण्डेय एवं डा० जिनेन्द्र कुमार जैन के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने पारिवारिक भाव से एम०ए० में प्राकृत भाषा एवं साहित्य की शिक्षा-प्रदान की। तब मैं प्राकृत भाषा के लिए बिल्कुल नया था। डा० जगतराम भट्टाचार्य की कृपा इस शोध-प्रबन्ध के उचित निर्देश में रही और भाषा विषयक 'सप्तम अध्याय' में दिशा उन्होंने ही दिखलायी है। 'एम०ए०' के अध्ययन के दौरान भी इन श्रद्धास्पद शिक्षकों का हार्दिक प्रेम और हर प्रकार का आत्मीय सहयोग प्राप्त होता रहा है। एम०ए० की अध्ययन अवधि के कक्षा के सहपाठियों, मुमुक्षु उर्मिला पारिख, मु० उज्ज्वला जोगड़, मु० सुमंगला जैन एवं श्री दिनेश कुमार मिश्र को स्मरण करता हूँ। दो मुमुक्षु अब साध्वी बन चुकी हैं और एक समणी। दिनेश जी पाली (राज०) में जैन दर्शन के प्रवक्ता हैं।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी के सभी अध्यापकों का सहयोग आत्मीय भाव से मिलता रहा है। इनमें डा० अरुण प्रताप सिंह, डा० अशोक कुमार सिंह (वरिष्ठ प्रवक्ता), डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डा० शिवप्रसाद, डा० विजयकुमार एवं डा० सुधा जैन प्रमुख हैं। इलाहाबाद वि०वि०, संस्कृत विभाग के पूर्व अध्यक्ष प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डेय को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करता हूँ जिन्होंने पार्श्वनाथ विद्यापीठ के अपने कार्यकाल के दौरान आत्मीय भाव से मेरा उत्साहवर्द्धन किया। विद्यापीठ के पूर्व प्रवक्ता बड़े भाई तुल्य डा० रज्जन कुमार को विशेष रूप से स्मरण करना चाहूँगा, जिनका स्नेह लाडनूँ से ही प्राप्त रहा है। वाराणसी आने और शोध-पंजीयन से लेकर शोध-कार्य तक में उनका आत्मीय और सजग योगदान रहा है। यहाँ पर मेरे अभिभावक के रूप में भी उन्होंने बेहिचक दायित्व निवाहा। इस समय वे रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय-बरेली, में दर्शन विभाग के रीडर पद पर कार्यरत हैं, विद्यापीठ के पुस्तकालयाधिकारी ओमप्रकाश सिंह ने जब भी जरूरत हुई, पुस्तकें उपलब्ध कराकर शोध-कार्य में कोई बाधा नहीं आने दी।

x : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

शोध-अवधि में देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और संस्थानों के पुस्तकालयों का भी उपयोग किया। इनमें राष्ट्रीय पुस्तकालय-कलकत्ता, एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल-कलकत्ता, भारतीय भाषा परिषद-कलकत्ता, नागपुर विश्वविद्यालय, संबलपुर विश्वविद्यालय, उस्मानिया वि०वि०-हैदराबाद, बी०एल० इन्टीच्यूट ऑफ इण्डोलाजी-दिल्ली, जैन विश्वभारती-लाडनू, पार्श्वनाथ विद्यापीठ-वाराणसी, श्री महावीर जैन साधना केन्द्र-कोबा, गाँधीनगर के पुस्तकालयों का उपयोग किया। इनमें अधिकारियों, कर्मचारियों के प्रति आभार-प्रकट करता हूँ। विभागीय पुस्तकालय और अपने विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय का उपयोग इस शोधकार्य में महत्वपूर्ण रूप से किया है। इनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

अपने शोध-निर्देशक डॉ० कमलेश कुमार जैन के प्रति शब्दों में कृतज्ञता-ज्ञापन करना उनके सहयोग को सीमित करना होगा। उन्होंने न केवल इस शोध-कार्य में, बल्कि व्यावहारिक जीवन में समयानुसार उचित निर्देशन प्रदान किया है। उन्हें मैं श्रद्धा से प्रमाण करता हूँ। विभाग के पूर्व अध्यक्ष और संकायाध्यक्ष प्रो० रामचन्द्र पाण्डेय, वर्तमान विभागाध्यक्ष एवं संकाय-प्रमुख प्रो० सुधांशु शेखर शास्त्री और विभाग के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० सूर्यप्रकाश व्यास के प्रति भी श्रद्धावनत हूँ।

जीवन को एक नयी दिशा देनेवाले और सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा व समय-समय पर उचित मार्गदर्शन करनेवाले गुरु श्री सच्चिदानन्द सिन्हा को हृदय से प्रणाम करता हूँ, उनके सहयोग के बारे में इतना ही कह सकूँगा कि यदि उनके सम्पर्क में मैं नहीं आया रहता, तो आज हूँ उसकी कल्पना भी नहीं कर पाता। इनके साथ ही श्री अशोक सेकसरिया, कलकत्ता और किशन पटनायक को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने सम्पर्क से या पत्र-द्वारा समय-समय पर आशा और सहयोग को बनाये रखा और जिनका जीवन स्वयं में एक आदर्श है।

मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नयी दिल्ली का आभारी हूँ। जिसने कनिष्ठ और वरिष्ठ शोध-छात्रवृत्ति प्रदान कर पूरी शोध-अवधि तक मुझे आर्थिक-पक्ष की ओर से निश्चिन्त कर दिया।

अतुल कुमार प्रसाद सिंह

विषय-सूची

	पृष्ठ सं०
प्रथम अध्याय : आगम साहित्य	१-३६
(क) आगम साहित्य और प्रकीर्णक (अंग, उपांग, छेदसूत्र, मूलसूत्र, प्रकीर्णक)	६
(ख) प्रकीर्णकों में तित्थोगाली का स्थान	२७
(ग) रचयिता एवं रचनाकाल	३५
द्वितीय अध्याय : काल-चक्र विवेचन	३७-६१
(क) जैनागमों में काल की अवधारणा और तित्थोगाली	३७
(ख) तित्थोगाली में काल-विषयक विवेचन	४२
(ग) अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, कर्मभूमि, सुषमा, दुषमा आदि का विवेचन	४३
तृतीय अध्याय : तित्थोगाली में तीर्थकर	६२-९५
(क) वर्तमान काल के तीर्थकर	६२
(ख) दसक्षेत्र और तीर्थकर	८६
(ग) अन्य क्षेत्रों के तीर्थकर	८८
(घ) तीर्थकरों के समय में भरतवर्ष का स्वरूप	८८
(ङ) आगामी उत्सर्पिणी काल के तीर्थकर	८९
चतुर्थ अध्याय : तीर्थकरेतर विभूतियाँ	९६-११६
(क) कुलकर	९६
(ख) चक्रवर्ती	९७
(ग) बलदेव	१०३
(घ) वासुदेव-प्रतिवासुदेव	१०५
पंचम अध्याय : ऐतिहासिक काल गणना और तित्थोगाली	११७-१३३
(क) कल्की विवेचन	११७
(ख) महावीर के बाद स्थूलभद्र पर्यन्त पट्ट-परम्परा	१२९

षष्ठ अध्याय : तित्थोगाली में संस्कृति और समाज १३४-१७३

(क) लोक-व्यवहार	१३५
(ख) मनुष्य-प्रकृति	१३५
(ग) राजनैतिक-व्यवस्था	१३५
(घ) आर्थिक-व्यवस्था	१३८
(ङ) सामाजिक-व्यवस्था	१४२
(च) धार्मिक-व्यवस्था	१५०

सप्तम अध्याय : तित्थोगाली की भाषा एवं छन्द योजना १७४-२०७

(क) प्राकृत भाषा का उद्भव एवं विकास	१७४
(ख) ध्वनि-तत्त्व	१७९
(ग) रूप तत्त्व	१९३
(घ) तित्थोगाली में छन्द-योजना	१९९

अष्टम अध्याय : तित्थोगाली की परम्परा २०८-२३१

(क) तित्थोगाली पर अंग प्रविष्ट ग्रंथों का प्रभाव	२०८
(ख) अंगबाह्य ग्रंथों से समानता एवं परिवर्तन	२१३
(ग) दिगम्बर परम्परा का तित्थोगाली पर प्रभाव	२१६
(घ) तित्थोगाली में आगम-विलोप की मीमांसा	२२२
(ङ) तित्थोगाली में अन्य ग्रंथों की गाथाएँ	२२६

नवम अध्याय : उपसंहार २३२-२३७

परिशिष्ट : सहायक-सन्दर्भ ग्रंथों की सूची २३८-२४४

प्रथम अध्याय

आगम साहित्य

किसी भी धर्म या संस्कृति का मूल आधार उसका वाङ्मय होता है, जो उसके तत्त्वद्रष्टा ऋषि-महर्षियों का स्वानुभव-प्रसूत चिन्तनात्मक उपदेशों का संकलन होता है। सत्य के साक्षात्कर्ता उन ऋषियों द्वारा लोक कल्याण हेतु व्यक्त कल्याणमयी वाणी ही इन धर्मों और संस्कृतियों के मूल वाङ्मय होते हैं तथा यही वाणी इन संस्कृति रूपी महावृक्षों का सिंचन संवर्धन करती है। किसी धर्म की महानता और उसकी उदात्तता का आकलन भी उसके साहित्य के द्वारा ही हो सकता है। साहित्य समाज का दर्पण होता है और इस प्रकार आगम साहित्य भी प्राचीन भारतीय समाज को प्रतिबिम्बित करने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

भारतीय संस्कृति के मुख्यतः दो प्रवाह रहे हैं— ब्राह्मण और श्रमण। इन दोनों के समवाय से एक संपूर्ण संस्कृति तथा समाज का वास्तविक रूप सामने आता है। जहाँ ब्राह्मण संस्कृति का साहित्य, वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक और अन्य ग्रंथ है। वहीं श्रमण साहित्य में आगम और त्रिपिटक की गणना की जाती है। बाद में श्रमण संस्कृति में दो धाराएँ जैन और बौद्ध विकसित हो जाने पर आगम जैन धर्म के धार्मिक और आध्यात्मिक साहित्य के रूप में स्थापित हुआ तथा बौद्धों का साहित्य पिटक कहलाया। यद्यपि विचारधारा और चिन्तन के स्तर पर वेदों, उपनिषदों और आगमों में तथा ब्राह्मण और श्रमण परम्परा में भेद करना अनुचित है। इन ग्रंथों में दोनों परम्परा के तत्त्व मिश्रित रूप में विद्यमान हैं।

ब्राह्मण और श्रमण धारा में मुख्य भेद यह रहा है कि ब्राह्मण परम्परा जहाँ प्रवृत्तिमूलक रही, वहीं श्रमण परम्परा निवृत्तिमूलक। जहाँ श्रमण परम्परा में संसार का प्रत्यय प्रमुख बना, वहीं वैदिक परम्परा में गृहस्थ जीवन। यद्यपि वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी निवृत्तिमूलक भावना विद्यमान है जैसे उपनिषद् साहित्य और बाद में जैन परम्परा ने भी अणुव्रत और महाव्रत का विभाजन कर गार्हस्थ जीवन का सूत्र अणुव्रत के द्वारा तय कर दिया, फिर भी मूल भावना निवृत्तिमूलक ही रही है। श्रमणधारा ने सांसारिक जीवन की दुःखमयता को अधिक अभिव्यक्ति दी और यह माना कि शरीर आत्मा का बंधन है और संसार दुःखों का सागर, अतः उसने शरीर और संसार दोनों से ही मुक्ति को अपनी साधना का लक्ष्य माना। उसकी दृष्टि में जैविक एवं सामाजिक मूल्य गौण रहे और अनासक्ति, वैराग्य और आत्मानुभूति से प्राप्त मोक्ष को ही सर्वोच्च मूल्य माना गया। इसके विपरीत वैदिक परम्परा ने सांसारिक जीवन को वरेण्य मानकर जैविक एवं सामाजिक मूल्यों अर्थात् जीवन के रक्षण एवं पोषण के प्रयत्नों के साथ-साथ पारस्परिक सहयोग या सामाजिकता को प्रधानता दी।

ज्ञातव्य है कि वेदों में वैराग्य एवं मोक्ष की अवधारणा गौण है जबकि वह श्रमणधारा का केन्द्रीय तत्त्व है। इस प्रकार ये दोनों धाराएँ दो भिन्न जीवन-दृष्टियों को लेकर प्रवाहित हुई हैं। परिणाम स्वरूप इनके साहित्य में भी इन्हीं भिन्न-भिन्न दृष्टियों का प्रतिपादन पाया जाता है।^१

आगम शब्द की अनेक परिभाषाएँ की गयी हैं। विद्वानों ने अपने-अपने विचार से इसकी व्युत्पत्ति बतलायी है। आचार्यों ने आगम शब्द की जो परिभाषाएँ दी हैं, वे कुछ निम्न प्रकार हैं— 'आगम' शब्द अ उपसर्ग पूर्वक 'गम्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'अ' अर्थात् पूर्ण और 'गम्' अर्थात् 'गति' है। आया हुआ या निकले हुए शास्त्र को आगम कहते हैं। वसुन्दी के श्रावकाचार में आप्त के उपदेश को आगम कहते हैं— 'आप्तव्याहतिरागमः'। आप्त उसे कहते हैं, जिसने राग-द्वेष, मोहादि दोषों का निःशेष रूपेण क्षय होने से सर्वज्ञ, वीतराग और सर्वदर्शी अवस्था प्राप्त कर ली है। स्याद्वादमंजरी के अनुसार (आप्तिर्हि राग-द्वेष मोहाना-मैकातिक आत्यंतिकश्च क्षयः सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः) "आ-समन्ताद् गम्यते वस्तु तत्त्वमनेनेत्यागमः" अर्थात् जिससे वस्तु तत्त्व का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है। रत्नकरावतारिकावृत्ति में कहा गया है— "आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः" अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है।"

उपासकाध्ययन श्लोक १०० में कहा गया है— "हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्ग-समाश्रयात्। कालत्रय-गतानर्थान् गमयन्नगमः स्मृतः ॥

अर्थात् हेय और उपादेय रूप से धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप चतुर्वर्ग के समाश्रय से त्रिकालगत अर्थों का जो ज्ञान कराये वह 'आगम' कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि के देवकांड में आगम की परिभाषा करते हुए कहा है—

"राद्धसिद्धकृतेभ्योऽन्त आप्तोक्तिः समयागमौ ॥"

—श्लोक—१५६

आगम विशिष्ट ज्ञान है जो प्रत्यक्ष ज्ञान से जुड़ा हुआ है, दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आवरक हेतुओं या कर्मों के अपगम से जिनका ज्ञान सर्वथा निर्मल एवं शुद्ध हो गया, अविस्वादी हो गया, ऐसे आप्त पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का संकलन आगम है। इसी तरह प्रमाणनयतत्त्वालोक

"आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। उपचारादाप्त वचनं च ॥

—४-१२

"आगच्छतीति आगमः"—जो परम्परा से प्राप्त हो उसे आगम कहा जाता है। इस प्रकार परम्परानुसार आगम अनादि है। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में इसका नवीकरण होता है। जो तीर्थंकर द्वारा दिये गये उपदेश का सूत्र रूप है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में सूत्र (आगम) निरूपण करते हुए लिखा है—

"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।"

सासणस्स हियट्ठाय, तओ सुत्तं पवत्तेइ ॥

गाथा १५६, भाग १

अर्थात् अर्हत् अर्थ भासित करते हैं। गणधर धर्मशासन या धर्मसंघ के हितार्थ निपूणतापूर्वक सूत्ररूप में उसका ग्रंथन करते हैं। इस प्रकार सूत्र का प्रवर्तन होता है।

इस प्रकार वर्तमान में उपलब्ध आगम साहित्य अर्थरूप से इस अवसर्पिणी काल के चौबीसवें और अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित वाणी है। जबकि शब्द रूप में गणधरों द्वारा सूत्र रूप में रचित माने जाते हैं। किन्तु यह बात केवल अंग प्रविष्ट आगमनों के विषय में ही कही गयी है। जैन परम्परानुसार केवल द्वादश अंग ही आगम ग्रंथ के अंतर्गत नहीं है। इसके अतिरिक्त उपांग, छेद-सूत्र, मूल-सूत्र, प्रकीर्णक आदि भी आगम रूप में मान्य हैं, जो गणधरों द्वारा संकलित न होकर विभिन्न स्थविरों, आचार्यों, प्रत्येक बुद्धों, श्रुतकेवलियों तथा दसपूर्वियों द्वारा दिये गये उपदेश के रूप में संकलित हैं। सम्यक् रूप से आगम रूप में किन ग्रंथों का ग्रहण किया जाता है, वह निम्न गाथा से स्पष्ट है—

“सुत्तं गणहर कथिदं, तहेव पत्तेयबुद्ध कहिदं च।

सुद केवलिणा कहिदं, अभिण्णदसपुव्व कहिदं ॥^२

अर्थात् सूत्र वह है जिसका कथन गणधर, प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दस पूर्वी ने किया हो। इसके अलावा विभिन्न स्थविरों द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों पर संकलित ग्रंथों की भी आगम के रूप में गणना की जाती है। इसे ‘प्रकीर्णक’ कहा जाता है।

परवर्ती काल में आचार विषयक तथा अन्य कारणों से मतवैभिन्न होने के कारण जैन धर्म दो भागों में विभक्त हो गया— दिगम्बर सम्प्रदाय और श्वेताम्बर सम्प्रदाय। फिर आगम विषयक मान्यताएँ भी दोनों सम्प्रदायों की अलग-अलग हो गयी। दिगम्बर सम्प्रदाय के मान्यतानुसार शेष आगम साहित्य का लोप हो गया। केवल बारहवें अंग आगम दृष्टिवाद के अंशमात्र मुनि परम्परा में सुरक्षित माने गये। ये हैं—षट्खण्डागम, जिसका विषय स्रोत दृष्टिवाद के अंतर्गत द्वितीय आग्रायणी नामक पूर्व के चयनलब्धि नामक पाँचवें अधिकार का चौथा कर्म प्रकृति पाहुड है। इसकी वाचना आचार्य धरसेन के संरक्षण में पुष्पदंत और भूतबलि- आचार्य द्वय ने दी तथा दूसरा दृष्टिवाद के ही पाँचवे ज्ञानप्रवाद नामक पूर्व स्थित दशम वस्तु का तीसरा अधिकार ‘कसाय पाहुड’ है। इस ग्रन्थ के वाचक आचार्य गुणधर हैं। इन्होंने नागहस्ती और आर्य मंशु को इसका व्याख्यान किया था।

षट्खण्डागम छः खण्डों में विभक्त है— १. जीवट्टाण २. खुद्दाबन्ध ३. बंधसामित्त विचय ४. वेदनाखण्ड ५. वग्गणाखण्ड और ६. महाबन्ध।

कसायपाहुड में कुल सोलह अधिकार हैं— १. पेज्जदोसविभत्ति २. पयडिविभत्ति ३. स्थितिविभत्ति ४. अनुभागविभत्ति ५. प्रदेश विभत्ति झीणाझीणास्थित्यन्तिक ६. बंधक ७. बंधक ८. चतुःस्थान ९. चतुःस्थान १०. व्यंजन ११ दर्शनमोहोपशमना १२. दर्शनमोहक्षपणा १३. संयमासंयमलब्धि १४. संयमलब्धि १५. चरित्रमोहोपशमना तथा १६. चारित्रमोहक्षपणा।

इसके अतिरिक्त दिगम्बर सम्प्रदाय में आचार्य कुन्दकुन्द, वट्टकेर आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रंथों को भी आगमसम मानकर आगम रूप में ग्रहण कर लिया गया। दिगम्बर आगम साहित्य की रचना शौरसेनी प्राकृत में की गयी अतः इसकी भाषा शौरसेनी मान्य हुई।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्यतानुसार जब आगम ज्ञान लुप्त होने लगा, तब भिन्न-भिन्न काल और स्थानों में इसकी तीन (कुछ मान्यता के अनुसार चार) वाचनाएँ हुईं। इनमें आगम ज्ञान को पुनः संकलित किया गया। परम्परागत मान्यता है कि भगवान महावीर के निर्वाण के कुछ काल पश्चात् मगध में द्वादशवर्षीय अकाल पड़ा। जिसके कारण वहाँ का मुनि संघ छिन्न-भिन्न हो गया। कुछ मुनि काल-कवलित हो गये तथा कुछ दक्षिण की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर उनमें से बचे हुए मुनि पुनः पाटलिपुत्र में एकत्र हुए। उस समय यह पता चला कि आगम ज्ञान अंशतः विस्मृत और विश्रृंखलित हो गया है। अतः वहाँ आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ। इस सम्मेलन का सर्वप्रथम उल्लेख तित्थोगाली की गाथा ७१५ से ८०२ में प्राप्त होता है। उसके बाद रचित अनेक ग्रंथों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे— आचारांग चूर्ण भाग २, पृ०-१८७, परिशिष्ट पर्व सर्ग ९ श्लोक- ५५-६९ आदि। इस प्रकार ग्यारह अंग आगम संकलित किये गये। यह घटना भगवान महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष बाद की है। इसमें बारहवें अंग दृष्टिवाद तथा उसमें अंतर्निहित पूर्व साहित्य का संकलन नहीं किया जा सका, क्योंकि इसके ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में साधना कर रहे थे। मुनि संघ की प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलभद्र के साथ पाँच सौ मुनियों को पूर्वों की वाचना देना स्वीकार किया। पर वाचना और अध्ययन कठिन होने के कारण एक-एक कर सभी मुनि वापस चले गये। केवल स्थूलभद्र ही वाचना प्राप्त करने में सक्षम हो पाये। किन्तु कारण विशेष से वे भी दस पूर्वों का ही अध्ययन अर्थसहित कर सके, शेष चार पूर्वों का मात्र शाब्दिक ज्ञान ही उन्हें प्राप्त हो सका। इसका कारण यह था कि एक बार स्थूलभद्र की सात बहनें, जो साध्वी थी, स्थूलभद्र का दर्शन करने आयीं। स्थूलभद्र (जो दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करके लब्धिधारी मुनि हो गये थे) ने अपनी लब्धि से बहनों को आता जानकर सिंह का रूप धारण कर लिया। बहनें सिंह देखकर डर गयीं और वापस भद्रबाहु से सारा हाल कह सुनाया। भद्रबाहु ने स्थिति को समझते हुए उन्हें दोबारा भेजा तो वहाँ स्थूलभद्र उपस्थित थे। भविष्य में इन लब्धि सम्पन्न पूर्वों का दुरुपयोग भाँपकर आचार्य भद्रबाहु ने शेष चार पूर्वों का ज्ञान देने से इन्कार कर दिया। स्थूलभद्र द्वारा काफी प्रार्थना व प्रत्यालोचना करने पर आचार्य ने शेष चार पूर्वों का केवल शाब्दिक ज्ञान ही दिया अर्थ नहीं, स्थूलभद्र भविष्य के साधुओं को यह ज्ञान नहीं दे सकते थे। इन्हीं आचार्य स्थूलभद्र की ही अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में हुई थी।

आगमों की द्वितीय वाचना के बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि यह उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर वीर निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात् सम्राट खारवेल के समय में आयोजित की गयी थी। इसका आधार हाथी गुंफा अभिलेख को माना जाता है, पर इस विषय में स्पष्टता नहीं है। हाथीगुंफा अभिलेख की चौदहवीं, पंद्रहवीं एवं सोलहवीं पंक्ति से केवल इतना ज्ञान होता है कि सम्राट खारवेल ने अपने शासन के तेरहवें वर्ष में एक बड़ा जैन सम्मेलन बुलाया था, जिसमें पूरे भारत के जैन यात्रियों, तपस्वियों, ऋषियों तथा पण्डितों को बुलाया गया था। जैन संघ ने खारवेल को खेम राजा, भिक्षुराजा और धर्मराजा की उपाधि प्रदान की। इस शिलालेख में आगम वाचना का कोई उल्लेख नहीं है। यदि आगमों

की यहाँ वाचना हुई होती, तो इसके लिए मुनि सम्मेलन से भी अधिक व्यापक व्यवस्था करनी पड़ती और फिर ऐसा असम्भव है कि इतनी महत्वपूर्ण घटना इस शिलालेख के उत्कीर्ण होते समय लिखने से छूट जाये।

यदि कुमारी पर्वत वाले मुनि सम्मेलन को वाचना न मानें तो दूसरी वाचना मथुरा में आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में वीर निर्वाण ८२७ वर्ष अर्थात् ई० सन् की तीसरी शताब्दी के अंत में सम्पन्न हुई। इसे माथुरी वाचना भी कहा जाता है। माथुरी वाचना के सम्बन्ध में दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दिचूर्णि में हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में शेष रहे मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिक सूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया। दूसरी मान्यतानुसार इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुआ, किन्तु अनुयोगधर स्वर्गवासी हो गये थे। अतः एकमात्र जीवित अनुयोगधर आर्य स्कंदिल ने अनुयोगों का पुनः प्रवर्तन किया। इस माथुरी वाचना में सम्मिलित होने वाले मुनि उत्तर, पूर्व और मध्य क्षेत्र में विहार करने वाले थे। इसी काल में दक्षिण-पश्चिम में विचरण करने वाला मुनिसंघ आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी (सौराष्ट्र) में एकत्रित हुआ और वहाँ भी आगमों का संपादन हुआ, जिसे नागार्जुनीय वाचना भी कहा जाता है। वर्तमान में इस वाचना के कोई विशेष आगम या प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यदि इस वाचना के अस्तित्व को मान लिया जाये तो यह तीसरी वाचना हुई।

चौथी वाचना वीर निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् आचार्य देवर्द्धिगणिकक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में सम्पन्न हुई। इस वाचना में आगमों का सम्पादन कर उसे लिखित रूप प्रदान किया गया। इसमें पूर्व की वल्लभी और माथुरी- इन दोनों वाचनाओं के पाठों को सम्मिलित किया गया तथा मतभेद परिलक्षित होने पर “नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति” एवं “वायणान्तरे पुण” लिखकर नागार्जुनीय पाठ को सम्मिलित किया गया। इन वाचनाओं में केवल ग्यारह अंगों को ही संपादित व संकलित किया जा सका। शेष उपांग आदि के विषय में कुछ भी निर्देश प्राप्त नहीं होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अंग बाह्य आगम उस समय नहीं थे। श्वेताम्बर मान्यतानुसार अंगबाह्य आगमों की रचना पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना के पहले ही हो चुकी थी क्योंकि वीर निर्वाण के ६४ वर्ष पश्चात् ही शय्यसंज्ञ, जैन श्रमण बने और वीर निर्वाण ७५ में आचार्य बने। उन्होंने अपने अल्प आयुष्य पुत्र मन्वक के निमित्त आत्मप्रवाद नामक पूर्व से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया। वीर निर्वाण के ८० वर्ष बाद इस महत्वपूर्ण सूत्र की रचना हुई। स्वयं भद्रबाहु ने भी छेद-सूत्रों की रचना की थी। पर इनके वाचना के संबन्ध में कोई संकेत नहीं है। पंडित दलसुख मालवणिया का अभिमत है कि आगम या श्रुत उस युग में अंग ग्रंथों तक ही सीमित था। बाद में चलकर श्रुत साहित्य का विस्तार हुआ और आचार्य कृत ग्रंथ भी आगम की कोटि में रखा गया। यद्यपि उपांग आदि में संकलित ग्रंथ परवर्ती काल की रचना हैं।

पाटलिपुत्र की वाचना के सम्बन्ध में दिगम्बरों के प्राचीन साहित्य में भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। यद्यपि दोनों परम्पराएँ भद्रबाहु को अपना आराध्य मानती हैं। इस वाचना भाषा अर्धमागधी थी। वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगम साहित्य अंतिम काल का है।

६ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

वाचना के हैं। यह आगम साहित्य जैन धर्म-दर्शन और साधना का आधार है। यह श्वेताम्बर आगम साहित्य ईसा पूर्व पाँचवीं सदी से लेकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक के जैन धर्म के इतिहास का मूलस्रोत है।

(क) आगम साहित्य और प्रकीर्णक

नदी-सूत्र में आगमों का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है—

१. अंग प्रविष्ट और २. अंग बाह्य। परम्परागत अवधारणा यह है कि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट और गणधरों द्वारा रचित ग्रंथ अंग प्रविष्ट आगम है। अंग बाह्य वे ग्रंथ हैं, जो जिन वचन के आधार पर स्थविरों द्वारा लिखे गये हैं। अंग प्रविष्ट ग्रंथों में बारह अंगों को समाहित किया गया है। बारह अंग इस प्रकार हैं— १. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञाताधर्मकथा ७. उपासकदशा ८. अंतकृद्दशा ९. अनुत्तरोपपातिकदशा १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद।

नदी सूत्र में अंगबाह्य आगमों को भी प्रथमतः दो भागों में विभक्त किया गया है— आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक के अंतर्गत— सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग तथा प्रत्याख्यान— ये छः ग्रंथ गृहीत हैं तथा आवश्यक व्यतिरिक्त को पुनः कालिक और उत्कालिक दो भागों में विभाजित किया गया है। इनमें कालिक में ३१ ग्रंथों का समावेश है। जो इस प्रकार हैं—

१. उत्तराध्ययन २. दशाश्रुतस्कन्ध ३. कल्प ४. व्यवहार ५. निशीथ ६. महानिशीथ ७. ऋषिभाषित ८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ९. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति १०. चन्द्रप्रज्ञप्ति ११. क्षुल्लिकाविमान-प्रविभक्ति १२. महल्लिकाविमान प्रविभक्ति १३. अंगचूलिका १४. वगचूलिका १५. विवाहचूलिका १६. अरुणोपपात १७. वरुणोपपात १८. गरुडोपपात १९. धरणोपपात २०. वैश्रमणोपपात २१. वेलन्धरोपपात २२. देवेन्द्रोपपात २३. उत्थानश्रुत २४. समुत्थानश्रुत २५. नागपरिज्ञापनिका २६. निरयावलिका २७. कल्पिका २८. कल्पावर्तसिका २९. पुष्पिका ३०. पुष्पचूलिका और ३१. वृष्णिदशा।

उत्कालिक सूत्र के अंतर्गत जो ग्रंथ रखे गये, वे इस प्रकार हैं— १. दशवैकालिक २. कल्पिकाकल्पिक ३. चुल्लकल्पश्रुत ४. महाकल्पश्रुत ५. औपपातिक ६. राजप्रश्नीय ७. जीवाभिगम ८. प्रज्ञापना ९. महाप्रज्ञापना १०. प्रमादाप्रमाद ११. नन्दी-सूत्र १२. अनुयोगद्वार १३. देवेन्द्रस्तव १४. तंदुलवैचारिक १५. चन्द्रकवेध्यक १६. सूर्यप्रज्ञप्ति १७. पौरुषीमण्डल १८. मंडलप्रवेश १९. विद्याचरणविनिश्चय २०. गणिविद्या २१. ध्यानविभक्ति २२. मरणविभक्ति २३. आत्मविशोधि २४. वीतरागश्रुत २५. संलेखनाश्रुत २६. विहारकल्प २७. चरणविधि २८. आतुरप्रत्याख्यान और २९. महाप्रत्याख्यान

वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा के उप सम्प्रदायों में आगमों की संख्या के विषय में मतभेद है। स्थानकवासी तथा तेरापंथ सम्प्रदाय ३२ आगमों को मान्य करते हैं जबकि मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में ४६ आगम मान्य है। वर्तमान में जो आगमों का वर्गीकरण किया गया है वह वर्गीकरण सर्वप्रथम बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के ग्रंथ विधिमार्गप्रपा में प्राप्त होता है। जो इस प्रकार है— अंग, उपांग, छेद-सूत्र, मूल-सूत्र और प्रकीर्णक। यहाँ मूर्तिपूजक

सम्प्रदाय द्वारा मान्य ४६ आगमों का विवरण प्रस्तुत है ।

१. बारह अंग- इनमें अंग प्रविष्ट आगमों की सूची के सभी बारह ग्रंथ शामिल हैं ।
अंगबाह्य आगमों का विभाजन निम्न प्रकार से है-

२. उपांग (बारह)- १. औपपातिक २. राजप्रश्नीय ३. जीवाभिगम ४. प्रज्ञापना ५. सूर्यप्रज्ञप्ति ६. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति ८. निरयावली ९. कल्पावर्तसिका १०. पुष्पिका ११. पुष्पचूला और १२. वृष्णिदशा ।

३. छेद सूत्र (छः)- १. निशीथ २. महानिशीथ ३. व्यवहार ४. दशाश्रुतस्कन्ध ५. बृहत्कल्प एवं ६. पंचकल्प ।

४. मूल-सूत्र (छः)- १. उत्तराध्ययन २. दशवैकालिक ३. व्यवहार ४. पिंडनिर्युक्ति ५. नंदी तथा ६. अनुयोगद्वार ।

५. प्रकीर्णक (दस)- १. चतुःशरण २. आतुरप्रत्याख्यान ३. महाप्रत्याख्यान ४. भक्त परिज्ञा ५. तंदुलवैचारिक ६. संस्तरक ७. गच्छाचार ८. गणिविद्या ९. देवेन्द्रस्तव और १०. मरणसमाधि ।

इसके अतिरिक्त किसी जैन मुनि ने पाटन, खंभात, भड़ौच आदि भंडारों में उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर बृहट्टिप्पणिका नामक जैन ग्रंथ-सूची तैयार की है, जिसमें ८४ आगमों का उल्लेख किया है । वह इस प्रकार है- ११ अंग, १२ उपांग, ५ छेदसूत्र (पंचकल्प को छोड़कर), ५ मूलसूत्र (पिंडनिर्युक्ति को छोड़कर), ३० प्रकीर्णक, १२ निर्युक्ति, ८ अन्य ग्रंथ (१. कल्पसूत्र २. जीतकल्प, ३. यतिजीतकल्प, ४. श्राद्धजीतकल्प, ५. पाक्षिक, ६. खामणा, ७. वंदित्तु एवं ८. ऋषिभाषित) तथा जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण का विशेषावश्यक भाष्य ।

इनमें उपरोक्त दस प्रकीर्णकों के अतिरिक्त २० अन्य प्रकीर्णक निम्नलिखित हैं- १. चन्द्रवेध्यक २. वीरस्तव, ३. अजीवकल्प ४. सिद्धप्राभृत ५. तिर्थोद्गालिक ६. आराधनापताका, ७. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ८. ज्योतिषकरण्डक, ९. अंगविद्या, १०. तिथिप्रकीर्णक, ११. पिंडनिर्युक्ति, १२. सारावली, १३. पर्यताराधना, १४. जीवविभक्ति, १५. कवच, १६. योनिप्राभृत, १७. अंगचूलिका, १८. बंगचूलिका, १९. वृद्धचतुःशरण तथा २०. जंबूपयन्ना ।

ध्यातव्य है कि नंदीसूत्र में उपलब्ध आगमों की सूची से वर्तमान की सूची में अंगबाह्य आगमों में काफी अन्तर आ गया । कुछ नये ग्रंथ समाहित हैं तथा कुछ ग्रंथों को छोड़ा गया है । यह बदलाव किस कारण आया ? अनुत्तरित है ।

इन आगमों में से कई अत्यन्त प्राचीन माने जाते हैं और इनका लिखित रूप वीर निर्वाण के लगभग ९८० वर्ष पश्चात् वल्लभी में देवद्विगणिक्रमाश्रमण के नेतृत्व में हुई वाचना में ही सामने आ गया, फिर भी अनेक आगम बाद की रचना है । यहाँ आगमों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है ।

(क) अंग-

बारह अंगों का परिचय निम्न प्रकार है-

१. आचारांग—यह सम्पूर्ण आगम साहित्य में सर्वप्रथम है। अपने नाम के अनुसार ही यह मुनियों के आचार-व्यवहार आदि को प्रतिपादित करता है। आचारांग दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्याय हैं, जो ४४ उद्देशकों में विभक्त हैं, यह श्रुतस्कन्ध भाषा शैली की दृष्टि से सबसे प्राचीन है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध तीन चूलिका और १६ अध्ययनों में विभक्त है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के 'सत्थ परिज्ञा' नामक प्रथम अध्ययन में षट् जीवनिकाय' का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु को भी जीव मानकर मुनियों के लिए इनकी सूक्ष्म और स्थूल हिंसा का निषेध किया गया है। दूसरे 'लोक विजय' नामक अध्ययन में ६ उद्देशक हैं। इसमें लोक अर्थात् संसार के मूल कारण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों पर विजय प्राप्त करने को लक्ष्य बनाया गया है। तीसरा 'शीतोष्णीय' चार उद्देशक में विभाजित है। इसमें शीत अर्थात् शीतलता या सुख और उष्ण अर्थात् परिताप या दुःख का वर्णन करते हुए, सम्यक्त्वी को इन दोनों के त्याग का उपदेश दिया गया है। चौथे 'सम्यक्त्व' नामक अध्ययन में भी चार उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में अहिंसा की स्थापना तथा सम्यक्त्ववाद का निरूपण किया गया है। द्वितीय उद्देशक में सम्यक्ज्ञान को अहिंसा सिद्धान्त की परीक्षा का साधन बताया गया है तथा सम्यक्ज्ञान का निरूपण किया गया है। तीसरे उद्देशक में अक्रोध, अलोभ, क्षमा, संतोष आदि गुणों की वृद्धि करने वाले सम्यक् तप का विवेचन किया गया है तथा चौथे उद्देशक में सम्यक् तप की प्राप्ति के लिए सम्यक् चारित्र्य का उपदेश निहित है। पाँचवें 'लोकसार' नामक अध्ययन में छः उद्देशक हैं। इसका दूसरा नाम 'यावन्ति' भी है। इसमें वर्ण्य विषय, निम्न प्रकार हैं—काम, वासना, हिंसा, आसक्ति और विषयों के लोभ को छोड़ने वाला ही मुनि है। कोई भी एकाचारी साधु जो अतिक्रोधी, अतिमानी, अतिमायावी, अतिलोभी, अतिआसक्त, अनाचारी हो वह धर्म से हीन होता है। संक्षेप में इसमें श्रमणों के सामान्य आचार-व्यवहारों का प्रतिपादन किया गया है। छठे अध्ययन का नाम 'धूत' है। इसमें पाँच उद्देशक हैं। धूत का अर्थ है— धोना, दूर करना या साफ करना। इस अध्ययन में आत्मा को मलिन बनानेवाले काम, तृष्णा, लोभ, मोह आदि दोषों को दूर करने का उपदेश दिया गया है। धूत का दूसरा अर्थ है— प्रकम्पिक और पृथक्कृत। सातवें अध्ययन का नाम 'महापरिज्ञा' है। वर्तमान में यह अध्ययन लुप्त है, पर इस पर लिखी निर्युक्ति प्राप्त होती है। निर्युक्तिकार ने इसके विषय का संकेत करते हुए बताया है कि साधक को स्त्री-परिषह एवं उपसर्ग को तथा इसी प्रकार के अन्य मोहजन्य परिषहों व उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने एवं सहने में तत्पर रहना चाहिए।

इस अध्ययन के विलुप्त होने के कारण का उल्लेख करते हुए पंडित बेचरदास दोशी लिखते हैं कि— यह हो सकता है कि महावीर कृत आचार-विधानों में ब्रह्मचर्य अर्थात् त्रिविध स्त्री (देव, मनुष्य, तिर्यच) संसर्ग का त्याग प्रधान है। परम्परा से चले आये चातुर्याम महाव्रतों में भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अलग से जोड़ा। इससे पता चलता है कि भगवान महावीर के समय में एतद् विषयक कितनी शिथिलता रही होगी। इसी

प्रकार के उग्र शैथिल्य एवं आचार पतन के युग में कोई विघ्न संतोषी इस अध्ययन के लोप में कदाचित् निमित्त बना हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इस अध्ययन में सात उद्देशक थे। आठवें अध्ययन के नाम हैं— “विमोक्ष” या विमोह। अध्ययन के मध्य में “इच्चेयं विमोहाययणं” तथा “अणुपुव्वेणं विमोहाइं” व अध्ययन के अन्त में “विमोहन्नहारं हियं”— में स्पष्ट रूप में ‘विमोह’ शब्द का उल्लेख है। यह शब्द प्रयोग अध्ययन के नामकरण में निमित्तभूत मालूम पड़ता है। विमोक्ष अर्थ है— अलग हो जाना। साथ में न रहना और विमोह का अर्थ है— मोह न रखना, संसर्ग न रखना। इस अध्ययन में आठ उद्देशक हैं। इसमें साधु को अन्य तीर्थिकों से बचने एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में जीवन का मोह छोड़ कर शरीर त्याग देने का उपदेश निहित है। नवें अध्ययन का नाम “उपहाण सुत्त” (उपधान-श्रुत) है। इसमें भगवान् महावीर की गंभीर ध्यानमय व घोर तपमय साधना का वर्णन है। उपधान शब्द तप के पर्याय के रूप में जैन प्रवचन में प्रसिद्ध है। इसलिए इसका नाम उपधान श्रुत रखा गया प्रतीत होता है। इसमें चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में दीक्षा लेने के बाद भगवान् महावीर को जो कुछ उपसर्ग व परिषह सहन करने पड़े, उनका वर्णन है। उन्होंने सभी प्रकार की हिंसा का त्याग कर अहिंसामय चर्या स्वीकार की। द्वितीय एवं तृतीय उद्देशक में भगवान् ने कैसे-कैसे स्थानों में निवास किया एवं वहाँ उन्हें कैसे-कैसे परिषह सहन करने पड़े, यह बताया गया है। चतुर्थ उद्देशक में भगवान् ने किस प्रकार तपश्चर्या की, भिक्षाचर्या में क्या-क्या एवं कैसा-कैसा शुष्क भोजन लिया। कितने समय तक पानी पिया व न पिया इत्यादि का वर्णन है। आचारांग का दूसरा नाम “आइण्ण” भी रखा गया है। आइण्ण का अर्थ है आचीर्ण अर्थात् आचरित। आचारांग के प्रथम श्रुत स्कन्ध के नौ अध्ययनों में कुल ५१ उद्देशक हैं। इनमें से सातवें महापरिज्ञा के सातों उद्देशकों का लोप हो जाने के कारण वर्तमान में ४४ उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिकाओं में विभक्त है। इसमें चार चूलिकाएँ तो आचारांग में ही हैं। किन्तु पाँचवीं चूलिका विशेष विस्तृत होने के कारण आचारांग से भिन्न कर दी गयी है जो निशीथसूत्र के नाम से अलग ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। इसकी गणना कालिक सूत्रों के अंतर्गत की जाती है। इसकी चार चूलिकाओं में से प्रथम चूलिका में निम्न सात अध्ययन हैं— १. पिंडैषणा २. शय्यैषणा ३. ईर्यैषणा ४. भाषाजातैषणा ५. वस्त्रैषणा ६. पात्रैषणा ७. अवग्रहैषणा। द्वितीय चूलिका के भी सात अध्ययन हैं— १. स्थान २. निषीधिका ३. उच्चारप्रस्त्रवणा ४. शब्द ५. रूप ६. परक्रिया ७. अन्योन्य क्रिया। तृतीय चूलिका में भावना नामक एक ही अध्ययन है। चतुर्थ चूलिका में भी एक ही अध्ययन है— जिसका नाम विमुक्ति है। इस प्रकार चारों चूलिकाओं में कुल सोलह अध्ययन है। ऐसा मालूम होता है कि निर्युक्तिकार ने इन अध्ययनों का नाम इनमें वर्णित विषयों का ध्यान में रखकर किया है। समस्त अध्ययनों के नामों का विवेचन निक्षेपपद्धति से किया गया है।

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें ‘विमोह’ नामक अध्ययन का आठवाँ तथा नवमा ‘उपधानश्रुत’ नामक अध्ययन पद्यमय है। इसके अतिरिक्त द्वितीय अध्ययन लोकविजय,

तृतीय अध्ययन शीतोष्णीय एवं षष्ठ अध्ययन धूत में भी कुछ पद्य हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की तृतीय चूलिका में दो चार जगह पद्य हैं तथा चतुर्थ चूलिका पूर्णतः पद्यमय है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में कुल पैंतीस पद्य हैं।

२. सूत्रकृतांग— द्वितीय अंग आगम सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सोलह तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं। कुल मिलाकर तेईस अध्ययन हैं। समवायांग में निर्दिष्ट विषयों की सूची में सूत्रकृतांग में स्वमत-परमत की चर्चा प्रथम श्रुतस्कन्ध में संक्षेप में तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध में विस्तार से वर्णित है।

इसमें से प्रथम अध्ययन का नाम 'समय' है। समय का अर्थ यहाँ सिद्धान्त है। इसमें परसमय का खंडन करते हुए स्वसमय का निरूपण किया गया है। इसमें चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में बंध और बंध का कारण, भौतिकवाद, अक्रियावाद, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन का खण्डन किया गया है। दूसरे उद्देशक में भाग्यवाद, भौतिकवाद, क्रियावाद व बौद्ध-दर्शन का वर्णन है। तीसरे उद्देशक में मुनि के ग्राह्य-अग्राह्य, आहार, पौराणिक मत, गोशालक मत व वैनयिक मत का उल्लेख है। चौथे उद्देशक में उपसंहार करते हुए बहुत से प्रचलित मतों पर विचार किया गया है एवं निर्ग्रन्थ को संयम धर्म के आचरण करने का उद्देश्य दिया है। द्वितीय अध्ययन "वैतालिय" के तीन उद्देशक हैं। इनमें राग, द्वेष, हिंसा आदि रूप संस्कारों के विनाश के उपाय बताए गए हैं। तृतीय अध्ययन 'उपसर्ग परिज्ञा' है। साधक को अपनी साधना में अनेक प्रकार के उपसर्गों का सामना करना पड़ता है। साधना काल में आने वाले विघ्नों, बाधाओं, विपत्तियों को उपसर्ग कहते हैं। सामान्य रूप से इस अध्ययन में साधुचर्या का और उसमें आने वाले उपसर्गों के निवारण का निरूपण किया गया है। चतुर्थ अध्ययन 'स्त्री परिज्ञा' है। स्त्री परिज्ञा का अर्थ है— स्त्रियों के स्वभाव का सब तरह से ज्ञान। इसमें दो उद्देशक हैं। प्रथम में इकतीस और द्वितीय में बाईस गाथाएँ हैं। पंचम अध्ययन 'नरक विभक्ति' है। इसमें यह बताया गया है कि स्वीकृत उपसर्गों में फँसने वाला व्यक्ति नरकगामी बनता है और फिर नरकों में उसे अनेक प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। हिंसा, चोरी, असत्य आदि से व्यक्ति नरकगामी होता है। इसलिए मनुष्य को इन सबका त्याग करना चाहिए। छठें अध्ययन का नाम 'वीरस्तव' है। इसमें भगवान् महावीर की स्तुति उनके विभिन्न विशेषणों के साथ की गयी है। सातवाँ अध्ययन 'कुशील' है। इसमें आचारहीन व्यक्ति को कुशील कहकर उनके द्वारा स्थापित सिद्धान्तों का खंडन किया गया है। आठवाँ अध्ययन 'वीर्य' है। इसमें वीर्य-पराक्रम का विवेचन है। वीर्य दो प्रकार के बताये गये हैं— १. अकर्म वीर्य (पंडित वीर्य) और कर्म वीर्य (बाल वीर्य) अकर्म वीर्य से अनन्त सुख प्राप्त होता है और कर्म वीर्य संसार का कारण है। नौवें अध्ययन का नाम 'धर्म' है। इसमें साधुओं को किन-किन दोषों से बचना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है तथा संयम का उपदेश दिया गया है। दसवाँ अध्ययन 'समाधि' है। समाधि का अर्थ है, संतोष, अप्रमाद, अथवा आनन्द। द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से समाधि चार प्रकार की है। इस अध्ययन में भाव समाधि का वर्णन करते हुए इसे ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप रूप बताया गया है। ग्यारहवाँ अध्ययन 'मार्ग' है। इसका विषय दसवें अध्ययन से मिलता-जुलता है। इसमें आधार शुद्धि, सदाचार,

संयम, प्राणातिपात-विरमण आदि पर प्रकाश डाला गया है। बारहवाँ 'समवसरण' नामक अध्ययन यहाँ समवसरण का अर्थ देवकृत नहीं, अपितु सम्मेलन या एकत्र होना है। तेरहवाँ अध्ययन 'यथातथ्य' है, इसमें साधु के गुण-दोषों की वास्तविक स्थिति व कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। चौदहवें अध्ययन का नाम 'ग्रंथ' है। ग्रंथ का अर्थ परिग्रह है। इसमें बाह्य और आंतरिक परिग्रह के विभिन्न भेद बतलाकर उनको त्यागने का उपदेश दिया गया है। पंद्रहवें अध्ययन के तीन नाम हैं— आदान या आदानीय, संकलिका अथवा शृंखला और जमतीत अथवा यमकीय। इसमें विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम, वीतराग पुरुष का स्वभाव, संयमी मनुष्य की जीवन-पद्धति आदि का निरूपण किया गया है। सोलहवें अध्ययन का नाम 'गाथा' है। यह प्रथम श्रुतस्कन्ध का अंतिम अध्ययन है। प्रस्तुत अध्ययन में ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। दूसरे श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं— १. पुण्डरीक २. क्रियास्थान ३. आहार परिज्ञा ४. प्रत्याख्यान क्रिया ५. आचारश्रुत या अनगार श्रुत ६. आर्द्रकीय ७. नालंदीय

पुण्डरीक नामक अध्ययन में प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में वर्णित विविध मतों में से कुछ मतों की विस्तार से चर्चा की गयी है। 'क्रियास्थान' नामक दूसरे अध्ययन में विविध क्रियास्थानों का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का अर्थ है— प्रवृत्ति का निमित्त। 'आहार परिज्ञा' नामक तृतीय अध्ययन में समस्त त्रस और स्थावर प्राणियों के जन्म और आहार के संबंध में विवेचन किया गया है, लेकिन कहीं भी देव और नारकों के आहार की कोई चर्चा नहीं है। चतुर्थ अध्ययन का नाम 'प्रत्याख्यान क्रिया' है। प्रत्याख्यान का अर्थ है—अहिंसा आदि मूलगुणों एवं सामायिक आदि उत्तर गुणों के आचरण में बाधक प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग करना। पंचम अध्ययन 'आचारश्रुत' या 'अनगारश्रुत' नाम का है। लोकादि के अस्तित्व पर श्रद्धा न रखना अनाचार है, अतः इन पर श्रद्धा रखने तथा इसके अनुरूप आचरण करने का उपदेश प्रस्तुत अध्ययन में उपलब्ध है। षष्ठ अध्ययन 'आर्द्रकीय' है। इसमें आर्द्रक मुनि और गोशालक के अनुयायी भिक्षुओं, बौद्ध भिक्षुओं एवं वैदिक त्रिदण्डी, एकदण्डी एवं हस्तितापसों के साथ हुए वाद-विवाद का विस्तृत वर्णन है। सातवें अध्याय का नाम 'नालंदीय' है। यह सूत्रकृतांग का अंतिम अध्याय है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमण उदक पेढालपुत्र और गौतम गणधर के बीच हुए संवाद एवं उनका महावीर के तीर्थ में शामिल होने का वर्णन है। इसमें कुछ श्रावकाचार का भी वर्णन मिलता है।

३. स्थानांग— प्रस्तुत अंग में एक श्रुतस्कन्ध और दस अध्ययन हैं। इसमें कुल सात सौ तिरासी सूत्र हैं। यह उपदेशप्रद शास्त्र न होकर संख्याक्रम से जैन सिद्धान्तों के अनुरूप वस्तु संख्या का विवेचन करने वाला ग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव, जीवाजीव, स्व, पर और स्वपर सिद्धान्त, लोक, अलोक और लोकालोक, पर्वत, नदी, द्वीप आदि भौगोलिक, खगोलिक, प्राणि विज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राकृतिक वातावरण आदि से सम्बन्धित वस्तुओं का वर्णन है। इसमें समान संख्या वाले विषयों को एक साथ रखा गया है। पहले अध्ययन में बतलाया गया है कि दर्शन, चरित्र, समय, प्रदेश, परमाणु और आत्मा आदि एक हैं। दूसरे अध्याय में जीव की दो क्रियाएँ, श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य दो भेद, जीव क्रिया

के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व तथा अजीव क्रिया की ईर्यापथ और साम्परायिक- ये दो-दो भेद उल्लिखित हैं। तृतीय अध्ययन में ऋक्, यजु और साम ये तीन वेद- धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ, पत्तोपेत, पुष्पोपेत और फलोपेत ये तीन वृक्ष- नामपुरुष, द्रव्यपुरुष और भावपुरुष; अथवा ज्ञान पुरुष, दर्शनपुरुष और चरित्रपुरुष अथवा उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और जघन्य पुरुष-ये पुरुष के भेद बताये गये हैं। चौथे अध्ययन में ऋषभ और महावीर को छोड़कर शेष बाईस तीर्थकरों को चातुर्याम धर्म का प्रज्ञापक कहा गया है। आजीवक उग्रतप, घोरतप, रस निर्युयणता और जिहेन्द्रिय प्रतिसंलीनता नाम के चार तपों का आचरण करते हैं। क्षमाशूर, तपशूर, दानशूर और युद्धशूर- ये चार प्रकार के शूरवीर हैं। चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और द्वीपसागर प्रज्ञप्ति इन चार प्रज्ञप्तियों का निर्देश है। चार प्रव्रज्या, चार कृषि, चार संघ, चार बुद्धि आदि चार संख्यावली वस्तुओं का विवेचन है। पाँचवें अध्ययन में पाँच महाव्रत, पाँच राजचिह्न एवं जाति, कुल, कर्म, शिल्प और लिंग के भेद से पाँच प्रकार की आजीविकाओं का प्ररूपण है। गंगा, यमुना, सरयू, एरावती और मही नामक पाँच महानदियों का उल्लेख है। छठे अध्ययन में अंवष्ट, कलंद, विदेह, वेदिग, हरित, चुंचुण नामक छः आर्यजातियों का तथा उग्र, भोज, राजन्य, इक्ष्वाकु, गाय और कौरव नामक छह आर्यकुलों का निरूपण है। सातवें अध्ययन में कासव, गौतम, वच्छ, कोच्च, कोसिय, मंडव और वासिट्ट इन सात गोत्रों आदि का उल्लेख है, आठवें अध्ययन में आठ क्रियावादी, आठ महानिमित्त और आठ प्रकार के आयुर्वेद का उल्लेख है, नौवें अध्ययन में नौ निधि तथा महावीर के नौ गणों का निर्देश है। दसवें अध्ययन में चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, हस्तिनापुर, काँपिल्य, मिथिला, कौशाम्बी और राजगृह नामकी दस राजधानियों के नाम गिनाये गये हैं।

४. समवायांग- प्रस्तुत अंग में २७५ सूत्र हैं। इसकी विषय वस्तु स्थानांग से मिलती-जुलती है। इसमें एक अध्ययन, एक श्रुतस्कन्ध, एक उद्देशक और एक समुद्देशक है। स्थानांग के समान ही इसमें भी क्रम संख्या से वस्तुओं का निरूपण किया गया है। इसमें क्रम से वस्तुओं का निरूपण करते हुए २०८ वें सूत्र में यह संख्या दशशत सहस्र (१००००००) और २१० वें सूत्र में कोटा-कोटि तक पहुँच गयी है। एक संख्या में आत्मा, दो में जीव और अजीव राशि, तीन में तीन गुप्ति, चार में चार कषाय, पाँच में पाँच महाव्रत, छह में षट्काय के जीव, सात में सात समुद्धात, आठ में आठ मद, नौ में आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन, दस में दस प्रकार के श्रमण धर्म, ग्यारह में ग्यारह प्रतिमा, ग्यारह गणधर, बारह में बारह भिक्षु प्रतिमा, तेरह में त्रयोदश क्रियास्थान, चौदह में चतुर्दश पूर्व, चतुर्दश गुणस्थान, पन्द्रह में पन्द्रह योग, सोलह में सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन हैं। इस प्रकार यह संख्या बढ़ाते हुए १७८वें सूत्र में १०० पर पहुँच जाती है। इसके पश्चात् २००-३०० आदि क्रम से वस्तु-निर्देश बढ़ता जाता है और १९१ वें सूत्र पर दस हजार पर पहुँच जाता है। २११ वें सूत्र से २१७ वें सूत्र तक आचारांग आदि अंगों के विभाजन और विषय का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। २४६ वें सूत्र से २७५ वें सूत्र तक कुलकर, तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के माता, पिता, जन्मनगरी, दीक्षास्थान आदि का वर्णन है। इन्हीं सूत्रों के अंतर्गत ५४ शलाकापुरुष, मोहनीय

कर्म के ५२ पर्यायवाची नाम, क्रोध, राग-द्वेष, मोह, अक्षम, संज्वलन आदि का वर्णन है। १५० वें सूत्र में गणित, रूप, नाट्य, गीत, वादित्त आदि कलाओं के नाम निर्दिष्ट है। यह श्रुतांग जैन सिद्धान्त और इतिहास की परम्परा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य रूप में है, बीच-बीच में नामावलियाँ एवं अन्य विवरण सम्बन्धी गाथाएँ भी आयी हैं। साहित्यिक ग्रन्थ न होने पर भी अलंकार और कल्पना की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण रचना है। संख्याओं के सहारे पार्श्वनाथ एवं महावीर के पूर्ववर्ती चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनियों का निर्देश भी इस श्रुतांग में पाया जाता है। तीर्थंकरों के चैत्यवृक्षों का निरूपण भी इस ग्रंथ में आया है।

वस्तुतः स्थानांग और समवायांग इन दोनों आगमों का संकलन कोश-शैली में किया गया है। कोश-शैली में रचित ग्रंथ बौद्ध और वैदिक परम्परा में भी प्राप्त होते हैं। बौद्धों में अंगुत्तरनिकाय, पुगलपञ्जति, महाव्युत्पत्ति एवं धर्म संग्रह एवं वैदिक परम्परा में महाभारत के वनपर्व (अध्याय १३४) भी कोश-शैली में ही रचित हैं। परन्तु समवायांग में कई स्थानों पर यह शैली खंडित हुई प्रतीत होती है या विभाग करने में असावधानी हुई है।

५. व्याख्या प्रज्ञप्ति— इस अंग का दूसरा नाम भगवती-सूत्र भी है। प्राकृत में इसका नाम 'विआहपण्णति' है। वृत्तिकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है—

(क) वि+आ+ख्या+प्र+ज्ञप्ति = विविध प्रकार से समग्रतया कथन का प्रकृष्ट निरूपण अर्थात् जिस ग्रन्थ में कथन का विविध प्रकार से निरूपण किया गया हो, वह व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है।

(ख) वि+आख्या+प्रज्ञप्ति = विविधतया कथन का प्रज्ञापन। अर्थात् जिस शास्त्र में विविध रूप से कथन का प्रतिपादन किया गया है, उसका नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है।

(ग) व्याख्या+प्रज्ञा+आप्ति या आत्ति = व्याख्या की कुशलता से आप्त द्वारा प्राप्त होने वाला या ग्रहण किया जाने वाला श्रुत विशेष 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' कहलाता है।

(घ) व्याख्या+प्रज्ञ-आप्ति या आत्ति = व्याख्या करने में प्रज्ञ अर्थात् कुशल भगवान् से गणधर को जिस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो अथवा कुछ ग्रहण करने का अवसर मिले, उसका नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' अथवा व्याख्याप्रज्ञप्ति है।

जीवादि पदार्थों की व्याख्या करने से भी इसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है। इसमें ४१ शतक हैं और प्रत्येक शतक में अनेक उद्देशक हैं। इसमें कुल ८६७ सूत्र हैं। यह ग्रन्थ भगवान् महावीर और उनके प्रथम गणधर गौतम के बीच प्रश्नोत्तर शैली में व्याख्यायित है। इसमें पार्श्वनाथ के सम्प्रदाय का भी उल्लेख है। अनेक जगहों पर यह उल्लेख किया गया है कि पार्श्वनाथ के शिष्यों ने चातुर्याम धर्म का परित्याग कर पंचयाम धर्म को स्वीकार किया। राजनीतिक दृष्टि से इसमें सोलह महाजनपदों का वर्णन है।

प्रथम शतक में मंगलाचरण के पश्चात् राजगृह नगर, गुणशिलक चैत्य, राजा श्रेणिक तथा रानी चेल्लणा का उल्लेख है। तत्पश्चात् अनेक प्रकार के प्रश्न व उनके उत्तर हैं। पर अधिकांश प्रश्नोत्तर, स्वर्गों, सूर्यों, इन्द्रों, असुरकुमारों, असुरकुमारेन्द्रों, उनकी अग्रमहिषियों,

उनके लोकपालों, नरकों आदि से सम्बन्धित हैं। द्वितीय शतक में श्वासोच्छ्वास, समुद्रपात, पृथ्वी, इन्द्रिय, निर्ग्रन्थ, भाषा, देव, सभा, द्वीप, अस्तिकाय आदि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं। तृतीय शतक में विकुर्वणा, चमर, क्रिया, यान, स्त्री अथवा अनगार विकुर्वणा, नगर अथवा अनगार विकुर्वणा, नगर अथवा अनगार वीर्यलब्धि, लोकपाल, अधिपति इन्द्रिय, परिषद का स्वरूप आदि है। चौथे शतक में रवि, अनिल, ग्रन्थिका, शब्द, छद्मस्थ, आयुष्य, एजन, निर्ग्रन्थ, राजगृह एवं चम्पा-चन्द्रमा के विषय में जिज्ञासा और उसका समाधान है। पाँचवें शतक में पार्श्वपत्य स्थविरों की चर्चा आती है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दोनों परम्पराओं के स्थविर उस समय एक दूसरे से अपरिचित थे तथा उनमें मतभेद भी थे। छठे शतक में भी अनेक प्रश्न किये गये हैं। जिनमें केवली से सम्बन्धित एक प्रश्न है कि क्या केवली इन्द्रियों द्वारा जानता है, देखता है। उत्तर है— नहीं। सातवें और आठवें शतक में वनस्पति सम्बन्धी विवेचन है। सातवें शतक में उस समय वैशाली और मगध के बीच लड़े गये दो महायुद्धों का वर्णन है जिसमें लाखों लोगों के मरने की सूचना है। यह युद्ध 'रथमूसल संग्राम' तथा 'शिलाकण्टक संग्राम' के नाम से जाना जाता है। नौवें शतक में जम्बूद्वीप, चन्द्रमा आदि अंतर्द्वीपज, असोच्चा केवली, गांगेय प्रश्नोत्तर, ऋषभदत्त-देवानन्दा प्रकरण, जमालि अनगार एवं पुरुषहन्ता आदि से सम्बद्ध प्रश्नोत्तर आदि के प्रतिपादक चौतीस उद्देशक हैं। दसवें शतक में चौतीस उद्देशकों में मनुष्य जीवन तथा दिव्य जीवन से सम्बन्धित विषय प्रतिपादित हैं। ग्यारहवें शतक में उत्पल, शालूक, पलाश, कुम्भी, नाडीक, पद्म, कर्णिका, नलिन आदि के जीव सम्बन्धी चर्चा, शिवराजर्षि का जीवन वृत्त, लोक में द्रव्यादि के आधार से भेद, सुदर्शन के कालविषयक प्रश्नों एवं महाबल चरित्र तथा आलभिका में प्ररूपित ऋषिभद्र तथा पुद्गल परिव्राजक की धर्मचर्चा और समर्पण बारह उद्देशकों में समाहित है। बारहवें शतक में दस उद्देशक—१. शंख २. जयन्ती ३. पृथ्वी ४. पुद्गल ५. अतिपात ६. राहु ७. लोक ८. नाग ९. देव १०. आत्मा हैं। तेरहवें शतक में दस उद्देशकों द्वारा— १. पृथ्वी २. देव ३. अनन्तर ४. पृथ्वी ५. आहार ६. उपपात ७. भाषा ८. कर्म ९. अनगार १०. समुद्रघात— का प्रतिपादन किया गया है। चौदहवें शतक में भी दस उद्देशकों द्वारा तत्-तत् विषयों का विवेचन है। दस उद्देशक हैं— १. चरम २. उन्माद ३. शरीर ४. पुद्गल ५. अग्नि ६. किमाहार ७. संश्लिष्ट ८. अन्तर ९. अनगार १०. केवली। पन्द्रहवें शतक में मंखलिपुत्र गोशालक का विस्तृत वर्णन है। सोलहवें शतक में चौदह उद्देशक हैं, जिनमें क्रिया, जरा, कर्म, कर्मक्षय, सामर्थ्य देव की विपुल वैक्रियशक्ति एवं ऋद्धि, स्वप्न, उपयोग लोकस्वरूप, बलीन्द्रसभा, अवधिज्ञान तथा भवनपति देवों में आहारादि की समानता-असमानता, आध्यात्मिक, शारीरिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं दैवीशक्ति आदि विविध विषयों का समावेश किया गया है। सत्रहवें शतक में राजा कोणिक के मोक्षगामी मुख्य हाथी तथा संयत आदि की धर्म, अधर्म, धर्माधर्म में स्थिति का, शैलेशी अनगार के द्रव्य-भावकम्पन का, क्रियाओं का, ईशानेन्द्र की सभा, पाँच स्थावरों के उत्पाद एवं आहार ग्रहण, नागकुमार आदि भवनपतियों में आहारादि की समानता-असमानता का १७ उद्देशकों में प्रतिपादन है। अठारहवें शतक में दस उद्देशक हैं— १. 'प्रथम' उद्देशक जीवादि विषयक निरूपण २. विशाखा ३. माकन्द्रिक ४. प्राणातिपाद ५. असुर ६. गुड ७. केवली ८. अनगार ९. भाविक १०. सोमिल। इसमें इनसे सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के

प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। उन्नीसवें शतक में दस उद्देशक— १. लेश्या २. गर्भ ३. पृथ्वी ४. महास्रव ५. चरम ६. द्वीप ७. भवनावास ८. निर्वृत्ति ९. करण १०. वाणव्यन्तर है। बीसवें शतक में भी दस उद्देशक हैं— १. द्वीन्द्रिय २. आकाश ३. प्राणवध ४. उपचय ५. परमाणु ६. अन्तर ७. बन्ध ८. भूमि ९. चरण और १०. सोपक्रम जीव। इक्कीसवें, बाईसवें तथा तेईसवें शतक में विविध प्रकार की वनस्पतियों एवं वृक्षों के विषय में चर्चा है। चौबीसवें शतक में चौबीस उद्देशकों में विभिन्न पदों द्वारा समस्त प्रकार के जीवों का विचार किया गया है। पच्चीसवें शतक में बारह उद्देशक द्वारा जीवों के ही विविध स्वरूप के विषय में चर्चा है। छब्बीसवें शतक 'बंध शतक' में भी कुछ पदों द्वारा जीवों के बद्धत्व की चर्चा है। सत्ताईसवें 'करिसु' शतक में पाप कर्म की चर्चा है। अठाईसवें 'कर्म समर्जन' शतक में कर्मोपार्जन के विषय में चर्चा है। उनतीसवें 'कर्मप्रस्थापक' शतक में कर्मयोग के प्रारम्भ एवं अन्त का विचार है। तीसवें 'समवसरण' शतक में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी एवं विनयवादी की अपेक्षा से समस्त जीवों का विचार किया गया है। इकतीसवें 'उपपात' शतक में पुनः युग्म की चर्चा है। बत्तीसवें 'उद्वर्तना' शतक में भी इसी प्रकार की चर्चा है। तैंतीसवें एवं चौतीसवें शतक में उद्देशक नहीं अपितु बारह उपशतक है। इसमें एकेन्द्रिय जीवों के विषय में चर्चा है। पैतीसवें, छत्तीसवें, सैंतीसवें, अड़तीसवें, उनचालीसवें तथा चालीसवें शतक में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीवों की चर्चा है। इकतालीसवें शतक में युग्म की अपेक्षा से जीवों की विविध प्रवृत्तियों के विषय में चर्चा की गयी है।

६. ज्ञाताधर्मकथा— ज्ञाताधर्मकथा को प्राकृत में णायाधम्मकहाओ कहा जाता है। इसका संस्कृत नाम ज्ञातृधर्मकथा है अर्थात् ज्ञातृपुत्र महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्मकथा। इस ग्रन्थ में संयम, तप और त्याग को उदाहरणों, दृष्टान्तों और लोकप्रचलित कथाओं के द्वारा प्रभावशाली और रोचक शैली में समझाया गया है।

इस अंग में दो श्रुत-स्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञाता उदाहरणरूप १९ अध्ययन तथा दूसरे में धर्मकथाओं के द्वारा धर्म का स्वरूप बतलाया गया है। इसमें १० वर्ग हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रत्येक अध्ययन में एक-एक कथा है और अंत में उस कथा या दृष्टान्त से मिलने वाली शिक्षा बतलायी गयी है। उन्नीस अध्ययनों में कथाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं।

१. मेघकुमार २. धन्ना सार्थवाह और विजय चोर ३. शुद्ध सम्यक्त्व के लिए अण्डे का दृष्टान्त ४. इंद्रियों को वश में रखने या स्वच्छन्द छोड़ने के विषय में कछुए का दृष्टान्त ५. भूल के लिए पश्चाताप करके पुनः संयम में दृढ़ होने के लिए शैलक राजर्षि का दृष्टान्त ६. आत्मा का गुरुत्व और लघुत्व दिखाने के लिए तुंबे का दृष्टान्त, ७. आराधक-विराधक के लाभालाभ बताने के लिए रोहिणी की कथा, ८. भगवान् मल्लिनाथ की कथा, ९. कामभोगों में आसक्ति और विरक्ति के लिए जिनपालित और जिनरक्षित का दृष्टान्त, १०. प्रमादी अप्रमादी के लिए चाँद का दृष्टान्त, ११. धर्म की आराधना और विराधना के लिए वृक्ष का दृष्टान्त, १२. सद्गुरु सेवा के लिए उदकशुद्धि का दृष्टान्त, १३. सद्गुरु के अभाव

में गुणों की हानि बताने के लिए दर्दुर (नंदमणियार) का दृष्टान्त, १४. धर्म प्राप्ति के लिए अनुकूल सामग्री की आवश्यकता बताने के लिए तेतली पुत्र का दृष्टान्त, १५. वीतराग के उपदेश से ही धर्म प्राप्ति होने के लिए नंदीफल का दृष्टान्त, १६. विषय सुख का कटु फल बताने के लिए अमरकंका के राजा और द्रौपदी की कथा, १७. इंद्रिय विषयों से होने वाले अनर्थों को समझाने के लिए आकीर्ण जाति के घोड़े का दृष्टान्त, १८. संयमी को शुद्ध-निर्दोष आहार निर्ममत्व भाव से करने के लिए सुषमाकुमारी का दृष्टान्त १९. उत्कृष्ट भाव से पालित अल्पकालिक संयम का अत्युपकार रूपी पुण्डरीक का दृष्टान्त ।

इसके पन्द्रहवें नंदीफल के दृष्टान्त कथा में चरक, चीरिक आदि विभिन्न मतानुयायियों का उल्लेख है ।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्म कथाओं के द्वारा धर्म का स्वरूप बतलाया गया है । इसमें दस वर्ग हैं । इन वर्गों में चमरेन्द्र, बलीन्द्र, धरणेन्द्र, पिशाचेन्द्र, महाकालेन्द्र, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र की पटरानियों एवं इन्द्राणियों के पूर्व भवों का वर्णन है । इनमें २०६ अध्ययन में इन दो सौ छह पटरानियों, इन्द्राणियों का वर्णन है । इनमें प्राचीन सामाजिक व्यवस्था की जानकारी मिल सकती है ।

७. उपासकदशा—यह सातवाँ अंग आगम है । उपासकदशा में ही सर्वप्रथम श्रावकों के आचार-विचार, नियम आदि की चर्चा की गयी है तथा श्रावक भी साधना कर सकता है, इसकी पुष्टि की गयी है । इसमें कुल दस अध्ययन हैं । इसमें भगवान् महावीर के दस उपासकों की कथाएँ हैं । प्रत्येक अध्ययन में एक श्रावक-उपासक की कथा है । उनके नाम हैं— १. आनन्द २. कामदेव ३. चुलनीपिता ४. सुरादेव ५. चुलणीशतक ६. कुण्डकोलिक ७. शकडालपुत्र ८. महाशतक ९. नदिनीपिता १०. सालिहीपिता ।

प्रस्तुत सूत्र में आने वाली कथाओं में सब श्रावक अपने खान-पान, भोगोपभोग एवं व्यवसाय की मर्यादा निर्धारित करते हैं । सूत्र में श्रावकों की साधना में विघ्न उत्पन्न करने वाले भूत-पिशाचों का भयंकर वर्णन है । जब ये भूत-पिशाच विघ्न पैदा करने आते हैं तब केवल श्रावक ही उन्हें देख सकते हैं । घर के अन्य लोग नहीं । वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में भी इस प्रकार के विघ्नकारी देवों-दावनों व पिशाचों की कथाएँ मिलती हैं । इस अंगग्रन्थ में एक श्रावक की मांसाहारिणी स्त्री का वर्णन है । इस श्रावक की तेरह पत्नियाँ थीं । तेरहवीं मांसाहारिणी पत्नी रेवती ने अपनी बारह सौतों की हत्या कर दी थी । वह अपने मायके से बछड़ों का मांस मँगवा कर खाती थी । इसमें एक कुम्भकार श्रावक का भी वर्णन है जो मंखलिपुत्र गोशालक का अनुयायी था । बाद में भगवान् महावीर ने उसे युक्तिपूर्वक अपना अनुयायी बना लिया था । इस ग्रन्थ में कुछ हिंसा प्रधान धंधों का श्रावकों के लिए निषेध है जैसे— शस्त्र बनाना, शस्त्र बेचना, विष बेचना, बाल का व्यापार करना, गुलामों का व्यापार आदि ।

प्रस्तुत अंग में श्रावक को अवधिज्ञान किस हद तक हो सकता है, इस विषय में आनन्द और गौतम के बीच चर्चा है । आनन्द कहते हैं कि मेरी बात ठीक है, जबकि गणधर गौतम उसे मिथ्या कथन कह रहे थे । बाद में गौतम भगवान् महावीर के पास आकर इसका स्पष्टीकरण लेते हैं एवं उनकी आज्ञा से आनन्द के पास जाकर अपनी गलती स्वीकार कर

उससे क्षमायाचना करते हैं। इससे गौतम की ऋजुता तथा आनन्द की सत्यता एवं निर्भीकता प्रकट होती है।

अन्य सभी अंगसूत्र श्रमण-श्रमणियों के आचारादि का निरूपण करते हैं। उपासकदशांग ही एक ऐसा सूत्र है जिसमें गृहस्थ धर्म के सम्बन्ध के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला गया है। इससे श्रावक या उपासक के मूल आचार एवं अनुष्ठान का पता चलता है। श्रमण-श्रमणी के आचार-अनुष्ठान का निरूपण भी अनिवार्य है क्योंकि ये चारों ही संघ के समान स्तम्भ हैं। इसमें व्यावहारिक बातों का समावेश है। गृहस्थ कर्मों को केवल आरम्भ-समारंभी कह देने से काम नहीं चलता अपितु गृहस्थधर्म में सदाचार एवं सद्विचार की प्रतिष्ठा करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

८. अन्तकृतदशा— आठवाँ अंग अंतगडदसा है। इसका संस्कृत रूप अंतकृतदशा अथवा अंतकृद्दशा। अंतकृत अर्थात् संसार का अंत करने वाले। जिन्होंने अपने संसार अर्थात् भवचक्र जन्म-मरण का अंत किया है। अर्थात् जो पुनः जन्म-मरण के चक्र में फँसने वाले नहीं हैं। ऐसी आत्माओं का वर्णन 'अन्तकृद्दशा' में उपलब्ध है। वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृतदशा में आठ वर्ग और नब्बे अध्ययन हैं। इसमें प्रथम वर्ग में दस, दूसरे में आठ, तीसरे में तेरह, चौथे में दस, पाँचवें में दस, छठे में सोलह, सातवें में तेरह तथा आठवें में दस अध्ययन हैं। इनमें से अधिकांश में द्वारका, भद्रिलपुर, कृष्ण आदि का वर्णन है और इन्हीं से सम्बन्धित अधिकांश कथा है।

९. अनुत्तरौपपातिकदशा— अनुत्तरौपपातिक का अर्थ है अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले। जैन दर्शन के अनुसार पुरुषाकार लोक के ग्रीवा स्थान में अवस्थित नौ ग्रैवेयक विमानों के ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्धि नामक पाँच अनुत्तर विमान हैं। ये सभी विमानों में श्रेष्ठ हैं। इनमें ऐसे जीवों का वर्णन है, जो इस भव में तप, संयम आदि धर्म का पालन कर अनुत्तरविमान में उत्पन्न हुए और वहाँ से एक भव और ग्रहण कर मुक्त होंगे। प्रस्तुत नौवें अंग में एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग और तैंतीस अध्ययन हैं। समवायांग, राजवार्तिक, स्थानांग, धवला आदि ग्रन्थों में इसके दस अध्ययन ही बतलाये गये हैं। वर्तमान में उपलब्ध तैंतीस अध्ययनों में बहुत कम ही स्थानांग से मिलते हैं। वर्तमान में उपलब्ध इसके पाठों की रचना बाद में कभी की गयी है। इसमें २३ अध्ययन के पात्र राजा श्रेणिक के विभिन्न रानियों के पुत्र हैं। शेष १० पात्र काकन्दी की भद्रा सार्थवाही के पुत्र हैं।

१०. प्रश्न व्याकरण— प्रश्नव्याकरण दसवाँ अंग आगम है। प्रश्न-व्याकरण का अर्थ है, स्वसमय-स्वसिद्धान्त और परसमय-अन्य सिद्धान्तों में विद्यमान नाना विधाओं मंत्र-तंत्र एवं दार्शनिक बातों का प्रश्नोत्तर रूप में निरूपण। धवला में प्रश्नव्याकरण का परिचय देते हुए बताया गया है कि युक्ति और नयों द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नों के उत्तर इस अंग में संकलित हैं। स्थानांग में प्रश्न व्याकरण के दस अध्ययनों का उल्लेख है : उपमा, संख्या, ऋषिभाषित, आचार्यभाषित, महावीरभाषित, क्षोभकप्रश्न, कोमलप्रश्न अद्वागप्रश्न, अंगुष्ठप्रश्न और बाहुप्रश्न। समवायांग में बताया गया है कि प्रश्न व्याकरण में १०८ प्रश्न,

१०८ अप्रश्न एवं १०८ प्रश्नाप्रश्न हैं जो मंत्रविद्या एवं अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न, दर्पणप्रश्न आदि विद्याओं से सम्बन्धित हैं। इसके ४५ अध्ययन हैं। नदीसूत्र भी समवायांग के कथन का समर्थन करता है। परन्तु वर्तमान में इस अंग ग्रन्थ का स्वरूप ऐसा नहीं है। उपलब्ध प्रश्न व्याकरण में दस अध्ययन हैं जो दो खण्डों में विभक्त है। प्रश्न खण्ड में पाँच आस्रव द्वारों का और दूसरे खण्ड में पाँच संवर द्वारों का वर्णन किया गया है। आस्रव द्वारों में हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पापों का तथा संवर द्वारों में अहिंसा, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच व्रतों का विवेचन किया गया है। इसमें असत्यवादी के रूप में चौदह मतों का उल्लेख किया गया है।

११. विपाक सूत्र—पुण्य-पाप रूप कर्मफल और उसका प्रतिपादन करने वाला सूत्र विपाकसूत्र कहलाता है। ग्यारहवें अंग विपाक-सूत्र में प्राणियों द्वारा किये गये अच्छे और बुरे कर्मों का फल दिखलाने के लिए बीस कथाएँ दी गयी हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में दुःखविपाकरूप अशुभ कर्मों का फल दिखलाने के लिए मृगापुत्र, सामध्वजा एवं उज्झितक, अभग्नसेन, शकट, वृहस्पतिदत्त, नन्दिषेण, उम्बरदत्त, सोरियदत्त, देवदत्ता और अजदेवी की जीवनगाथाएँ अंकित हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सुख विपाक रूप शुभ कर्मों का फल दिखलाने वाली कथाएँ हैं। इसमें भी दस अध्ययन हैं— सुबाहु, भद्रनन्दी, सुजात, सुवासन, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दी, महाचन्द्र और वरदत्त।

इन बीस आख्यानों के द्वारा यह बतलाया गया है कि कोई भी प्राणी जन्म जन्मान्तरों में अपने मन, वचन और काय की क्रिया के द्वारा अपने राग, द्वेष और मोह आदि भावों के निमित्त से कर्मों का बन्धन करता है। इन कर्मों का आत्मा के साथ किसी विशेष समय की अवधि तक रहना कषाय की मन्दता या तीव्रता पर निर्भर है। यदि कषाय हल्के दर्जे की होती है तो कर्म परमाणु भी जीव के साथ कम समय तक ठहरते हैं और फल भी कम प्राप्त होता है। कषायों की तीव्रता होने पर आए हुए कर्म परमाणु जीव के साथ अधिक समय तक बने रहते हैं और फल भी अधिक मिलता है। इस ग्रन्थ में कर्म-सिद्धान्त का वर्णन है। यह ग्रन्थ परवर्ती कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रन्थों की पृष्ठभूमि कहा जा सकता है।

१२. दृष्टिवाद— एक मान्यता के अनुसार यह अंग लुप्त हो चुका है। समवायांग के अनुसार इसके परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका ये पाँच विभाग हैं। धवला भी इन्हीं पाँचों विभागों का उल्लेख करता है। इनमें परिकर्म के— चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति पाँच भेद हैं। सूत्र नामक अर्थाधिकार में अठ्ठासी अधिकार हैं इनमें चार अधिकारों का अर्थनिर्देश मिलता है— १. अबन्धक २. त्रेराशिकवाद ३. नियतिवाद और ४. स्वसमय प्ररूपक। प्रथमानुयोग में बारह प्रकार के पुराणों का उपदेश बताया गया है। पूर्वगत के चौदह अर्थाधिकार माने गये हैं— १. उत्पादपूर्व २. अग्रायणीपूर्व ३. वीर्यानुप्रवादपूर्व ४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व ५. ज्ञानप्रवादपूर्व ६. सत्यप्रवादपूर्व ७. आत्मप्रवादपूर्व ८. कर्मप्रवादपूर्व ९. प्रत्याख्यानपूर्व १०. विद्यानुप्रवादपूर्व ११. कल्याणवादपूर्व १२. प्राणापातपूर्व १३. क्रियाविशालपूर्व एवं १४. लोकबिन्दुसारपूर्व चूलिका के पाँच भेद हैं— १. जलगता २. स्थलगता ३. मायागता ४. रूपगता ५. आकाशगता। वर्तमान में इन

सम्पूर्ण अंग का विच्छेद दोनों परम्परा मानती है। दिगम्बर परम्परा केवल आग्रायणी पूर्व के पाँचवें अधिकार का चौथे पाहुड-कर्म प्रकृति में उद्भूत षट्खण्डागम और पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व की दशम वस्तु का तीसरा अधिकार 'कषायपाहुड' को उपलब्ध मानता है। जिसका वर्णन अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र से ही इसका पूर्णतः लोप मानती है।

ऐसा लगता है कि दृष्टिवाद की विषयवस्तु को अन्य ग्रंथों में समाहित कर दिये जाने से इस विशालकाय ग्रन्थ की उपयोगिता समाप्त हो गयी हो और धीरे-धीरे इसका विस्मरण हो गया हो। उल्लेखनीय है कि दृष्टिवाद का अर्थ विभिन्न सिद्धान्तों पर अपने विचार प्रस्तुत करना है। वर्तमान में सूत्रकृतांग में यह प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इस प्रकार दृष्टिवाद के अंशों का विभिन्न आगमों में समावेश हुआ या उस पर ग्रन्थ रचे गये हैं।

(ख) उपांग— उपांग का सामान्य अर्थ है— सहकारी अंग। वैदिक परम्परा में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष को अंग तथा इनके व्याख्या साहित्य, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र को उपांग कहा गया है। परन्तु जैन साहित्य में अंग, उपांग की अवधारणा बारहवीं शताब्दी के बाद की है क्योंकि इसके पूर्व के ग्रन्थों में यह विभाजन प्राप्त नहीं होता है। उपांग की संख्या बारह है। परवर्ती काल में इन उपांगों को अंगों के साथ संबद्ध करने की परम्परा बनी और प्रत्येक उपांग को क्रमशः अंगों का भाग माना गया। जैसे— औपपातिक में आचारांग का राजप्रश्नीय को सूत्रकृतांग का आदि।^३ औपपातिक के टीकाकार अभयदेव सूरि (११वीं शदी), रायप्पसेणीय के टीकाकार मलयगिरि (१२वीं शदी) ने इस सम्बन्ध को स्वीकार किया। लेकिन देखा जाये तो जीवाभिगम और ठाणांग का, सूरपन्नति तथा भगवती का, चंदपन्नति तथा उपासगदसाओ का तथा वण्हदसाओ और दिट्ठिवाय का तथा रायप्पसेणीय तथा सूयगडंग का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।^४ इन उपांगों का क्रम भी ऐतिहासिक दृष्टि से समुचित नहीं है। बारह उपांगों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

१. औपपातिक— उपांगों में प्रथम औपपातिक सूत्र माना गया है। इसमें ४३ सूत्र हैं। प्रस्तुत उपांग में नानाभावों, विचारों और साधनापूर्वक मृत्यु प्राप्त करने वाले प्राणियों का पुनर्जन्म कहाँ होता है, इसे उदाहरण के साथ स्पष्ट किया गया है। इसमें नगर चैत्य राजा एवं रानियों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्राप्त होता है। इन वर्णनों को अन्य अंशों एवं उपांगों के लिए आधार बनाया गया है। दूसरे ग्रन्थों में इस प्रकार के नगर आदि का वर्णन आने पर जहाँ 'जाव' शब्द का उल्लेख दिया गया है, वहाँ औपपातिक सूत्र से ही प्रसंग को पूरा किया जाता है। इस उपांग की महत्ता संस्कृति और समाज की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें प्रबन्धकाव्यों के योग्य वस्तु-वर्णनों का सद्भाव, संवाद शैली के अनेक तत्त्वों का सद्भाव एवं धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना की है। यह आचारांग का उपांग है।

२. राजप्रश्नीय— दूसरे उपांग राजप्रश्नीय प्राचीन आगमों में से एक है। इसमें २१७ सूत्र हैं। इस ग्रन्थ में राजा पएसी (प्रदेशी) के प्रश्नों का केशी मुनि द्वारा प्रस्तुत समाधान वर्णित है। विद्वानों ने इस अंग में वर्णित पएसी (प्रदेशी) को कोशल का राजा प्रसेनजित

कहा है। जिसका नाम बाद में पएसी कर दिया गया हो सकता है। इसके प्रथम भाग में सूर्याभदेव का भगवान् महावीर के समक्ष विभिन्न प्रकार के नृत्य, नाटक आदि करने का विस्तृत वर्णन है। दूसरे भाग में यह ऋषि वैभव उसे क्यों प्राप्त हुआ, गणधर गौतम के ऐसा प्रश्न करने पर भगवान् महावीर द्वारा उसके पूर्वभव के जीव श्रावस्ती के राजा पएसी और भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य केशी श्रमण के बीच हुए जीव विषयक प्रश्नोत्तर का वर्णन है। इस विवाद में राजा पएसी श्रमण के उपदेश से संतुष्ट होकर श्रद्धापूर्वक उनके शिष्य बनकर आत्म साधना में संलग्न होते हैं और अन्त में शरीर त्याग कर सौधर्म देवलोक में सूर्याभदेव के रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में अंतिम मनुष्य भव प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त हो जाएँगे। यह सूत्रकृतांग का उपांग माना गया है।

३. जीवाभिगम— इसमें नौ प्रकरण और २७२ सूत्र हैं। इसमें भगवान् महावीर और गणधर गौतम के बीच जीव-अजीव पर विस्तृत चर्चा है। इसलिए इसे जीवाजीवाभिगम सूत्र भी कहते हैं। इसमें मुख्य रूप से द्वीप और सागरों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें प्रसंगवश रत्न, आभूषण, भवन, वस्त्र, लोकोत्सव, यान, अलंकार एवं मिष्ठानों का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। इसमें सांस्कृतिक सामग्री का प्राचुर्य है तथा कला की दृष्टि से पर्याप्त सामग्री वर्तमान है। इसमें उद्यान, वापी, पुष्करिणी, कदली-घर, प्रसाधन-घर एवं लतामण्डप आदि का सरस और साहित्यिक वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रश्नोत्तर प्रणाली का विकसित रूप उपस्थित है। यह स्थानांग का उपांग माना गया है।

४. प्रज्ञापना— नदी-सूत्र में प्रज्ञापना की गणना अंगबाह्य आवश्यक व्यतिरिक्त उत्कालिक सूत्र में की गयी है। इस चौथे उपांग में ३४९ सूत्र हैं। विशालता की दृष्टि से अंगों में जो स्थान भगवती सूत्र का है, वही स्थान उपांगों में प्रज्ञापना का है। इसके कर्त्ता वाचकवंशीय पूर्वधारी आचार्य श्यामाचार्य हैं, जो सुधर्मा स्वामी की तेईसवीं पीढ़ी अर्थात् द्वितीय शती ई० पूर्व में हुए। इसमें मगध, अंग, बंग आदि पचीस आर्य देशों का उल्लेख किया गया है तथा कर्म-आर्य, शिल्प आर्य एवं भाषा-आर्य जैसे आर्य जाति के भेदों को स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत उपांग ३६ पदों में विभक्त है। ये हैं— प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति, विशेष, व्युत्क्रान्ति, उच्छ्वास, संज्ञा, योनि, चरम, भाषा, शरीर, परिणाम, कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, सम्यक्त्व, अन्तक्रिया, अवगाहना-संस्थान, क्रिया, कर्म, कर्मबन्धक, वेदबन्धक, वेदवेदक, आहार, उपयोग, पश्यत्ता-दर्शनता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचारणा, वेदना और समुद्भूत। इन पदों का विस्तृत वर्णन गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर रूप में किया गया है। यह समवायांग का उपांग माना गया है।

५. सूर्यप्रज्ञप्ति— इस उपांग में २० पाहुड और १०८ सूत्रों में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति, स्वरूप, प्रकाश आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इसमें विभिन्न द्वीपों और सागरों का वर्णन भी प्रसंगानुसार किया गया है। इसके बीस प्राभृत्तों में सूर्य के मंडलों की गतिसंख्या, सूर्य का तिर्यक-गमन, प्रकाश्य क्षेत्र का परिमाण, प्रकाश संस्थान, लेश्याप्रतिघात, प्रकाश का अवस्थान, सूर्यावारक, उदय संस्थिति, पौरुषीच्छया का प्रमाण, योग का स्वरूप, संवत्सरों का आदि-अन्त, संवत्सर के भेद, चन्द्रमा की वृद्धि और हास, ज्योत्स्ना के लक्षण,

च्यवन और उपपात, चन्द्र-सूर्य आदि का उच्चत्व-मान, चन्द्र सूर्य का परिमाण और चन्द्र आदि का अनुभाव। बीच-बीच में इस विषय की अन्य मान्यताओं का भी उल्लेख है। इन प्राभृतों का वर्णन गौतम और महावीर के बीच प्रश्नोत्तर रूप में किया गया है। इसे भगवती सूत्र का उपांग माना जाता है।

६. **जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति**— छठा उपांग जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति दो भागों में विभक्त है। इसमें १७६ सूत्र हैं। प्रथम भाग में चार और द्वितीय भाग में तीन वक्षस्कार (परिच्छेद) हैं। इसमें जम्बूद्वीप, भरत क्षेत्र एवं उनमें अवस्थित पर्वत, नदियों एवं उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का वर्णन, कुलकर का वर्णन और ऋषभदेव का वर्णन विस्तार से है। भरत चक्रवर्ती का दिग्विजय, तीर्थकर का जन्मोत्सव आदि का वर्णन तथा भरत के निर्वाण का भी प्ररूपण इसमें किया गया है। यह ग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा का उपांग माना गया है। भारत के प्राचीन भूगोल की दृष्टि से महत्वपूर्ण सामग्री इसमें उपलब्ध है तथा जैन सृष्टि-विद्या के बीज-सूत्र वर्तमान हैं। इसमें उल्लिखित भरत चक्रवर्ती का दिग्विजय विष्णुपुराण से मिलता है। इसमें तीर्थकरों के कल्याणक उत्सव, प्राचीन युद्ध प्रणाली एवं तीर्थकर चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेवों के चरित्रों के संकेत प्राप्त होते हैं, जो जैन पुराणों के विकास क्रम को अवगत कराने के लिए उपयोगी हैं।

७. **चन्द्र प्रज्ञप्ति**— प्रस्तुत अंग की विषय वस्तु को देखने से ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति एक ही ग्रन्थ थे, बाद में इन दोनों को अलग किया गया। इसे उपासकदसाओ का उपांग माना जाता है। इन दोनों के विषय लगभग समान ही हैं। इसमें विशेष रूप से चन्द्रमा की गति, परिभ्रमण पथ, विमान आदि का वर्णन स्वतंत्र रूप से किया गया है।

८. **कल्पिका**— इस उपांग में राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) एवं कुणिक (अजातशत्रु) कालीन मगध के इतिहास का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें १० अध्ययन हैं। इसमें श्रेणिक के वंशजों का वर्णन, अजातशत्रु का जीवन परिचय एवं वैशाली के राजा चेटक और अजातशत्रु के बीच हुए युद्ध का वर्णन भी प्राप्त होता है। यह अंतगडदसाओ का उपांग माना गया है।

९. **कल्पावतंसिका**— इसमें श्रेणिक के उन दस पौत्रों की कथा है, जिन्होंने अपने सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया था। इनके नाम हैं— पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द और नन्द। ये सब कालकुमार के पुत्र थे। यह अनुत्तरौपपातिक का उपांग माना जाता है।

१०. **पुष्पिका**— पुष्पिका उपांग में दस अध्ययन हैं— चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिक, पूर्णभद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनाढिय। इन दसों अध्ययनों का नाम उसके मुख पात्र के नाम पर रखा गया है। इनमें इन्हीं पात्रों की कथा वर्णित है। ये सब भगवान् महावीर के समवसरण में विभिन्न प्रकार के नाटक करते हैं। गौतम के पूछने पर महावीर उनके पूर्वभव की कथा बताते हैं तथा ये भी कहते हैं कि अगले भव में ये सब महाविदेह से मुक्त होंगे। ये दसों ज्योतिष्क देव हैं। इस ग्रन्थ में स्वसमय और परसमय के

हेतु कषाओं का संकलन है। चरितों का अर्धविकसित रूप चित्रित है। वर्तमान जीवन से उनका सम्बन्ध बहुत कम है। सांसारिक राग-मोह और मयताओं का सफल चित्रण है तथा जीवन के मर्मस्थलों का यत्र-तत्र समावेश किया गया है। यह प्रश्न व्याकरण का उपांग माना गया है।

११. पुष्पचूला— इस उपांग में भी दस अध्ययन हैं। जिनमें क्रमशः श्री, ह्रीं, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रस एवं गंध— इन दस देवियों के पूर्व भवों की कथा है। ये सब भी भगवान् के समवसरण में नाटक दिखाने वाली हैं तथा अगले भव में महाविदेह क्षेत्र से मुक्त होने वाली हैं। कथा की दृष्टि से इनका गठन पुष्पिका की तरह ही है। इसे विपाक सूत्र का उपांग माना गया है।

१२. वृष्णिदशा— इस उपांग में बारह अध्ययन हैं— निसद, माअनि, वह, वणह, पगता, जुती, दसरह, दढरह, महाधणू, सत्तधणू, दसधणू, सयधणू। इनमें द्वारकावती के राजा कृष्ण-वासुदेव के वर्णन के साथ वृष्णिवंशीय बारह राजकुमारी के दीक्षित होने का वर्णन है। अरिष्टनेमि विहार करते हुए रैवतक पर्वत पर जाते हैं और वहाँ उनके दर्शनार्थ अनेक वृष्णिवंशीय कुमार पहुँचते हैं। इसमें कथातत्त्व की अपेक्षा पौराणिक तत्त्वों का प्राचुर्य है। यदुवंशीय राजाओं का इतिवृत्त श्रीमद्भागवत में आये यदुवंशी चरितों से तुलनीय है। यह दृष्टिवाद का उपांग माना जाता है।

प्रो० विन्टरनिट्ज का कथन है कि आठवें से बारहवें उपांग तक निरयावलि सूत्र के नाम से ही जाना जाता था। लेकिन आगे चलकर उपांगों की संख्या अंगों की संख्या के साथ-साथ करने के लिए इन्हें अलग-अलग गिना जाने लगा।

(ग) छेदसूत्र— छेद-सूत्रों की गणना भी अंग बाह्य आगमों में की जाती है। छेद-सूत्र शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ७७७ में प्राप्त होता है। इससे प्राचीन उल्लेख प्राप्त नहीं है। इससे ऐसा लगता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के समय तक कुछ ग्रन्थों का छेद-सूत्र के रूप में एक पृथक् वर्ग बन गया था। इन सूत्रों में निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों की प्रायश्चित्त-विधि का प्रतिपादन किया गया है। जीवन के दैनिक व्यवहार में जो दोष आते रहते हैं उनका पश्चात्ताप द्वारा परिमार्जन करना प्रायश्चित्त कहलाता है। छेद सूत्रों में इन्हीं प्रायश्चित्त-विधि का सांगोपांग वर्णन किया गया है। छेद-सूत्र छह हैं। इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

१. निशीथ— छेद-सूत्रों में निशीथ का स्थान सर्वप्रथम है। इसे आचारांग की दूसरी चूलिका के रूप में माना जाता है। इसका दूसरा नाम आचारकल्प है। निशीथ का शाब्दिक अर्थ है— रात, प्रछन्न या छिपा हुआ। इस ग्रन्थ में सबको नहीं बताने योग्य बातों का वर्णन है, इसलिए इस सूत्र का नाम निशीथ है। अथवा जिस प्रकार निशीथ अर्थात् कतक फल को पानी में डालने से मैल नीचे बैठ जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र के अध्ययन से भी आठ प्रकार के कर्मरूपी मल का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है। इसलिए इसे निशीथ कहते हैं। यह सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत से उद्धृत माना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में साधु-साध्वियों के आचार विचार का विशद वर्णन है तथा

नियमों के भंग हो जाने पर उसके प्रायश्चित्त का भी विधान है। इसमें कुल २० उद्देशक हैं।

२. **महानिशीथ**— महानिशीथ दूसरा छेद-सूत्र है। निशीथ को लघु निशीथ और इसे महानिशीथ नाम दिया गया है। बाद में हरिभद्रसूरि ने इसमें संशोधन किया और सिद्धसेन, जिनदासगणि ने इसे मान्यता प्रदानकी। महानिशीथ में छः अध्ययन और दो चूला हैं। इसमें कुल मिलाकर ४५४५ गाथाएँ हैं। इसमें आगमेतर ग्रन्थों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। प्रथम अध्ययन का नाम शल्योद्धार है। इसमें पाप कर्म की निन्दा है तथा अठारह पाप स्थान बतलाये गये हैं। दूसरे अध्ययन में कर्म विषाक का उल्लेख कर पापों की आलोचना पर प्रकाश डाला गया है। तीसरे और चौथे अध्ययन में साधुओं को कुशील साधुओं से दूर रहने का उपदेश दिया गया है। पाँचवे नवनीत सार नामक अध्ययन में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध तथा गच्छ का विवेचन है। छठे अध्ययन में प्रायश्चित्त और छह आलोचना का विवेचन है।

३. **व्यवहार**— इस ग्रन्थ के कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं। इसमें दस उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में आलोचना और प्रायश्चित्त की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि प्रमाद या अज्ञानता से भी अपराध हो जाने पर आलोचना और प्रायश्चित्त करना चाहिए। आगे के उद्देशकों में भी विभिन्न स्थितियों में आलोचना और प्रायश्चित्त ग्रहण करने का विधान किया गया है। साधु-साध्वियों के भोजन, व्यवहार, अकेले विहार तथा सामूहिक विहार करने के नियमों का वर्णन किया गया है। इसमें भिक्षु-प्रतिमा, मोक्ष-प्रतिमा, यवमध्यचन्द-प्रतिमा और वज्रमध्य-प्रतिमा में भी नियमों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में चार प्रकार के आचार्य, चार प्रकार के अन्तेवासी और तीन प्रकार के स्थविरों का वर्णन है। साठ वर्ष की अवस्थावाला जातिस्थविर, श्रुत का धारक श्रुतस्थविर एवं बीस वर्ष की पर्यायवाला साधु पर्यायस्थविर कहा जाता है। दीक्षा की अवधि बढ़ने के साथ-साथ साधुओं के अध्ययन का क्रम भी बढ़ता जाता है। अठारह वर्ष का दीक्षित साधु दृष्टिवाद तथा बीस वर्ष का दीक्षित साधु समस्त सूत्रों के पाठन का अधिकारी हो जाता है।

४. **दशाश्रुतस्कन्ध**— इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। ये निर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु से भिन्न हैं। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम आचारदशा है। इसमें जैनाचार से सम्बन्धित दस अध्ययन होने से इसे दशाश्रुतस्कन्ध कहा जाता है। इसके आठवें और दसवें विभाग को अध्ययन और शेष को दशा कहा गया है। प्रथम दशा में बीस असमाधि स्थानों का वर्णन, दूसरी दशा में इक्कीस प्रकार के शवल दोषों का वर्णन, तीसरी दशा में तैंतीस प्रकार की आशातनाओं का वर्णन, चौथे में आठ प्रकार की संपदा का वर्णन है। ये संपदा हैं— गणिसम्पदा, आचारसम्पदा, श्रुतसम्पदा, शरीरसम्पदा, वचनसम्पदा, यतिसम्पदा, प्रयोगसम्पदा और संग्रहसम्पदा। आठवें अध्ययन में भगवान् महावीर के पंच कल्याणकों च्यवन, दीक्षा, केवल-ज्ञान एवं मोक्ष का वर्णन है। नौवीं दशा में मोहनीय कर्म के तीस स्थान का तथा दसवें अध्ययन में नौ प्रकार के निदान कर्म का वर्णन है। यह मुख्य रूप से ग लिखित है तथा इसकी भाषा आर्ष प्राकृत है।

६. पंचकल्प— इसका दूसरा नाम जीवकल्प है। इसमें भी साधु-साध्वियों के भिन्न-भिन्न अपराधों के अनुसार प्रायश्चित्त का वर्णन जीव-व्यवहार के आधार पर किया गया है। जो व्यवहार परम्परा से प्राप्त हो एवं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो, वह जीव व्यवहार कहलाता है।^{१५} इसके रचयिता जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण हैं। इसमें प्रायश्चित्त के निम्न दस भेद बतलाये गये हैं— १. आलोचना २. प्रतिक्रमण ३. अभग ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य १०. पारांचित। इसमें यह उल्लिखित है कि किस दोष के लिए कौन सा प्रायश्चित्त विधेय है।

(घ) मूलसूत्र— मूलसूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए जैन-तत्त्व प्रकाश^{१६} में कहा गया है कि सम्यक्त्व की जड़ को दृढ़ बनानेवाला और सम्यक्त्व की वृद्धि करनेवाला मूलसूत्र है। मूलसूत्रों का उल्लेख बारह उपांगों की तरह ही प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। इनमें साधु जीवन के आधारभूत नियमों का उल्लेख किया गया है। छेद सूत्रों की संख्या में चार है। इनका परिचय निम्न है—

१. उत्तराध्ययन— उत्तराध्ययन दो शब्द से बना है। उत्तर+अध्ययन। अर्थात् जिसका अध्ययन बाद में किया जाए, उसे उत्तराध्ययन कहा जाता है। उत्तराध्ययन साधुओं को आचारांग आदि ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् ही पढ़ाया जाता था। दूसरी मान्यतानुसार इसकी रचना आचारांग आदि सूत्रों के पश्चात् होने से उत्तराध्ययन नाम पड़ा। भगवान् महावीर द्वारा अपने जीवन के अंतिम काल में दिये गये उपदेश का संकलन होने से भी इसे उत्तराध्ययन कहा जाता है। यह धार्मिक काव्य ग्रन्थ है। डा० विन्ट्रनित्स ने इस प्रकार के साहित्य को श्रमण काव्य कहा है और इसकी तुलना महाभारत, धम्मपद एवं सुत्तनिपात से की है। वर्तमान में दशवैकालिक सूत्र के पश्चात् इस सूत्र के अध्ययन की प्रथा प्रचलित हो चुकी है। इसमें ३६ अध्ययन हैं। विषय के अनुसार इन अध्ययनों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है—

१. सैद्धान्तिक २. नैतिक या सुभाषितात्मक और ३. कथात्मक।

सैद्धान्तिक विषयों में— १. परिसहा २. अकाममरणिज्जं ३. खुड्ढागणियणिज्जं ४. बहुस्सुयपुज्जं ५. बम्हचेरं ६. समाहिठणं ७. पावसमणिज्जं ८. समितीओ ९. सभिकखू १०. मोक्खमग्गइ ११. अप्पमाओ १२. तवोमग्गो १३. दुमपत्तय १४. चरणविही १५. पमायठणई १६. कम्मपयडी १७. लेसज्जयणं १८. नम्मपत्तपरक्कमं १९. अणगारभग्गो एवं जीवाजीवाविभत्तय-ये उन्नीस अध्ययन हैं।

नैतिक विषयों में— १. विणयसुत्तं २. चाउरंगिज्जे ३. असंखय ४. एलयं ५. जन्नइज्जं ६. समायारी ७. खलुकिज्जं अध्ययन रखे जाते हैं, एवं कथात्मक विषयों में— १. कापिलीयं २. नमिपवज्जा ३. हरिएसिज्जं ४. चित्तसम्भूइज्जं ५. महानियण्ठिज्जं ६. महानियण्ठिज्जं ७. समुहपालीयं ८. रहनेमिज्जं और ९. केसिगोयमिज्जं परिगणित है।

इस ग्रन्थ में बाईस परिषद, ब्रह्मचर्य, समिति, प्रमादस्थान, कर्मबन्ध, तपश्चरण, सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग, लेश्या, जीवाजीव का विभाजन, चर्चा के नियम, समाधि, स्वाध्याय आदि सैद्धान्तिक विषयों का विवेचन है। नीति-निरूपण में विनय, श्रद्धा, मनुष्यता,

पवित्रता, सुसंस्कृत जीवन, यज्ञ की अहिंसात्मक व्याख्या, कर्तव्य, कार्य एवं धर्माचरण का वर्णन किया गया है। इस पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति एवं जिनदासगणिमहत्तर ने चूर्णि लिखी है। इस पर कई टीकाएँ भी लिखी गयी हैं। भद्रबाहु की निर्युक्ति के अनुसार इस ग्रन्थ के ३६ अध्ययनों में से कुछ अध्ययन जिनभाषित हैं, कुछ प्रत्येक बुद्ध भाषित तथा कुछ संवाद रूप में हैं। वादिवेताल शान्तिसूरि के अनुसार इस सूत्र का दूसरा अध्ययन दृष्टिवाद से लिया गया है। द्रुमपुष्पिका नामक दसवाँ अध्ययन स्वयं महावीर ने कहा है। कापिलीय नामक आठवाँ अध्ययन प्रत्येक बुद्ध कपिल ने प्ररूपित किया है और केशी-गौतमीय नामक तेइसवाँ अध्ययन संवादरूप में प्रस्तुत है।

२. आवश्यक— साधुओं के लिए जो अनिवार्य रूप से करणीय हो, उसे आवश्यक कहा गया है। इसके अंतर्गत नित्य कर्म के प्रतिपादक छह क्रियानुष्ठानों का उल्लेख है। इसमें निम्न छह अध्ययन हैं— सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। राग-द्वेष रहित समभाव को सामायिक कहते हैं। चतुर्विंशतिस्तव में सात गाथाओं में चौबीस तीर्थकरों का स्तवन किया गया है। तीसरे में वंदन-स्तवन किया गया है। गुरु के पास बैठ कर शिष्य उनसे क्षमायाचना कर प्रश्न पूछता है। चौथा प्रतिक्रमण है। प्रमादवश शुभ योग से च्युत होकर, अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद पुनः शुभ योग को प्राप्त करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। पाँचवें आवश्यक कायोत्सर्ग में ध्यान के लिए शरीर की निश्चलता का विधान है। छठे आवश्यक प्रत्याख्यान में सावद्य कर्मों से निवृत्ति का विधान किया गया है। इसमें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग किया जाता है।

३. दशवैकालिक— इसके कर्ता शय्यंभव सूरि हैं। दशवैकालिक दो शब्दों से बना है— दस + वैकालिक। इसके दस अध्ययनों का पठन-पाठन विकाल वेला में अर्थात् संध्या समय करने के विधान के कारण इसका नाम दशवैकालिक पड़ा। इसके दस अध्ययन हैं— १. द्रुमपुष्पिका २. श्रामण्यपूर्विका ३. क्षुल्लिकाचार ४. षट्जीविका ५. पिंडैषणा ६. महाचार ७. वाक्यशुद्धि ८. आचार प्रणिधि ९. विनय-समाधि एवं १०. सभिक्षु।

इनके दसों अध्ययनों का विषय मुनि आचार है। प्रथम द्रुमपुष्पिका अध्ययन में धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताते हुए धर्म का स्वरूप तथा मुनि की भिक्षावृत्ति के नियमों का संकेत है। दूसरे अध्ययन में त्याग के स्वरूप का कथन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि जो इन्द्रिय भोगों को स्वेच्छा से त्याग देता है, वही त्यागी है। तीसरे क्षुल्लिकाचार कथा में साध्वीचार एवं अनाचार का वर्णन कर अनाचारों से दूर रहने का उपदेश दिया गया है। चौथे षट्जीविका में षट्जीवनिकायों (पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति एवं त्रस) एवं पंच महाव्रतों का स्वरूप और मोक्षगति के क्रम का निर्देश किया गया है। पाँचवें पिंडैषणा अध्ययन में साधु की गोचरी (भिक्षा) विधि का विस्तृत वर्णन है। छठे अध्ययन में साधु के आचार, सातवें 'वाक्यशुद्धि' में भाषा का स्वरूप तथा उसके गुण-दोषों का विस्तृत विवेचन कर शुद्ध भाषा के प्रयोग की शिक्षा दी गयी है। 'विनय समाधि' नामक नौवें अध्ययन में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है कि विनय ही धर्म का मूल है। अंतिम दसवें 'भिक्षु' नामक अध्याय में भिक्षु की योग्यता, विशेषता आदि का वर्णन है।

दशवैकालिक के अंत में रतिवाक्य एवं विवक्तिचर्चा नामक दो चूलिकाएँ हैं। पहली चूलिका में संयम में प्रीति उत्पन्न करने वाले वाक्यों द्वारा अच्छी शिक्षा का संकलन किया गया है और दूसरी चूलिका में श्रमणों को दोषों से दूर रहकर आत्मगवेषणा के मार्ग पर बढ़ने का उपदेश दिया गया है। पर इन दोनों चूलिकाओं का आर्य शय्यंभव कृत होना अनिश्चित है।

४. पिंडनिर्युक्ति- पिंड का अर्थ भोजन होता है। इस ग्रन्थ में साधुओं के भोजन के संबंध में विचार किया गया है। इसमें आठ अधिकार एवं ६७५ गाथाएँ हैं। अधिकार के नाम हैं- १. उद्गम २. उत्पादन ३. एषणा ४. संयोजना ५. प्रमाण ६. अंगार ७. धूम और ८. कारण।

इसमें निर्युक्ति और भाष्य आपस में मिल जाने से दोनों को अलग-अलग करना कठिन है। इसके रचयिता भद्रबाहु हैं। यह मूलतः दशवैकालिक के पाँचवें अध्ययन पिंडैषणा पर लिखी गयी निर्युक्ति है, जो विस्तृत हो जाने के कारण एक स्वतंत्र आगम के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इसमें साधुओं की आहार-विधि का वर्णन होने के कारण इसकी गणना छेद-सूत्रों अंतर्गत की जाने लगी। इसके सभी अधिकारों में आहार-ग्रहण के दोषों से संबंधित जानकारी है और साधुओं को इन दोषों से बचने का उपदेश है। प्रथम अध्ययन में उद्गम-दोष १६ प्रकार के बताये गये हैं। उत्पादन-दोष भी सोलह प्रकार के हैं। एषणा अधिकार में निर्दोष आहार के दस भेद हैं। स्वाद के लिए भिक्षा में प्राप्त वस्तुओं को मिलाकर खाना संयोजना-दोष है। आहार के प्रमाण को ध्यान में नहीं रख कर भिक्षा ग्रहण करना प्रमाण-दोष है। आग में अच्छी तरह पकाये भोजन में आसक्ति दिखाना अंगार-दोष है और अच्छी तरह न पकाये हुए भोजन की निन्दा करना धूम-दोष है। संयम पालन, प्राण-धारण और धर्म-चिन्तन आदि का ध्यान न रख कर गृद्धता के लिए भोजन करना कारण-दोष है। इसमें पिंड के नौ भेद किये हैं।

(ड). प्रकीर्णक- 'प्रकीर्णक' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु में 'क्त' प्रत्यय सहित निष्पन्न 'प्रकीर्ण' शब्द से 'कन्' प्रत्यय होने पर बना है। इसका शब्दिक अर्थ है- नाना संग्रह, फुटकर वस्तुओं का संग्रह और विविध वस्तुओं का अध्याय। जैन साहित्य में प्रकीर्णक एक विशेष प्रकार का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है- मुक्तक-वर्णन। वस्तुतः विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही प्रकीर्णक साहित्य के अंतर्गत हैं। कुछ प्रकीर्णकों में ग्रन्थकारों ने इसका उल्लेख किया है कि 'श्रुत के अनुसार अंग, उपांग आदि ग्रन्थों के आधार पर प्रकीर्णकों की रचना की गयी है। नंदीसूत्र (मलयगिरि) के अनुसार तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते हैं। इसी को विस्तार देते हुए आचार्य आत्माराम जी ने कहा है- "अरिहन्त के श्रुतों के आधार पर श्रमण निर्ग्रन्थ भक्ति भावना तथा श्रद्धावश मूल भावना से दूर न रहते हुए जिन ग्रन्थों का निर्माण करते हैं, उन्हें 'प्रकीर्णक' कहा जाता है।" परम्परानुसार जिस तीर्थंकर के संघ में जितने स्थविर होते हैं, प्रकीर्णकों की संख्या उतनी ही होती है।

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक जितने भी स्थविर हुए हैं, उन्होंने श्रुतों के अनुसार अपने बुद्धि कौशल से ज्ञान को जन-साधारण तक पहुँचाने की दृष्टि से

तथा कर्म-निर्जरा उद्देश्य से प्रकीर्णकों की रचना की है। उपरोक्त बातों की पुष्टि समवायांग सूत्र में उल्लिखित 'चौरासीइं पन्नग सहस्साइं पण्णता'^७ कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों का जो निर्देश किया गया है, इससे हो जाती है। इसी प्रकार अंतिम तीर्थकर महावीर के तीर्थ में चौदह हजार स्थविरों का उल्लेख मिलता है। परम्परागत मान्यतानुसार वर्तमान में प्रकीर्णकों की संख्या चौदह हजार होनी चाहिए पर यह केवल परम्परागत मान्यता ही है। वर्तमान में उपलब्ध कुछ प्रकीर्णकों की अधिकतम ३२ संख्या है तथा अन्य प्रकीर्णक अनुपलब्ध हैं। इसके विषय में विस्तृत चर्चा अगले शीर्षक में की जाएगी।

(च). चूलिका- चूलिका सूत्रों के अंतर्गत नंदी और अनुयोग द्वार की गणना की जाती है।

१. नंदीसूत्र- नंदी-सूत्र के रचयिता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक हैं। इनका समय ईसा की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। इसमें भगवान् महावीर, संघ और श्रमणों की स्तुति के पश्चात् स्थविरावली में भद्रबाहु, स्थूलभद्र, महागिरि, आर्य श्याम, आर्य समुद्र, मंगु नागहस्ति, स्कन्दिल, नागार्जुन आदि का उल्लेख है। कल्पसूत्र की स्थविरावली से यह भिन्न है। आगे इसमें ज्ञान के पाँच भेदों का वर्णन करते हुए उनके भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें श्रुत के चतुर्दश प्रकार गिनाये गये हैं। सम्यक् श्रुत में आचारांग आदि द्वादशांगी को लिया गया है जबकि मिथ्याश्रुत में महाभारत, रामायण आदि की गणना है। इस पर जिनदासगणि महत्तर ने चूर्ण तथा हरिभद्र और मलयगिरि ने टीकाएँ लिखी हैं।

२. अनुयोगद्वार- अनुयोगद्वार आर्यरक्षित द्वारा रचित है। इनका समय ई० की ५७ वर्ष से ७० वर्ष के बीच है। भाषा और विषय की दृष्टि से यह काफी अर्वाचीन है। इसमें प्रश्नोत्तर शैली में पल्योपम, सागरोपम, संख्यात, असंख्यात् और अनन्त के प्रकार एवं निक्षेप, अनुगम और नय का प्ररूपण है। इसमें व्याकरण संबंधी समास, तद्धित, धातु, निरुक्ति, वर्णागम, लोप एवं वर्ण-विकार का विवेचन किया गया है। पाखंडियों (संप्रदाय) में श्रमण, पांडुरंग, भिक्षु, कापालिक, तापस एवं परिव्राजक के उल्लेख आये हैं। पेशेवर लोगों में दोसिय- कपड़ा बेचने वाले, सोत्तिय- सूत बेचने वाले, अंडवेयालिय- बर्तन बेचनेवाले, कोलालिय- कुम्हार आदि की गणना की गयी है। शिल्पजीवियों में तुतुवाय- बुनकर, चित्रकार, दंतकार आदि हैं। काव्य के नौ रस एवं संगीत के सप्त-स्वरों के वर्णन अतिरिक्त, चरक, गौतम, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख आया है।

(ख) प्रकीर्णकों में तित्थोगाली का स्थान

आगम साहित्य के अंतर्गत प्रकीर्णक अंगबाह्य वे ग्रन्थ हैं जो जिन वचन के आधार पर स्थविरों द्वारा रचे गये हैं। नंदी सूत्र में इन अंगबाह्य ग्रन्थों को दो भागों में विभक्त किया गया है- १. आवश्यक और २. आवश्यक-व्यतिरिक्त। इनका विशेष वर्णन पिछले शीर्षक में विस्तार से किया जा चुका है। नंदीसूत्र में वर्णित आगमों की सूची में वर्तमान में प्रकीर्णक नाम से ज्ञात ६ ग्रन्थ आवश्यक-व्यतिरिक्त के दो भेदों कालिक और उत्कालिक सूत्र के अंतर्गत उल्लिखित हैं। इनमें कालिक के अंतर्गत ऋषभाषित एवं द्वीपसागर प्रत्याख्यान और मरण विभक्ति-समाहित हैं।

प्राचीन आगमों में ऐसा स्पष्ट उल्लेख कही नहीं है कि अमुक-अमुक ग्रन्थ प्रकीर्णक के अंतर्गत आते हैं। नंदीसूत्र और पाक्षिक सूत्र दोनों में ही आगमों के विभिन्न वर्गों में कहीं भी प्रकीर्णक वर्ग का उल्लेख नहीं है। आगम का अंग, उपांग, छेदसूत्र, मूलसूत्र, चूलिका और प्रकीर्णक के रूप में विभाजन सर्वप्रथम आचार्य जिनप्रभ के ग्रन्थ विधिमार्गप्रपा (ई० की १३ शती लगभग) में हुआ है। तेरहवीं शदी के पूर्व आगमों के वर्गीकरण में प्रकीर्णक वर्ग का उल्लेख नहीं है। किन्तु आज जिन्हें प्रकीर्णक कहा जाता है, वे ग्रन्थ पहले भी उपलब्ध थे इसका संकेत ऊपर किया गया है। प्रारम्भ में अंग आगमों को छोड़कर सभी ग्रन्थ प्रकीर्णक कहलाते थे।^८

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संप्रदाय में वर्तमान में प्रकीर्णकों के अंतर्गत दस ग्रन्थ मानने की जो परम्परा है वह न केवल अर्वाचीन है, बल्कि इस संबंध में श्वेताम्बर आचार्यों में मतभेद भी रहा है कि इन दस के अंतर्गत कौन-कौन ग्रन्थ माने जाएँ। प्रद्युम्नसूरि ने विचारधारा प्रकरण (१४वीं सदी) में ४५ आगमों का उल्लेख करते हुए कुछ प्रकीर्णकों को लिया है। मुनि पुण्यविजय जी ने चार अलग-अलग संदर्भों में प्रकीर्णकों की अलग-अलग सूची प्रस्तुत की है।^९ वर्तमान में ये दस ग्रन्थ निश्चित हो चुके हैं। मोटे तौर पर जिन दस प्रकीर्णकों को आगम के अंतर्गत समाविष्ट किया जाता है, वे हैं- १. चतुःशरण २. आतुरप्रत्याख्यान ३. महाप्रत्याख्यान ४. भक्तपरिज्ञा ५. तंदुलवैचारिक ६. संस्तारक ७. गच्छाचार ८. गणिविद्या ९. देवेन्द्रस्तव और १०. मरणसमाधि।

इसके अतिरिक्त उपलब्ध बाईस प्रकीर्णक और हैं जिनको मुनि पुण्यविजय जी ने अपने पड़ण्यसुत्ताई नामक ग्रन्थ में समाहित किया है। इस प्रकार वर्तमान में बत्तीस प्रकीर्णक उपलब्ध हैं। जिनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है-

१. **चतुःशरण**-इसमें कुल २७ गाथाएँ हैं। यह-चतुशरण गमन, दुष्कृत गर्हा और सुकृत का अनुमोदन-इन तीन अधिकारों में विभक्त है। इसके रचनाकार वीरभद्र हैं तथा इस पर भुवनतुंग की वृत्ति और गुणरत्न की अवचूरि भी है।

२. **आतुरप्रत्याख्यान**-(वीरभद्र)- यह गद्य-पद्य मिश्रित है- इसमें सूत्रों और गाथाओं की कुल संख्या तीस है। यह ग्यारहवीं सदी का है। इस नाम के तीन प्रकीर्णक उपलब्ध होते हैं। इसमें शरीर आदि के प्रति ममत्व का त्याग करते हुए, धीरे-धीरे आहार के प्रति पूर्णतया अनासक्त होने पर आहार का प्रत्याख्यान करने का निरूपण है।

३. **महाप्रत्याख्यान**- महाप्रत्याख्यान का शाब्दिक अर्थ है- महा अर्थात् सबसे बड़ा और प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग। इस तरह का सबसे बड़ा त्याग शरीर का ही हो सकता है।^{१०} आगमिक व्याख्याकारों के अनुसार जो स्थविरकल्पी जीवन की सांध्यवेला में विहार करने में असमर्थ होते हैं, उनके द्वारा जो अनशन व्रत (समाधिमरण) स्वीकार किया जाता है, उन सबका जिसमें विस्तृत वर्णन हो, उसे महाप्रत्याख्यान कहा जाता है। इसमें १४२ गाथाएँ अनुष्टुप छन्द में हैं। इसमें दुश्चरित्र की निन्दा, सच्चरित्रात्मक भावनाओं, व्रतों एवं आराधनाओं पर जोर दिया गया है।

४. **भक्त परिज्ञा**- इसमें १४२ गाथाएँ हैं। भक्तपरिज्ञा मृत्यु का एक प्रकार है, इसमें

भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन- इन तीनों प्रकार के मरण का स्वरूप बतलाया गया है। बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है, अतः मन को वश में करने के लिए अनेक दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है।

५. तंदुलवैचारिक- यह प्रकीर्णक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, इसमें ५८६ गाथाएँ हैं। इसमें गौतम और महावीर के बीच हुए प्रश्नोत्तर के रूप में जीव की गर्भावस्था, आहार-विधि, बाल-जीवन क्रीड़ा, आदि अवस्थाओं का वर्णन है। प्रसंगवश स्त्रियों के स्वरूप का विश्लेषण अनेक रूपकों द्वारा किया गया है। साधुओं को स्त्रियों से सदा सावधान रहने की चेतावनी दी गयी है।

६. संस्तारक- संस्तारक से तात्पर्य है, अंतिम आराधना के प्रसंग में स्वीकार किया जाने वाला दर्भादि का आसन। इस प्रकीर्णक में कुल १२२ गाथाएँ हैं। मृत्यु के समय में स्थिर परिणाम रखकर पंडितमरण द्वारा ही सद्गति प्राप्त की जा सकती है। इस प्रसंग में अनेक मुनियों के दृष्टान्त दिये गये हैं।

७. गच्छाचार- गच्छाचार में १३७ गाथाएँ हैं। इसमें मुनि और आर्यिकाओं के गच्छ में रहने एवं तत्संबंधी विनय तथा नियमोपनियम पालन की विधि बतलायी गयी है। इसमें निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त सतर्क रहने तथा कामवासना को वश में रखने का निरूपण किया गया है।

८. गणिविद्या- नन्दीचूर्णि में गणिविद्या का परिचय इस प्रकार दिया गया है- गण अर्थात् बाल और वृद्ध मुनियों का गच्छ, वह गण जिसके नियंत्रण में है वह गण, विद्या का अर्थ है ज्ञान, ज्योतिष, निमित्त विषय के ज्ञान से दीक्षा, सामायिक, व्रतोस्थापना, श्रुतसम्बन्धित उद्देश, समुद्देश की अनुज्ञा, गण का आरोपण, दिशा की अनुज्ञा तथा क्षेत्र से निर्गमन और प्रवेश आदि कार्य जिस तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त और योग में करने के लिए निर्देश जिस अध्ययन में है, उसको गणिविद्या कहते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, ग्रह, मुहूर्त, शकुनबल, लगनबल और निमित्तबल इन नौ विषयों का निरूपण है। इसमें कुल ८२ गाथाएँ हैं।

९. देवेन्द्र स्तव- पाक्षिकसूत्र वृत्ति के अनुसार- देवेन्द्रों का चमर, बैरोचन आदि का स्तवन भवन, स्थिति आदि के स्वरूप का जहाँ वर्णन हो वह देवेन्द्रस्तव है इसमें ३११ गाथाएँ हैं और इसके रचनाकार स्थविर ऋषिपालित हैं। यहाँ कोई श्रावक अपनी पत्नी द्वारा प्रश्न किये जाने पर उत्तर में बत्तीस इन्द्रों का क्रमशः विस्तारपूर्वक विवेचन करता है।

१०. मरणसमाधि- परम्परागत मान्य दस प्रकीर्णकों में यह सबसे बड़ा है। कुल ६६१ गाथाएँ हैं। मरण के प्रशस्त-अप्रशस्त ये दो भेद हैं। ये दो प्रकार के मरण, जिसमें विस्तार से वर्णित हैं वे अध्ययन मरणविभक्ति कहे जाते हैं। इसमें आराधना, आराधक, आलोचन, संल्लेखन, क्षमायापन आदि चौदह द्वारों से समाधिमरण की विधि बतलायी गयी है। इसमें अन्य लघु प्रकीर्णकों में प्रतिपादित विषयवस्तु का विस्तार से वर्णन है। उदाहरणस्वरूप आचार्य के ३६ गुणों, आलोचना के दोषों आदि का इसमें नाम सहित वर्णन है, जबकि अन्य प्रकीर्णकों में मात्र संख्या बता दी गयी है। इसमें बारह भावनाओं के निरूपण के साथ ही

धर्म का उपदेश देने, पादोपगमन आदि द्वारा सिद्धगति प्राप्त करनेवालों के दृष्टान्त है।

उपर्युक्त दस प्रकीर्णक परम्परानुसार जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में आगम रूप में मान्य किये गये हैं। इसके अलावे के बाईस प्रकीर्णकों का परिचय निम्न है :-

११. चन्द्रकवधक- इसके नाम से ही यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में आचार के जो नियम बताये गये हैं, उनका पालन करना चन्द्रकवध (राधा-वेध) के समान ही मुश्किल है। इस ग्रन्थ में सात द्वारों से सात गुणों का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है- १. विनय गुण २. आचार्य गुण ३. शिष्य गुण ४. विनय निग्रहगुण ५. ज्ञानगुण ६. चारित्रगुण और ७. मरणगुण। इसमें कुल १७५ गाथाएँ हैं।

१२. ऋषिभाषित- ऋषिभाषित प्रकीर्णक साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसमें ४५ अध्याय हैं। समवायांग में इसके चौवालीस अध्यायों की सूचना है। वर्तमान में इसके पैतालीस अध्यायों में प्रत्येक में एक ऋषि के उपदेशों का संकलन है। इसे प्रत्येकबुद्ध रचित माना जाता है। इसमें गद्य-पद्य की कुल संख्या ६५३ है।

१३. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति- प्रस्तुत प्रकीर्णक में कुल २२५ गाथाएँ हैं। सभी गाथाएँ मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र अर्थात् ढाई-द्वीप के आगे के द्वीप एवं सागरों की संरचना को प्रकट करती हैं।

१४. वीरस्तव- इस प्रकीर्णक में ५३ गाथाओं द्वारा भगवान् महावीर की स्तुति उनके छब्बीस नामों द्वारा की गयी है। इसमें इन छब्बीस नामों का अलग-अलग अन्वयार्थ भी बताया गया है।

१५. कुसलानुबन्धी- इस प्रकीर्णक का दूसरा नाम चतुशरण प्रकीर्णक है। इसके कर्ता श्री वीरभद्राचार्य हैं। इनका समय ११वीं शताब्दी माना जाता है इसमें कुल ६३ गाथाएँ हैं। प्रकीर्णक की विषय वस्तु का नाम निर्देश इस प्रकार है- १. सावद्ययोग की विरति २. उत्कीर्तन ३. गुणियों के प्रति विनय ४. क्षति की निन्दा ५. दोषों की चिकित्सा और ६. गुणधारणा। पुनः उक्त छह अधिकारों का पृथक्-पृथक् निरूपण १६. आतुर प्रत्याख्यान- इस प्रकीर्णक में कुल ३५ गाथाएँ हैं। इसमें तथ्यों का निरूपण इन शीर्षकों के अंतर्गत किया गया है- उपोद्घात, अविरतिप्रत्याख्यान, मिथ्यादुष्कृत, ममत्व-त्याग, शरीर के लिए उपालम्भ, शुभभावना, अरहंतादि स्मरण, पापस्थानक, त्याग आदि।

१७. आतुरप्रत्याख्यान- इस प्रकीर्णक में ७१ गाथाएँ हैं। इसे आचार्य वीरभद्रकृत माना जाता है। मरण से सम्बन्धित होने के कारण इसे अन्तकाल प्रकीर्णक भी कहा जाता है। इसे बृहदातुरप्रत्याख्यान भी कहा जाता है। इसमें मरण के बाल, बालपण्डित और पण्डित ये तीन भेद बताये गये हैं। सर्वप्रथम बालपण्डित मरण की व्याख्या करते हुए सम्यग्दृष्टि देशविरत जीव का मरण बालपण्डित मरण कहा गया है। बाल पण्डित मरण करने वाले का वैमानिकों में उपपात एवं सात भव से सिद्धि बतायी गयी है। पण्डितमरण की चर्चा करते हुए उसके तिरेसठ अतिचारों की शुद्धि, जिन वन्दना, गणधर वन्दना और पाँच महाव्रतों के अतिक्रमण का सर्वप्रत्याख्यान करने के पश्चात् संथारे की प्रतिज्ञा की गयी है। पण्डितमरण को उद्देश्य कर भावनाओं का निरूपण और पण्डित मरण की आराधना-विधि

का वर्णन किया गया है। बालमरण के प्रसंग में कहा गया है कि जिनवचन को न जानने वाले बहुत से अज्ञानी बालमरण मरते हैं। ये शस्त्रग्रहण, विषभक्षण, आग से जलने और जल में डूबने से मरते हैं।

१८. **सारावली**- इस प्रकीर्णक में पुण्डरीकगिरि अर्थात् शत्रुञ्जय तीर्थ का स्तवन किया गया है। इस प्रकीर्णक में कुल ११६ गाथाएँ हैं। इसमें प्रारम्भ में कहा गया है कि जिस भूमि पर पंच परमेष्ठियों का विचरण होता है, उसे देव और मनुष्यों के लिए पूज्य माना जाता है। तदनन्तर उत्तम गुणोंवाले पुण्डरीकगिरि पर तीर्थ के उद्भव का विवरण और पुण्डरीक तीर्थ के दर्शन एवं वन्दन का फल निरूपित किया गया है। इसमें पुण्डरीक तीर्थ की उत्पत्ति की कथा के पश्चात् यहाँ सिद्धि प्राप्त करने वाली अनेक आत्माओं का विवरण दिया गया है। पुण्डरीक तीर्थ के दर्शन वन्दन आदि का फल बताते हुए कहा गया है कि जो फल अन्य तीर्थों पर उग्र-तप की साधना से प्राप्त होता है, वही फल शत्रुञ्जय तीर्थ के दर्शन से प्राप्त हो जाता है। जो व्यक्ति शत्रुञ्जय तीर्थ के सभी चैत्यों की विधिपूर्वक पूजा करता है, उसकी देव, असुर और मनुष्य स्तुति करते हैं। ज्ञान और जीवदया के फल का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जो जीव जिनप्रज्ञप्त बचनों पर श्रद्धा न करते हुए तप करता है उस अज्ञानी और मूर्ख व्यक्ति का वह तप शारीरिक क्लेश मात्र है। इसके पश्चात् इसमें दान न देने से दुःख और दान देने से सुखादि का विवेचन है। ग्रन्थानुसार शत्रुञ्जय तीर्थ पर चढ़ते हुए जो व्यक्ति दान देता है उसके समान दानी लोक में दुर्लभ है। अन्त में प्रस्तुत प्रकीर्णकों की प्रतिलिपि करवाने का फल, अत्यधिक यश और सत्कार की प्राप्ति बताया गया है।

१९. **ज्योतिषकरण्डक**- यह प्रकीर्णक स्थविर श्री पादलिप्ताचार्य कृत है। इसमें कुल ४०५ गाथाएँ हैं। ज्योतिषकरण्डक के वृत्तिकार आचार्य श्री मलयगिरि ने अपनी वृत्ति में श्री पादलिप्ताचार्य को रचनाकार बताया है। इससे मुनि पुण्यविजय जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह पादलिप्ताचार्य की रचना है। इसमें ज्योतिष संबंधी २३ अधिकार हैं, ये हैं- १. कालप्रमाण २. माल अधिकार ३. अधिकमास निष्पत्ति ४. अवमरात्र ५-६. पर्व-तिथि समाप्ति ७. नक्षत्र परिमाण ८. चन्द्र-सूर्य परिमाण ९. नक्षत्र, चन्द्र, १०. सूर्य गति ११. मण्डल विभाग १२. अयन १३. आवृत्ति १४ मण्डल मुहूर्तगति १५. ऋतुपरिमाण १६. विषुवत्प्राभृत १७. व्यतिपात प्राभृत १८ ताप क्षेत्र १९. दिवस-वृद्धि-हानि २०. अमावस्या २१. पूर्णिमा प्राभृत २२. प्रणष्टपर्व २३. पौरुषी परिमाण। इन तेईस ही अधिकारों की विषय वस्तु का निरूपण करने के पश्चात् अन्त में शिष्य का विनय वचन और उपसंहार के रूप में ग्रन्थकार श्री पादलिप्ताचार्य के नामोल्लेख पूर्वक ग्रन्थ को पूर्ण किया गया है।

२०. **तित्थोगाली**- तित्थोगाली प्रकीर्णक सभी उपलब्ध प्रकीर्णकों में सबसे विशाल है। इसमें १२६१ गाथाएँ हैं। किसी-किसी प्रति में १२३३ गाथाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इस पुस्तक का विषय प्रस्तुत प्रकीर्णक है। इसके विषयों की चर्चा हम यथास्थान करेंगे।

२१. **प्राचीनाचार्य विरचित आराधनापताका**- प्रस्तुत प्रकीर्णक में कुल ९३२ गाथाएँ हैं। इसमें बत्तीस द्वारों का वर्णन किया गया है। ये बत्तीस द्वार हैं- १ संलेखना द्वार

२. परीक्षा द्वार ३. निर्यापक द्वार ४. योग्यता द्वार ५. गीतार्थ द्वार ६. असंविग्नद्वार ७. निर्जरणा द्वार ८. स्थान द्वार ९. वसतिद्वार १०. संस्तारक द्वार ११. द्रव्यवान द्वार १२. समाधि पानविरेकद द्वार १३. गणिनिसर्ग द्वार १४. चैत्यवन्दन द्वार १५. आनोचनाद्वार १६. व्रतोच्चारद्वार १७. चतुःशरण द्वार १८. दुष्कृतगर्हा द्वार १९. सुकृत अनुमोदना द्वार २०. जीवक्षमणा द्वार २१. संयमक्षमणा द्वार २२. संघक्षमणा द्वार २३. जिनवरादिक्षमणा द्वार २४. आशातना प्रतिक्रमण द्वार २५. कायोत्सर्ग द्वार २६. शक्रस्तव द्वार २७. पापस्थान व्युत्सर्जनद्वार २८. अनशन द्वार २९. अनुशिष्टि द्वार ३०. कवच द्वार ३१. नमस्कार द्वार एवं ३२. आराहनाद्वाफल द्वार। अन्त में आराधना का माहात्म्य बताया गया है।

२२. श्री वीरभद्राचार्य विरचित आरधना पताका- इस प्रकीर्णक में ९८९ गाथाएँ हैं। इसमें समाधिमरण का सांगोपांग विवरण उपलब्ध है। इसमें पहले मरण के भेद-प्रभेद का वर्णन है। समाधिमरण के सविचार और अविचार दो भेदों में से सविचार भक्तपरिज्ञा मरण का विस्तार से विवेचन किया गया है। विषय को चार द्वार- १. परिकर्मविधि द्वार २. गणसंक्रमण द्वार ३. ममत्व उच्छेद द्वार एवं ४. समाधिलाभ द्वार में विभक्त कर पुनः इन्हें प्रतिद्वारों में विभक्त किया गया है।

प्रथम परिकर्मविधि द्वार के- १. अर्हत २. लिंग ३. शिक्षा ४. विनय ५. समाधि ६. अनियतविहार ७. परिणाम ८. त्याग ९. शीति १०. भावना और ११. संलेखना हैं।

दूसरे गण संक्रमण द्वार के- १. दिशा २. क्षमणा ३. अनुशिष्टि ४. परगणचर्या ५. सुस्थित गवेषणा ६. उपसंपदा ७. परिज्ञा ९. प्रतिलेखा एवं १०. प्रतीच्छा प्रतिद्वार हैं।

तीसरे ममत्व उच्छेद द्वार में- १. आलोचना २. गुण-दोष ३. शय्या ४. संस्तारक ५. निर्यामक ६. दर्शन ७. हानि ८. प्रत्याख्यान ९. क्षमणा एवं १०. खमण- ये दस प्रतिद्वार हैं। अंतिम चतुर्थ समाधिलाभ द्वार में आठ प्रतिद्वार इस प्रकार हैं- १. अनुशिष्टि २. सारणा ३. कवच ४. समता ५. ध्यान ६. लेश्या ७. आराधना फल और ९. विजहान।

सविचार भक्तपरिज्ञामरण के पश्चात् अविचार भक्तपरिज्ञामरण का निरूपण है। इसके १. निरुद्ध २. निरुद्धतर तथा ३. परमनिरुद्ध तीन भेद करके वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् ईगिनीमरण का वर्णन आता है। अन्त में पादपोपगमन मरण का वर्णन किया गया है।

२३. आराधनासार या पर्यन्ताराधना- इस प्रकीर्णक में कुल २६३ गाथाएँ हैं। इसमें मंगलाचरण के पश्चात् पर्यन्ताराधना के चौबीस द्वारों का नाम-निर्देश किया गया है। ये चौबीस द्वार निम्न प्रकार हैं- १. संलेखना २. स्थान ३. विकटना ४. सम्यक् ५. अणुव्रत ६. गुणव्रत ७. पापस्थान ८. सागार ९. चतुःशरण गमन १०. दृष्कृतगर्हा ११. सुकृतानुमोदन १२. विषय १३. संघादि १४. चतुर्गति जीवक्षमणा १५. चैत्य-नमनोत्सर्ग १६. शुभध्यान १७. निदान २३. अतिचार और २४. फलद्वार। आगे इन चौबीस द्वारों का विवेचन किया गया है।

२४. आराधना पंचकम्- प्रस्तुत प्रकीर्णक कोई स्वतंत्र रचना नहीं है, बल्कि यह कुवलयमाला (उद्योतनसूरि) के अंतर्गत अन्तकृतकेवली कृत कर्मझूषण का निरूपण है।

२५. आराधना प्रकरण- इस प्रकीर्णक के कर्ता श्री अभयदेव सूरि हैं। इसमें कुल

८५ गाथाएँ हैं। इसमें मरणविधि को छह द्वारों में विभक्त किया गया है। ये हैं- १. आलोचना २. व्रतोच्चार ३. क्षमापणा ४. अनशन ५. शुभभावना और ६. नमोक्कार भावना।

आलोचना द्वार में विविध तपों, व्रतों आदि के करते समय या विराधना होने पर सम्यक् आलोचना करने के विधान को स्पष्ट किया गया है। द्वितीय व्रतोच्चार द्वार में साधुओं द्वारा शल्यों को दूर कर महाव्रतों के भावपूर्वक उच्चारण का उल्लेख किया गया है। तृतीय क्षमापणा द्वार में आराधक द्वारा किये जाने वाले चतुर्विध संघ या संसार के अन्य जिस जीव के प्रति मोहवश अपराध हुआ है, क्षमापणा का वर्णन है। चतुर्थ अनशन द्वार में सर्वप्रकार का आहार त्याग कर अनशन करने का निरूपण किया गया है। पंचम शुभ भावना द्वार में एकत्व आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करने का निर्देश है। षष्ठ द्वार में पंच परमेष्ठियों की वन्दना करते हुए नमोक्कार मंत्र का महात्म्य बताया गया है।

२६. जिनशेखर श्रावक प्रति सुलसा श्रावक आराधित आराधना- इस प्रकीर्णक में ७४ गाथाओं में प्रत्यासन्न मरण-प्रेरण अर्थात् अन्त सन्निकट होने पर अनशन की प्रेरणा, अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का स्वरूप, निरूपण एवं उनकी वन्दना नमस्कार-महात्म्य, मंगल-चतुष्क, लोकोत्तम चतुष्क, शरणचतुष्क, आलोचना और व्रतोच्चार का निर्देश है। अन्त में सब जीवों की क्षमापणा तथा वेदना सहने और अनशन करने का उपदेश है।

२७. नन्दन मुनि आराधित आराधना- यह प्रकीर्णक संस्कृत में है। इसमें कुल ४० श्लोक हैं। इसमें नन्दनमुनिकृत दुष्कृगर्हा, समस्त जीव क्षमापणा, शुभभावना, चतुःशरण ग्रहण, पंचपरमेष्ठि नमस्कार और अनशन प्राप्त करने रूप छह प्रकार की आराधना की चर्चा है। इसमें आठ प्रकार के ज्ञानाचार, आठ प्रकार के दर्शनाचार, सूक्ष्म एवं बादर जीवों के प्रति हिंसा, सभी प्रकार के मृषावाद, अदत्तदान, तिर्यच मनुष्य और देवविषयक मैथुन, लोभ और दोष, धन-धान्य पशु आदि विषयक परिग्रह, सचित्त पुत्रादि, अचित्त धन-धान्य और गृह में ममत्व की तीन करण और तीन योग से निन्दा की गयी है। इन्द्रियों के वश होकर चार प्रकार के आहार ग्रहण में तथा रात्रि भोजन में दोष का, चरित्राचार के विषय में दूषित आचरण, अभ्यनतर और बाह्य-तप के विषय में अतिचार तथा धर्मानुष्ठान के संबंध में वीर्याचार के अतिचार की निन्दा तीन प्रकार से की गयी है। सभी प्रकार के अपराध, कुवचन तथा अभद्र व्यवहार के लिए सारे लोगों से क्षमायाचना का वर्णन है। शुभभावना क्रम में जिनकथित धर्म को एकमात्र शरण प्ररूपित किया गया है। अन्त में भावभीरुओं के लिए उपरोक्त षड्विध आराधना करने का निर्देश किया गया है।

२८. आराधनाकुलकम्- सभी प्रकीर्णकों में यह सबसे छोटा प्रकीर्णक है। इसमें कुल आठ गाथाएँ हैं। इसमें आराधक द्वारा आराधना व्रत का उच्चारण करते हुए सभी जीवों से क्षमापणा, अठारह पाप स्थानों का त्याग, राग-द्वेष और मोहवश तीन करण और तीन योग से इस भव और पर भव में जो धर्मविरुद्ध कृत्य हैं, उनकी निन्दा, सुकृत अनुमोदन, चतुःशरणग्रहण और एकत्वभावना का निर्देश किया गया है।

२९. मिथ्यादुष्कृत कुलक- प्रस्तुत प्रकीर्णक में कुल १५ गाथाएँ हैं। इसमें आराधक द्वारा समस्त जीवों के प्रति क्षमापना की गयी है, इसके बाद चारों गतियों के समस्त जीवों

से अलग-अलग क्षमापना की गयी है। पुनः पंचपरमेष्ठियों की निन्दा के लिए क्षमापना, दर्शन-ज्ञान-चरित्र और सम्यक्त्व की विराधना हेतु निन्दा, चतुर्विध संघ की अवमानना, महाव्रतों और अणुव्रतों के प्रति जो स्खलना है, उसकी निन्दा की गयी है।

३०. मिथ्यादुष्कृत कुलक- इसमें कुल १७ गाथाएँ हैं। इसमें पहले मिथ्यादुष्कृत कुल से विषय की समानता है। विभिन्न भवों में माता, पिता, पत्नी, मित्र, पुत्र और पुत्रियाँ, जिन्हें इस समय त्याग किया जा रहा है, उनके प्रति मिथ्या दृष्कृत कहा गया है। इसके बाद राग-द्वेषवश जीवों का वध, मृषावाद भाषण, परिग्रह अशनादि भोजन, इहलोक तथा परलोक में मिथ्यात्व मोह से मूढ हो साधुओं की सेवा, सधार्मिक वात्सल्य, चतुर्विध संघ की अभक्ति तथा चारों गतियों के जीवों के प्रति कृत पापों के लिए मिथ्या दुष्कृत किया गया है।

३१. आलोचना कुलक- इस प्रकीर्णक में १२ गाथाएँ हैं। इसमें विविध दुष्कृतों की आलोचना की गयी है। इसमें जिन प्रणीत ज्ञान, दर्शन, चरित्र, मूलगुण उत्तरगुण के अतिचार, रागद्वेष और चारों कषायों के वशीभूत किये गये कृत्य, दर्प, प्रमादयुक्त कृत्य, अज्ञान, मिथ्यात्व, विमोह और कलुषता के कारण हुए कृत्य एवं जिनवचन साधु-अशातना और अविनय की मन, वचन और काय से निन्दा की गयी है। आगे इन्द्रियों के वशीभूत होकर किये गये कार्यों की आलोचना एवं अंतिम गाथा में आलोचना का महात्म्य बताया गया है।

३२. आत्मविशुद्धि कुलक- इस प्रकीर्णक में चौबीस गाथाओं में विविध दुष्कृतों की निन्दा, आराधक द्वारा आत्म-विशुद्धि के लिए की गयी है। आराधक, अरहंत, सिद्ध गणधर प्रमुखों के सम्मुख खड़े होकर अपने दुश्चरितों की समालोचना करता है। प्रमादवश ज्ञान के अतिचार, वाचनों में हुई अश्रद्धा हास-परिहास में मृषावाद भाषण आदि के लिए निन्दा की गयी है। लोभवश अदत्तादान मैथुनभाव सचित्त-अचित्त का परिग्रह वश ग्रहण रात्रि भोजन, दुश्चरित्रता आदि के लिए तीन करण और तीन योग से निन्दा है। इसमें आहार और समस्त शारीरिक क्रियाओं के त्याग का निर्देश है। अंत में आलोचना द्वारा आत्मविशुद्धि का महात्म्य है।

इन उपलब्ध एवं मान्य ३२ प्रकीर्णकों में तित्थोगाली प्रकीर्णक सबसे बृहदाकार है। इसमें कुल १२६१ गाथाएँ हैं। यह प्रकीर्णक ४६ आगम अंतर्गत मान्य १० प्रकीर्णक से पृथक् है। इसमें मुख्य रूप से जैन इतिहास, भूगोल, खगोल, कालगणना, उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल को सुषमा आदि आरों में विभक्त कर उनमें होने वाले परिवर्तन तथा धर्म की हानि और वृद्धि एवं विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले तीर्थकर, चक्रवती, बलदेव, वासुदेव का वर्णन तथा वहाँ धर्म की स्थिति का व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इतिहास की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण तथ्य को उजागर करता है। इसमें पंचम दुषमा आरा का प्ररूपण करते हुए शक राजा का उल्लेख आया है। इसमें भगवान् महावीर के निर्वाण के छः सौ पाँच वर्ष बीतने पर शक राजा की उत्पत्ति बतायी गयी है। शक राजा के १३२३ वर्ष बीतने पर दुष्ट बुद्धि राजा (कल्की) का जन्म तथा उसके अत्याचारों का रोमांचकारी वर्णन किया गया है। इसी वंश परम्परा में दत्त, पालक, मौर्य, पुष्यमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, नभःसेन,

गर्दभ तथा शकवंशी राजा का वर्णन किया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में मात्र तित्थोगाली प्रकीर्णक ही ऐसा है जिसमें आगम ज्ञान के क्रमिक उच्छेद की बात कही गयी है। इन सभी बिन्दुओं पर पुस्तक में यथास्थान विचार किया गया है।

(ग) रचयिता एवं रचनाकाल

जहाँ तक प्रकीर्णकों के रचनाकाल का संबंध है, लम्बे अंतराल तक इनकी रचनाएँ चलती रही। इसकी प्राचीनता का प्रमाण नंदी सूत्र में उनका प्राप्त होना है। परन्तु प्रकीर्णकों की रचना इसके बाद भी होती रही। इसमें वीरभद्राचार्य कृत आतुरप्रत्याख्यान ग्यारहवीं शताब्दी के हैं, जो अंतिम काल के प्रकीर्णक कहे जा सकते हैं। सबसे प्राचीन प्रकीर्णक ऋषिभाषित है जो संभवतः आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के वाचनाकाल के समानान्तर रचित है। प्रस्तुत तित्थोगाली प्रकीर्णक का उल्लेख नंदीसूत्र में उपलब्ध आगमों की सूची में नहीं है, परन्तु ७वीं शताब्दी के ग्रन्थ व्यवहार भाष्य (जिनदासगणि श्रमाश्रमण) में प्राप्त होता है। अतः इसका रचनाकाल नंदीसूत्र (४वीं शताब्दी) के बाद और व्यवहार भाष्य के पूर्व होना चाहिए।

जिस प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक के रचनाकाल के विषय में इस ग्रन्थ में कुछ भी उल्लेख नहीं है। इसी तरह इसके कर्ता का भी अन्यत्र या इस ग्रंथ में भी कहीं भी उल्लेख नहीं है। कहीं भी इस संबंध में विशेष उल्लेख नहीं होने से इसका वास्तविक निर्माणकाल तथा कर्ता का नाम निश्चित करना कठिन है, तो भी कुछ ऐसे उल्लेख इसमें मौजूद हैं जिनके आधार पर इस ग्रंथ को विक्रम की पाँचवी सदी के आसपास पाटलिपुत्र में रचित हुआ अनुमान लगाया जा सकता है। कल्कि राजा की उत्पत्ति के संबंध में इसमें एक ६३५वीं गाथा इस प्रकार है-

“जं एयं वरनगरं, पाटलिपुत्रं तु विस्सुअं लोए।

एत्थं होही राया, चउमुहो नाम नामेण॥

इस गाथा के ‘एयं’ और ‘एत्थं’ शब्द-प्रयोगों ने इसके लेखक के पाटलिपुत्र में रहकर इस प्रकीर्णक की रचना करने का अनुमान किया है। राजवंशों की समापित सूचक एक ८०४वीं गाथा इस प्रकार है-

“ता एवं सगवंसो य नंदवंसो य मरुयवंसो य।

सयराहेण पण्ड्रा समयं सज्झाणवंसेण॥

इसमें नंदवंश, मौर्य वंश और शकवंश के अंत का निर्देश है। विक्रम की चौथी सदी के पूर्वार्ध में ही शक साम्राज्य का अंत और गुप्त साम्राज्य का उदय हो चुका था। प्रकीर्णककार शक वंश के नाश का उल्लेख तो करते हैं, पर उसके नाशक गुप्त राजवंश के बारे में कुछ भी इशारा नहीं करते। इससे यह अनुमान होता है कि गुप्तवंश उनके समय में अपने को स्थापित करने में लगा रहा होगा। इन प्रमाणों से इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की चौथी सदी के अंत और पाँचवी सदी के प्रारंभ के बीच होने का अनुमान किया जा सकता है।

३६ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

संदर्भ ग्रंथ

१. जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन- भूमिका में डा० सागरमल जैन
२. जयधवला पृ०-९, धवला वगणाखण्ड भाग-१-३, पृ०-३७१,
३. सुखबोध समाचारी- श्रीचन्द्रसूरि- अणुहाणविहि, पृ०-३१, व-३२अ
४. जैन साहित्य का बृहत इतिहास, भाग-१, पृ०-८
५. जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन, आचार्य जयन्तसेन सूरि, पृ०-१११
६. वही, पृ०-२१८
७. समवायांग सूत्र- मुनिमधुकर- समवाय ८४
८. अंगबाहिचोद्दसपइण्यज्झाया-धवला, पुस्तक-१३, खण्ड-५, भाग-५
९. पइण्यसुत्ताई, भाग-२, मुनि पुण्यविजय, प्रका० महावीर जैन विद्यालय, बम्बई प्रस्तावना, पृ०-२०-२१
१०. पाक्षिक सूत्र, पृ०-७८

द्वितीय अध्याय काल-चक्र विवेचन

यद्यपि लोक में घंटा, दिन, वर्ष आदि को ही काल कहने का व्यवहार प्रचलित है, पर यह व्यवहार काल है, वस्तुभूत नहीं। यह परमाणु अथवा सूर्य आदि की गति के कारण या किसी भी द्रव्य की भूत, वर्तमान, भावी पर्यायों के कारण अपनी कल्पनाओं में आरोपित किया गया काल है। वस्तुभूत काल तो वह सूक्ष्म द्रव्य है जिसके निमित्त से ये सर्व द्रव्य गमन अथवा परिणमन कर रहे हैं। यदि वह न हो तो इनका परिणमन भी न हो, और उपर्युक्त प्रकार आरोपित काल का व्यवहार भी नहीं होगा। यद्यपि वर्तमान व्यवहार में सेकेण्ड से वर्ष अथवा शताब्दी तक ही काल का व्यवहार प्रचलित है, परन्तु जैन दर्शन में उसकी जघन्य सीमा 'समय' है और उत्कृष्ट सीमा 'युग' है। समय से छोटा काल संभव नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म पर्याय भी एक समय में जल्दी नहीं बदलती। एक युग में उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी ये दो कल्प होते हैं, और एक में दुःख से सुख की ओर वृद्धि और दूसरे में सुख से दुःख की ओर हानि रूप दुषमा, सुषमा आदि छह-छह काल कल्पित किये गये हैं। इन कालों या कल्पों का प्रमाण कोडाकाडी सागरों में मापा जाता है। दोनों कल्पों को मिलाने पर बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण एक कल्पकाल होता है।

जैन आगमों में काल को सामान्य निश्चय रूप में विभाजित किया गया है। सामान्य और विशेष काल का लक्षण निरूपित करते हुए धवलाकार कहते हैं- 'सत् सामान्य रूप परिणमन की विवक्षा से काल, सामान्य काल कहलाता है तथा सत् के विवक्षित द्रव्य गुण का पर्याय रूप अंशों के परिणमन की अपेक्षा से जब काल की विवक्षा होती है तो वह विशेष काल कहलाता है। जैन आगमों में काल का सर्वप्रथम उल्लेख स्थानांग में प्राप्त होता है। यद्यपि समय की दृष्टि से प्राचीन होने के कारण भगवती सूत्र को ही प्रथम कहा जा सकता है। बाद में काल सम्बन्धी विस्तृत विवेचन जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में प्राप्त होता है।

(क) जैन आगमों में काल की अवधारणा और तित्थोगाली

जैन आगमों में काल की व्याख्या अति सूक्ष्म रूप से की गयी है। काल स्वरूप का विवेचन करते हुए अनुयोग द्वार सूत्र^१ में कहा गया है- "काल समवतार" दो प्रकार का है- १. आत्म समवतार और २. उभय समवतार। समय, आत्म स्वरूप से आत्मभाव में समवतरित होता है और आवलिका उभय स्वरूप एवं आत्मभाव से समवतरित होता है। सागरोपम आत्म-स्वरूप से आत्मभाव में समवतरित होता है और आत्मभाव में भी समवतरित होता है। अवसर्पिणियाँ आत्मस्वरूप से आत्मभाव में समवतरित होती हैं। पुद्गल परिवर्तन में उभय स्वरूप में अवतरित होती हैं। पुद्गल- परिवर्तन आत्मस्वरूप से आत्मभाव में समवतरित होता है। अतीत और अनागत आत्मस्वरूप से आत्म-

समवतरित होता है। सर्वकाल उभय स्वरूप से आत्मभाव में समवतरित होते हैं।” तिलोयपण्णत्ति के अनुसार-“स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से रहित, अगुरुलघु गुण से सहित और वर्तमान लक्षण से संयुक्त, यह काल का स्वरूप है”।^२

जैन दर्शन में काल तीन प्रकार का कहा गया है-१. अतीत २. प्रत्युत्पन्न और ३. अनागत। अन्य प्रकार से काल को चार प्रकार का कहा गया है- १. प्रमाण काल २. आयुनिवृत्ति काल, ३. मरणकाल और ४. अद्धाकाल।

१. प्रमाण काल-यह दिवस प्रमाण काल और रात्रिप्रमाण काल में विभाजित है। यह दिवस और रात्रि चार-चार पौरुषी का होता है। इनकी जघन्य पौरुषी तीन मुहूर्त तथा उत्कृष्ट पौरुषी चार मुहूर्त होती है।

२. आयुनिवृत्ति काल-जिस किसी नैरयिक, तिर्यक योनिक मनुष्य अथवा देव ने जिस प्रकार की आयु बांधा है, वह उसे उसी प्रकार भोगे, यह आयुनिवृत्ति काल है।

३. मरणकाल-शरीर से जीव का या जीव से शरीर का वियोग मरणकाल है।

४. अद्धाकाल-अद्धाकाल अनेक प्रकार का है। यथा-समय रूप, आवलिका रूप-यावत् उत्सर्पिणी रूप।

तीसरे प्रकार से काल दो प्रकार का है- १. प्रदेश निष्पन्न और २. विभाग निष्पन्न।^३

१. प्रदेश निष्पन्न-एक काल प्रदेश से निष्पन्न-एक समय की स्थिति वाला, (परमाणु या स्कन्ध) इसी प्रकार दो समय की स्थिति वाले यावत् दस समय की स्थिति वाले तथा असंख्य समयों की स्थिति वाले (परमाणु या स्कन्ध) प्रदेश निष्पन्न कहे गये हैं।

२. विभाग निष्पन्न-१. समय २. आवलिका ३. मुहूर्त ४. दिवस ५. अहोरात्र ६. पक्ष ७. मास ८. संवत्सर ९. युग १०. पल्य ११. सागर और १२. परावर्तन-इन काल विभागों से निष्पन्न (परमाणु या स्कन्ध) विभाग निष्पन्न कहे गये हैं।

अन्य प्रकार से काल दो प्रकार का कहा गया है- १. गणित काल तथा २. औपमिक काल।

१. गणित काल-गणित काल का विवेचन शृंखलाबद्ध तरीके से इस प्रकार है-जैन काल गणना की सबसे छोटी इकाई 'समय' है। समय को पुनः विभाजित नहीं किया जा सकता है।

१. 'समय' का निरूपण करते हुए कहा गया है कि एक पटसाटिका को अत्यधिक तीव्रता से फाड़ते समय उस साटिका के सबसे ऊपरी तन्तु के एक पक्ष के एक संघात (सूक्ष्म कण) को छिन्न होने में लगे काल से भी सूक्ष्मतर 'समय' है। २. असंख्य 'समयों' का एक आवलिका। ३. संख्ये आवलिका जितना एक उच्छ्वास-निश्वास "प्राण" है। ६. सात प्राण = एक "स्तोक"। ७. सात स्तोक = एक "लव"। ८. सतहत्तर लव = एक "मुहूर्त" या ९. ३७७३ उच्छ्वास-निश्वास या ४८ मिनट। १०. तीस मुहूर्त = एक अहोरात्र। ११. पन्द्रह अहोरात्र = एक पक्ष। १२. दो पक्ष = एक मास। १३. दो मास =

एक ऋतु । १४. तीन ऋतु = एक अयन । १५ दो अयन = एक संवत्सर (वर्ष) । १६. पाँच संवत्सर = एक युग । १७. बीस युग = सौ वर्ष । १८. दस सौ वर्ष = एक हजार वर्ष । १९. चौरासी लाख वर्ष = एक पूर्वांग । २०. चौरासी लाख पूर्वांग = एक पूर्व । २१. चौरासी लाख पूर्व = एक त्रुटितांग । २२. चौरासी लाख त्रुटितांग = एक त्रुटित । २३. चौरासी लाख त्रुटित = एक अडडांग । २४. इसी प्रकार प्रत्येक चौरासी लाख की गुणवृद्धि पर अडड, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अक्षनिकुरांग, अक्षनिकुर, अयुतांग, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्ष प्रहेलिकांग, शीर्ष प्रहेलिका आदि काल की ईकाईयाँ हैं ।

२. औपमिक काल-औपमिक काल दो प्रकार का होता है-क. पल्योपम और ख. सागरोपम ।

क. पल्योपम-पल्योपम का स्वरूप इस प्रकार है-तीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन शक्य नहीं है, ऐसे परमाणु को सभी प्रमाणों का आदि प्रमाणों कहा गया है । अनन्त परमाणु पुद्गलों का समुदाय एक "उच्छलक्षणश्लक्ष्णिका" ।

आठ उच्छलक्षणश्लक्ष्णिका = "श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका" है ।

आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका = एक "उध्वरेणु" ।

आठ उध्वरेणु = एक "त्रसरेणु" ।

आठ त्रसरेणु = एक "रथरेणु" ।

आठ रथरेणु = देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों का एक बालाग

देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यों के आठ

बालाग = हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष के मनुष्यों का एक बालाग ।

हरिवर्ष-रम्यक्वर्ष के मनुष्यों के आठ बालाग = हैमवत्-हैरण्यवत् के मनुष्यों का एक बालाग ।

हैमवत्-हैरण्यवत् के मनुष्यों के आठ बालाग = पूर्व महाविदेह के मनुष्यों का एक बालाग

पूर्वमहाविदेह के मनुष्यों का आठ बालाग = एक "लिक्षा" ।

आठ लिक्षा = एक "यूका" ।

आठ यूका = एक "यवमध्य" । यवमध्य = एक "अंगुल" ।

छः अंगुल = एक "याद" ।

बारह अंगुल = एक "वेत" । चौबीस अंगुल = एक "हाथ" ।

छियानवे अंगुल = एक "दण्ड" ।

इसी प्रकार धनुष, यूप, नालिका और मूसल भी छियानवे अंगुल के होते हैं ।

इस धनुष से दो हजार धनुष जितना एक "गाउ" और चार गाउ का एक "यो" होता है । इस योजन प्रमाण से एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा एक योजन ऊँचा

अधिक तिगुन परिधिवाला पल्य (गड्ढे) को एक दिन, दो दिन, तीन दिन उत्कृष्ट सात दिन के उगे हुए करोड़ों बालाग्रों से ठसाठस भरा जाये। वे बालाग्र अग्नि में न जले, वायु से न उड़े, पानी से न गले, न कष्ट हो और न सड़े। उस पल्य से सौ-सौ वर्ष के अन्तराल पर एक-एक बालाग्र निकाला जाये। निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, अपहृत हो, निरज हो, निर्मल हो, सर्वथा रिक्त हो, निर्लेप हो, विशुद्ध हो-उतना काल पल्योपम कहा जाता है।^४

पल्योपम तीन प्रकार का है-१. उद्धार पल्योपम २. अद्धा पल्योपम एवं ३. क्षेत्र पल्योपम।

१. उद्धार पल्योपम-यह दो प्रकार का है-(क) सूक्ष्म उद्धार पल्योपम (ख) व्यावहारिक उद्धार पल्योपम।

(क) सूक्ष्म उद्धार पल्योपम-उपर्युक्त प्रकार के बालाग्रों के इतने छोटे असंख्य खण्ड करे कि सूक्ष्म पनक जीव के शरीर की अवगाहना से भी छोटे हों। उनमें से प्रत्येक समय में एक-एक बालाग्र निकालने से पूर्ण रूप से उस पल्य के खाली हो जाने में लगा समय एक सूक्ष्म उद्धार पल्योपम है। ऐसे दस कोटाकोटी पल्य का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है। इन सूक्ष्म पल्योपम-सागरोपम से द्वीप-समुद्रों के परिमाण का ज्ञान होता है। अनुयोगद्वार सूत्र में इसका विस्तार से प्ररूपण किया गया है।

(ख) व्यावहारिक उद्धार पल्योपम-उत्कृष्ट सात दिन के बड़े बालाग्रों से ठसाठस भरे उपर्युक्त परिमाण के पल्य से एक-एक समय में एक-एक बालाग्र निकालने में लगा काल एक व्यावहारिक उद्धार पल्योपम है। ऐसे दस कोडाकोडी पल्यों का एक व्यावहारिक उद्धार सागरोपम होता है।

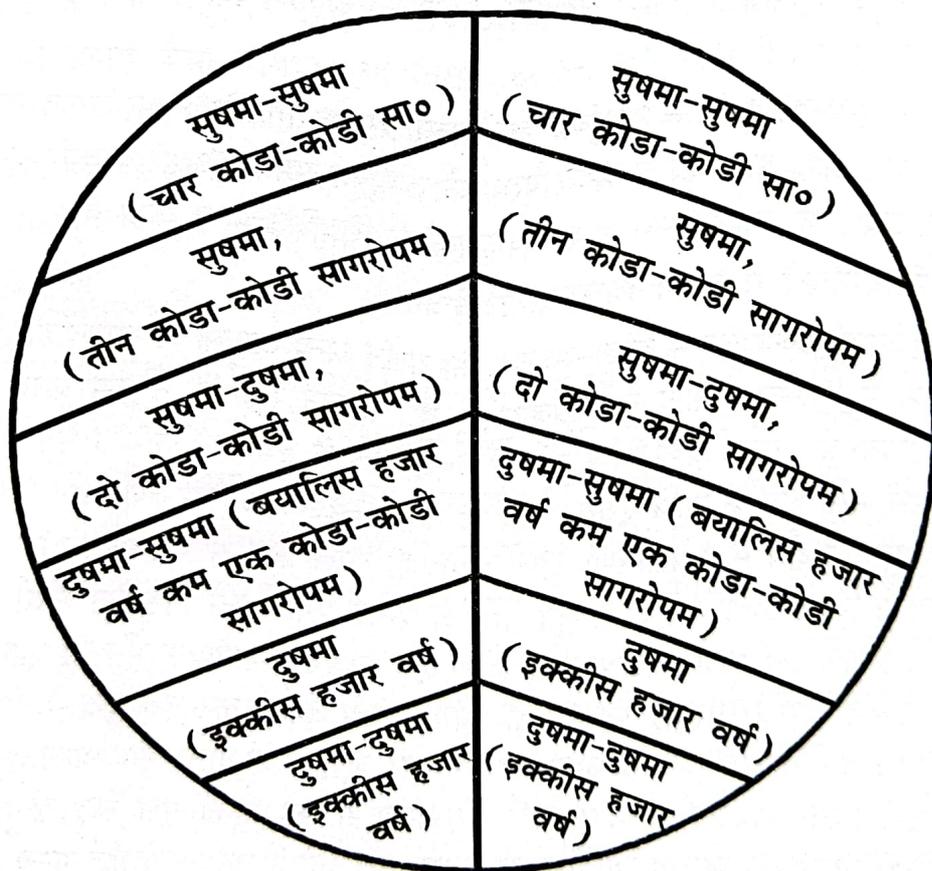
२. अद्धा-पल्योपम-यह दो प्रकार का है-(क) व्यवहारिक अद्धापल्योपम (ख) सूक्ष्म अद्धापल्योपम

(क) व्यवहारिक अद्धा पल्योपम-उपर्युक्त परिमाण वाले पल्य (गड्ढे) में उत्कृष्ट सात दिन के बड़े हुए बाल को ठसाठस भरे। अनन्तर सौ-सौ वर्ष के अन्तराल पर एक-एक बालाग्र निकालते हुए पल्य (गड्ढे) के पूर्ण खाली होने में जो समय लगे, वह व्यावहारिक अद्धापल्योपम है। व्यवहारिक दस कोडाकोडी पल्यों का एक व्यवहारिक अद्धा सागरोपम होता है।

(ख) सूक्ष्म अद्धा पल्योपम-उपर्युक्त परिमाण के पल्य को उत्कृष्ट सात दिन तक के उगे बालाग्रों से भरें। प्रत्येक बालाग्र को असंख्य खण्ड करें। पुनः उन दिखाई देने वाले बालाग्रों में से प्रत्येक बालाग्र के इतने छोटे असंख्य खण्ड करें कि सूक्ष्म पनक जीव के शरीर की अवगाहना से भी असंख्य गुण छोटे हो जाएँ। उनमें से एक-एक खण्ड को सौ-सौ वर्ष के अन्तराल पर निकालते हुए जितने समय में वह पल्य रिक्त हो जाये वह सूक्ष्म अद्धा पल्योपम है। ऐसे दस कोडाकोडी पल्य जितना काल एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम का प्रमाण है। इन सूक्ष्म अद्धा पल्योपम एवं सागरोपम से नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों का आयुष्य मापा जाता है^५।

सागरोपम-औपमिक काल-प्रमाण के दूसरे भेद सागरोपम का स्वरूप तित्थोगाली और स्थानांग सूत्र में है। इस प्रकार निरूपित किया गया है। दस कोडाकोडी पल्योपम जितना एक सागरोपम होता है। चार कोडाकोडी सागरोपम जितना अवसर्पिणी का प्रथम आरा सुषमा-सुषमा होता है। तीन कोडाकोडी सागरोपम जितना अवसर्पिणी का द्वितीय सुषमा आरा होता है। दो कोडाकोडी सागरोपम जितना सुषमा-दुषमा आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपम जितना चतुर्थ दुषमा-सुषमा और इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का क्रमशः दुषमा और अतिदुषमा आरा कहा गया है।

इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल में विपरीत क्रम से काल का प्रमाण चलता है। अर्थात् उत्सर्पिणी काल का प्रथम अतिदुषमा और द्वितीय दूषमा आरा इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का होता है। इसी तरह अन्य आरे भी अवसर्पिणी के समान समय वाले ही होते हैं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी दोनों दस-दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार दोनों को मिलाकर बना एक 'काल-चक्र' बीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण का होता है। इसे एक चित्र द्वारा स्पष्ट किया जाता है-



दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भी काल विषयक प्ररूपण समान है। केवल कुछ नामों में अन्तर है। यह अन्तर न केवल दोनों परम्परा में बल्कि एक परम्परा के ही ग्रन्थों में भी है। इनमें तिलोयपण्णत्ति, अनुयोगद्वार, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति (दिगम्बर), जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति (श्वेताम्बर) एवं ज्योतिषकरण्डक प्रमुख हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में काल-विषयक अति काल्पनिक और गणना से परे मीमांसा की गयी है। इसका कारण मेरे विचार से यह हो सकता है कि तत्कालीन परिस्थिति में वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में युग, मन्वन्तर इत्यादि काल विषयक जो कपोल कल्पनाएँ की जा रही थी, उन परम्पराओं की बराबरी में अपने को उत्कृष्ट और अधिक सूक्ष्म चिन्तक सिद्ध करने के लिए जैनों ने उनसे होड़ ली जिसका परिणाम यह हुआ कि मानव मस्तिष्क की पहुँच से दूर तक की कपोल-कल्पनाएँ जैन विद्वानों ने कर डाली।

इसका अनुमान उपर्युक्त विवरण के अलावा त्रिलोकप्रज्ञप्ति और राजवार्तिक में दिये अंकों में इन काल परिमाणों के समय से भी लगाया जा सकता है। यहाँ व्यवहार पल्य के एक वर्ष को १-७ दिन के उत्तम भोगभूमिज भेड़ बच्चे के ४१३४, ५२६३, ०३०८, २०३१, ७७७४, ९५१२, १९२०००००००००००००००००००० बालाग्र × १०० वर्ष के बराबर बताया गया है।

व्यवहार पल्य को उपर्युक्त प्रमाण वर्ष × २ × ३ × २ × २ × १५ × ३ × २ × ३८ १/२ × ७ × ७ × आवली प्रमाण संख्यात × (जघन्य युक्तासंख्यात) समय का कहा गया है।

उद्धार पल्य के समय = उपर्युक्त ४५ अक्षर प्रमाण रोमराशि × असंख्यात करोड़ वर्ष का कहा है। अद्धा पल्य को = उद्धार पल्य के उपर्युक्त समय × असंख्य वर्ष कहा है तथा व्यवहार उद्धार या अद्धा समय = १० कोडाकोडी विवक्षित पल्य कहा है।

(ख) तित्थोगाली में काल विषयक विवेचन

तित्थोगाली प्रकीर्णक में काल-स्वरूप का वर्णन अन्य आगमों के समान ही है। इसमें कहा गया है—“काल अनादि तथा प्रवाहमान है, भगवान् महावीर ने उसे बारह आरों में निर्दिष्ट किया है। काल द्रव्यार्थिक नय से नित्य होता है तथा पर्यायार्थिक नय से अनित्य है”^६ इसमें भरत क्षेत्र के साथ ऐरावत क्षेत्र के काल-स्वरूप का भी वर्णन है। “भरत क्षेत्र के साथ ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल क्रम से परिवर्तित होता रहता है, शेष क्षेत्र में स्थिर रहता है”^७ प्रस्तुत ग्रन्थ में काल-प्रमाण को निरूपित करते हुए एक पल्य का प्रमाण इस प्रकार बताया गया है—“एक योजन विस्तीर्ण कुएँ को, एक दिन के उत्पन्न बालक (सद्यः प्रसूत) के करोड़ों को असंख्य टुकड़े कर उन टुकड़ों से ठसाठस भरा जाए। तब सौ-सौ वर्ष के अन्तराल पर उस कुएँ में से एक-एक बालाग्र निकाला जाए। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने समय में वह कुआँ पूर्ण रूप से खाली हो जाए। उसे एक पल्य जानना चाहिए। ऐसे दस कोडाकोडी पल्य (करोड़ पल्य × करोड़ पल्य) का परिमाण एक सागरोपम प्रमाण होता है। दस कोडाकोडी सागरोपम का एक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी-ये दोनों ही काल अनादि अनन्त हैं।^८ इनमें अवसर्पिणी काल अनुलोम (ऊपर से नीचे) तथा उत्सर्पिणी प्रतिलोम (नीचे से ऊपर) चलता है। भरत क्षेत्र में अवसर्पिणी काल में छः कालसमय (आरा) निर्दिष्ट हैं। ये आरे हैं— १. सुषमा-सुषमा २. सुषमा ३. सुषमा-दुषमा ४. दुषमा-सुषमा ५. दुषमा और ७. अतिदुषमा। उत्सर्पिणी काल में ये सारे विपरीत क्रम से प्रवर्तित होते हैं। इनमें सुषमा-सुषमा काल का प्रमाण चार

कोडाकोडी सागरोपम, सुषमा का तीन कोडाकोडी सागरोपम, सुषमा-दुषमा काल का दो कोडाकोडी सागरोपम, दुषमा-सुषमा काल का बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरोपम एवं दुषमा और छठा अतिदुषमा आरा का प्रमाण इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण है। इस तरह तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी कालस्वरूप जैन मान्यतानुसार ही निरूपित है।

(ग) अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, कर्मभूमि, सुषमा-दुषमा आदि का विवेचन

जैन काल-चक्र के भाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। इसका विस्तृत विवेचन ऊपर किया गया है। जैन परम्परा में इस काल-चक्र की अवधारणा वैदिक परम्परा के युग विभाजन के समान है। वैदिक परम्परा में चार युगों की कल्पना की गयी है— १. कृतयुग २. त्रेता ३. द्वापर और ४. कलयुग। इनका काल-प्रमाण अलग-अलग निर्दिष्ट है। वैदिक मान्यतानुसार प्रलय के पश्चात् कृतयुग का प्रारम्भ होता है उसी समय सृष्टि का सृजन भी होता है। क्रम से कृतयुग-त्रेता-द्वापर-कलयुग के नियत समय पूर्ण कर लेने के पश्चात् पुनः प्रलय हो जाता है और सृष्टि का विनाश हो जाता है। तत्पश्चात् पुनः कृतयुग का प्रारम्भ होता है। परन्तु जैन मतानुसारेण काल-चक्र अनवरत गतिवान् रहता है तथा इसमें कभी भी प्रलय जैसा व्यवधान या विराम उत्पन्न नहीं होता है। जैन कालचक्र की अवधारणा चक्रवत् है। यह काल अवसर्पिणी के छह आरों में क्रमशः हीनमान और उत्सर्पिणी के छह आरों क्रमशः वृद्धिमान रहता है। इनका विवेचन इस अध्याय के प्रारम्भ में ही विस्तृत रूप से किया गया है।

कर्मभूमि-अकर्मभूमि

लोक में जीवों के निवास स्थान को भूमि कहा जाता है। जैन दर्शन के अनुसार नरक की सात भूमियाँ प्रसिद्ध हैं। उनके अतिरिक्त अष्टम भूमि भी मानी गयी है। नरकों के नीचे निगोंदों की निवासभूत कलकल नाम की अष्टम भूमि है, और ऊपर लोक के अन्त में मुक्त जीवों की आवासभूत ईषत्प्राग्भार नामक भूमि है। मध्यलोक में मनुष्यों और तिर्यञ्चों की आवासभूत दो प्रकार की रचनाएँ हैं— १. भोगभूमि और २. कर्मभूमि।

कर्मभूमि—जहाँ के निवासी स्वयं असि-मसि-कृषि आदि षट्कर्मों के द्वारा अपनी आवश्यकता के अनुरूप सामग्री का उत्पादन एवं उपभोग करते हैं उसे कर्मभूमि कहा जाता है। यद्यपि अकर्मभूमि (भोगभूमि) पुण्य का फल समझी जाती है, परन्तु मोक्ष के द्वार रूप कर्मभूमि ही है, अकर्मभूमि नहीं। यहाँ शुभ और अशुभ कर्मों के आश्रय को कर्मभूमि कहा जाता है। यद्यपि तीनों लोक ही कर्म का आश्रय है, फिर भी इससे उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूप से कर्मों के आश्रय हैं। सातवें नरक को प्राप्त करानेवाले अशुभ कर्मों का अर्जन भरतादि क्षेत्रों में ही किया जाता है। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेष को प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मों का उपार्जन भी यहीं पर होता है तथा पात्र-दान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार के कर्म का आरम्भ भी यहीं पर होता है। इसलिए भरतादि क्षेत्र को कर्मभूमि कहा जाता है।^९

जहाँ असि (शस्त्र-धारण), मसि (वही-खाता लिखना), कृषि, शिल्पकर्म, वाणिज्य और व्यवहार (न्याय-दान आदि का कार्य) ऐसे छह कार्यों से उपजीविका करनी पड़ती है। जहाँ संयम का पालन कर मनुष्य तप करने में तत्पर होते हैं और जहाँ मनुष्यों को पुण्यकर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और कर्म का क्षय करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसे स्थान को कर्मभूमि कहा जाता है। यह कर्मभूमि ढाई द्वीप में पन्द्रह हैं। ये हैं—पाँच ऐरावत क्षेत्र और पाँच विदेह क्षेत्र।^{१०} तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी यह निर्दिष्ट किया गया है। यहाँ भारत और ऐरावत क्षेत्रों में एक काल-चक्र के अंतर्गत १८ सागरोपम (८-८ सागरोपम) कोडाकोडी समय तक कर्मभूमि का अभाव निर्दिष्ट किया गया है।^{११} इसका तात्पर्य यह है कि अवसर्पिणी और उत्सर्पिणों दोनों के तीन-तीन आरे-सुषमा-सुषमा, सुषमा और सुषमा-दुषमा-में सभी क्षेत्रों में, जिस भी क्षेत्र में यह काल-चक्र परवर्तित होता रहता है, भोगकाल विद्यमान रहता है। इस काल में वहाँ कि निवासियों को किसी प्रकार का श्रम या अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कोई भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती है, बल्कि उनके इच्छा करने मात्र से ही उनकी अभिलषित वस्तुएँ कल्पवृक्षों से प्राप्त हो जाती हैं। यह स्थिति केवल भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही होती है जबकि पाँचों विदेह क्षेत्रों में सर्वदा कर्मकाल ही होता है क्योंकि वहाँ सर्वदा चतुर्थ आरा दुषमा-सुषमा ही स्थित होता है। वहाँ काल का चक्रवत् परिवर्तन नहीं होता है।

अकर्मभूमि—उपर्युक्त पाँचों भरत और पाँचों ऐरावत क्षेत्रों के दोनों कालों (अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी) के तीन-तीन आरों को छोड़कर सभी क्षेत्रों में सर्वदा भोगभूमि वर्तमान रहता है। इन कालों एवं क्षेत्रों के निवासियों को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी प्रकार का उद्योग या कर्म नहीं करना पड़ता बल्कि बिना कर्म के ही इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, अतः इन क्षेत्रों को अकर्मभूमि कहा जाता है। यहाँ इच्छाओं की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से होती रहती है। यहाँ नगर, कुल, असि-मसि-कृषि आदि षट्कर्म शिल्प, वर्णाश्रम की पद्धति नहीं होती है। यहाँ के स्त्री-पुरुष युगल रूप में पैदा होते हैं और आपस में विवाह कर पूर्व पुण्य के प्रभाव से पति-पत्नी रूप में विचरण करते हैं। वे सदा निरोग रहते हैं और सुख भोगते हैं। यहाँ के लोग स्वभाव से ही मृदुपरिणामी अर्थात् मन्दकषायी होते हैं इसलिए मरणोपरान्त इन्हें स्वर्ग की प्राप्ति है।^{१२} भोगभूमि में उत्पन्न हुए जीवों के निवृत्यपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो जीवसमास, छह प्रकार की पर्याप्तियाँ और इतनी ही अपर्याप्तियाँ भी होती हैं। उनके पर्याप्त अवस्था में पाँचों इन्द्रियाँ, मन, वचन, श्वासोच्छ्वास और आयु-ये दस प्राण तथा अपर्याप्त अवस्था में मन, वचन और श्वासोच्छ्वास से रहित शेष सात प्राण होते हैं। उन जीवों के आहार, भय, मैथुन और परिग्रह-ये चारों संज्ञाएँ होती हैं। चौदह मार्गणाओं में से गति की अपेक्षा वे जीव मनुष्य और तिर्यच; इन्द्रिय की अपेक्षा सकल अर्थात् काय की अपेक्षा त्रस; योग की अपेक्षा चार मन, चारों वचन, दो औदारिक (औदारिक, औदारिक-मिश्र), कार्मण इस प्रकार ग्यारह योग; वेद की अपेक्षा पुरुष और स्त्रीवेद से युक्त; कषाय की अपेक्षा नित्य सभी कषायों से संयुक्त; ज्ञान की अपेक्षा मति, श्रुत, अवधि, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग ये छह ज्ञान; संयम की अपेक्षा सब ही असंयत; दर्शन की अपेक्षा, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन-ये

तीन दर्शन; लेश्या की अपेक्षा भोगभूमिजों के अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व एवं सासादन गुणस्थान में तीन अशुभ लेश्याएँ और चतुर्थ गुणस्थान में कपोत लेश्या का जघन्य अंश तथा पर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्वादि चारों गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्याएँ; भव्यत्व की अपेक्षा भव्य और अभव्य; सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक, वेदन, सासादन मिश्र और मिथ्यात्व-ये छहों सम्यक्त्व; संज्ञा की अपेक्षा संज्ञी; और आहारमार्गणा की अपेक्षा आहारक एवं अनाहारक दोनों ही होते हैं। इनके साकार (ज्ञान) और अनाकार (दर्शन) दोनों ही उपयोग नियम से होते हैं। ये भोगभूमिज मनुष्य और तिर्यच मन्द कषाय से युक्त, उदय में आयी हुई पुण्य प्रकृतियों से संयुक्त एवं विविध प्रकार के विनोदों में आसक्त होते हैं।^{१३} तित्थोगाली में भरत और ऐरावत क्षेत्रों के भोगकाल-सुषमा-सुषमा, सुषमा और सुषमा-दुषमा-में होने वाले विविध उपभोग सुख और वहाँ की स्थिति का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसे आगे के उपशीर्षकों में इन आरों के विवेचन क्रम में प्रस्तुत किया जायेगा।

छह आरों का स्वरूप—जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है कि काल-चक्र के दो भाग-अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी होते हैं तथा उन दोनों को छह-छह आरों में विभक्त किया गया है। इनमें तीन आरों में भोगभूमि और तीन आरों में कर्मभूमि प्रवर्तित होती है। यह काल परिवर्तन केवल पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है। शेष के पाँच विदेह क्षेत्र में हमेशा सुषमा-दुषमा अर्थात् कर्मभूमि स्थिर होती है तथा अन्य क्षेत्रों में हमेशा ही भोग-भूमि स्थिर होती है। यहाँ छह आरों के वर्णनक्रम में भोगभूमि और कर्मभूमि को भी स्पष्ट किया जा रहा है—यहाँ अवसर्पिणी काल के क्रम से आरों का वर्णन प्रस्तुत है। जिस काल में मनुष्य की आयु, बल, उत्सेध आदि क्रमशः हीनमान होती जाती है उसे अवसर्पिणी काल कहा गया है—

१. सुषमा-सुषमा—इस काल में भूमि रज, धूम, अग्नि और हिम, कण्टक, अभ्रशिला (बर्फ) आदि एवं बिच्छू आदि कीड़ों के उपसर्गों से रहित होती है। इस काल में निर्मल दर्पण के सदृश और निन्दित द्रव्यों से रहित दिव्य बालू, तन, मन और नयनों को सुखदायक होती है। उस समय में कोमल घास व फलों से लदे वृक्ष होते हैं। वापिकाएँ कमल से भरी होती हैं। वहाँ के भवन सुन्दर और पर्वत कल्पवृक्षों से आच्छादित होते हैं। रत्नयुक्त पृथ्वी पर सुन्दर नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं। यहाँ स्वामी-सेवक भाव व युद्धादि, विकलेन्द्र जीवों, दिन-रात का भेद एवं शीत व गर्मी की वेदना का अभाव रहता है। यहाँ परस्त्री और परधन का हरण नहीं होता और यहाँ मनुष्य युगल रूप में उत्पन्न होते हैं। यहाँ की पृथ्वी पर पाँच प्रकार के वर्णों से स्फुरायमान, स्वभाव से मृदुल, मधुर रस से युक्त, सुगन्ध से परिपूर्ण और चार अंगुल प्रमाण ऊँचे तृण उत्पन्न होते हैं। उस काल में पृथ्वी पर गुच्छ, गुल्म (झाड़ी), पुष्प, अंकुर, फल एवं नवीन पत्रों से परिपूर्ण, विचित्र वर्णवाले और ऊँचे, ऐसे बहुत से वृक्षों के समूह होते हैं। वहाँ पर कल्हार, कमल, कुवलय और कुमुद इन विशेष जाति के कमल पुष्पों तथा उज्ज्वल प्रवाह से परिपूर्ण और मकरादिक जलजंतुओं से रहित, ऐसी पुष्करिणी व वापिकाएँ होती हैं। इन पुष्करिणी आदि की चारों तटभूमियों में रत्नों की सीढियाँ होती हैं। उनमें शय्या और आसनों के समूहों से परिपूर्ण उत्तम भवन होते हैं। सम्पूर्ण व्याधियों को नष्ट करनेवाले अमृतोपम निर्मल जल से परिपूर्ण

और जलक्रीड़ा के निमित्तभूत दिव्य द्रव्यों से संयुक्त ऐसी दीर्घिकाएँ शोभायमान होती हैं। भोगभूमि में अतिमुक्तकों अर्थात् अति स्वच्छन्द भोगभूमिजों के भवन शय्या एवं आसनों से सुशोभित सुन्दर प्रासाद अनुपम और सुविचित्र प्रतिभासित होते हैं। वहाँ के पर्वत कल्पवृक्षों से परिपूर्ण और दीर्घिका आदि से युक्त होते हैं, पृथ्वी पंचरंगी मणियों से संयुक्त और नदियों के दोनों तट रत्नमय सीढ़ियों से संयुक्त होते हैं। इस काल में शंख, चींटी, खटमल, गोमक्षिका, डांस, मच्छर और कृमि इत्यादि नहीं होते। इस काल में पुरुष और स्त्रियों की ऊँचाई छह हजार धनुष और आयु तीन पल्योपम प्रमाण होती है। यहाँ पुरुष तथा स्त्रियों में से प्रत्येक के पृष्ठ भाग में दो सौ छप्पन हड्डियाँ होती हैं। उसी भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य नौ हजार हाथियों के सदृश बल से युक्त किंचित् लाल हाथ-पैर वाले, वनचम्पक के फूलों की सुगन्ध से व्याप्त, मार्दव एवं आर्जव से सहित, मन्दकषायी, सुशील, वज्रऋषभनाराच संहनन से युक्त, समचतुरस्र शरीर संस्थान वाले, उगते हुए सूर्य सदृश तेजस्वी, कवलाहार को करते हुए भी मल-मूत्र से रहित होते हैं। वहाँ उनकी सभी इच्छाओं की पूर्ति दस प्रकार के कल्प वृक्षों से हो जाती है। उपर्युक्त वर्णन दिगम्बर पम्परा के ग्रन्थ तिलोपयण्णत्ति में वर्णित है।

तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी प्रथम सुषमा-सुषमा काल का वर्णन लगभग समान और इतने ही विस्तृत रूप में प्राप्त होता है, यहाँ सुषमा-सुषमा काल का प्ररूपण करते हुए कहा गया है कि इस काल में भरत क्षेत्र दस कुरुओं के सदृश होता है। इन क्षेत्रों में मणि-कनक आदि से विभूषित पृथ्वी होती है। उसके प्रत्येक भाग में दीर्घ वापियाँ, पुष्करणियाँ स्थित हैं। वे नाट्यगृहों एवं प्रेक्षागृहों से युक्त तथा सभागृहों, शय्यागृहों एवं आसानी से मंडित है। उन वापियों का जल मधु-घृत-इक्षुरस, दूध, आसव और वारुणि की तरह स्वादिष्ट है तथा वृक्ष प्रकृति प्रदत्त फलों से युक्त हैं। वापियों की सीढ़ियाँ रत्नमणि आदि से वेष्टित हैं उसके जल में विभिन्न प्रकार के फूल सुशोभित हो रहे हैं। इन क्षेत्रों में उस समय श्रेष्ठ भोगोपभोग के प्रचुर साधन रहते हैं। यहाँ ग्राम-नगरों का समूह श्राद्धादि कर्मकाण्ड से रहित होता है वे सभी क्षेत्र देवलोक सदृश होते हैं, इस काल में इन क्षेत्रों में सैन्य कर्म (असि), लेखनकर्म (मसि), कृषिकर्म-वाणिज्य, राजधर्म आदि का व्यवहार नहीं होता है तथा स्वामी-सेवक क्रेता-विक्रेता एवं प्रेषक-प्रेष्य की अवधारणा भी नहीं होती है। उस समय के लोग पद्मोत्पल निश्वासवाले, रोगरहित, निर्भय, निर्लिप्त, अजर, गम्भीरवक्ता, दयालु, सुस्भाववाले, कलहररहित, पराक्रमी और बुद्धिमान होते हैं। वे लोग क्षणिकषायी, अहमिन्द्र, वज्रऋषभनाराच संहनन, हीनाधिक परिमाण से रहित तथा उत्तम स्थितिवाले होते हैं। वे लोग सुरूप, सौभाग्यशाली, सुखसेवी, सुन्दर गंधयुक्त, सिंह सदृश पराक्रमी, गजराज की चाल, क्षीणकषाय, अल्प इच्छावान्, संपत्तिमोह से मुक्त, अचण्ड, बत्तीस लक्षणों के धारक तथा मृद एवं फल-फूलों का आहार करनेवाले होते हैं। इनकी आयु चार कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण, शरीर की ऊँचाई छः हजार धनुष प्रमाण होती है। यहाँ के मनुष्यों की सभी इच्छाओं की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से पूर्ण हो जाती है। ये दस कल्पवृक्ष हैं— १. मतांगक २. भृंग ३. त्रुटितांग ४. दीप ५. ज्योतिष ६. चित्रांग ७. चित्तरस ८. मणियंग ९. गृहागार एवं १०. अनग्नक। यहाँ के लोग आयु के कुछ शेष रहने पर युगलों को जन्म

देकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं तथा पूर्व सुकृत कर्मों से ही देवलोक को प्राप्त होते हैं। भोगभूमि के मनुष्यों और तिर्ययों की आयु नौ मास शेष रहने पर उनके गर्भ ठहरता है और मृत्यु समय आने पर युगल बालक-बालिका को जन्म देकर वे माता-पिता मृत्यु को प्राप्त होते हैं। पुरुष छींक से और स्त्री जंभाई आने से मृत्यु को प्राप्त होती हैं। तब उन दोनों के शरीर शरत्कालीन मेघ के समान आमूल विनष्ट हो जाता है। उत्पन्न हुए युगल अपनी शय्या पर ही तीन दिन तक अपने अंगूठे को चूसते हैं। इसके बाद उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुणों की प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्दर्शन के ग्रहण की योग्यता आती है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में उनके तीन-तीन दिन व्यतीत होते हैं। इनके शरीर में मूत्र व मल का सर्वथा अभाव होता है।^{१४}

विद्या—इस काल के मनुष्य अक्षर, चित्र, गणित, गंधर्व और शिल्प आदि ६४ कलाओं में स्वभाव से ही अतिशय निपुण होते हैं।

जाति—भोगभूमि में गाय, सिंह, हाथी, मगर, शूकर, सारंग, रीछ, भैंस, बृक, बन्दर, गवय, तेंदुआ, व्याघ्र, शृगाल, भालू, मुर्गा, कोयल, तोता, कबूतर, राजहंस, कोरंड, काक, क्रौंच और कंचक होते हैं।

योग व आहार—ये युगल परस्पर प्रेम में आसक्त होते हैं। तिर्यच भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार, मांसाहार के बिना कल्पवृक्षों का भोग करते हैं। मानव शिशु-युगल चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं।

२. सुषमा—द्वितीय काल “सुषमा” आरा है। इसका प्रमाण तीन कोडाकोडी सागरोपम माना गया है। यह आरा हरिवर्ष क्षेत्र में नित्य होता है तथा भरत-ऐरावत क्षेत्रों में तीन कोडाकोडी सागरोपम तक रहता है। इस समय ये क्षेत्र भी हरिवर्ष के समान होते हैं। इस काल में सब कुछ प्रथम आरे के समान ही घटित होता है। अन्तर केवल इतना होता है कि इस काल के पुरुष-स्त्री प्रथम काल की अपेक्षा एक गाउ (दो हजार धनुष) कम ऊँचाई के होते हैं तथा उनकी आयु भी घटकर केवल दो पल्योपम रह जाती है। इनका आयु उत्सेध आदि धीरे-धीरे क्षीण होता रहता है तथा शरीर समचतुरस्र संस्थान से युक्त होता है। इस समय के उत्पन्न बालक शय्या पर सोते हुए अपने अंगूठे को चूसने में पाँच दिन व्यतीत करते हैं। तत्पश्चात् उपवेशन, अस्थिरगमन, स्थिरगमन, कलागुण प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्व-ग्रहण की योग्यता-में उन बालकों के पाँच-पाँच दिन व्यतीत होते हैं। शेष बातें सुषमा-सुषमा की तरह घटित होती है।

३. सुषमा-दुषमा—तिलोपपण्णत्ति के अनुसार तीसरे आरे “सुषमा-दुषमा” में भरत और ऐरावत क्षेत्र हेमवत् और हिरण्यवत् क्षेत्र जैसा होता है। जो-जो अनुभाव सुषमा काल में होता है। अन्तर यह है कि इस काल में मनुष्यों की आयु एक पल्योपम और ऊँचाई दो हजार धनुष (एक गाउ) शेष रह जाती है। इस आरे के प्रारम्भ में ही यह आयु एक पल्योपम होती है, आरे के अन्त में यह घटकर एक पूर्वकोडी शेष रह जाता है। इस काल में मनुष्यों का औषधि-बल-वीर्य-पराक्रम-संहनन (शरीर-रचना पर्यवज्ञान और उपभोग-सुख प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है। इस तृतीय काल के अन्तिम भाग में एक पल्य के आठवें

भाग प्रमाण शेष रहने पर कुलकर की उत्पत्ति होती है। कुलकर क्रमशः सात होते हैं। इन कुलकरों के विषय में चौथे अध्याय में विस्तृत विवेचन किया गया है। शेष घटनाएँ सुषमा-सुषमा आरे के सदृश घटित होती हैं। इसी काल में अन्तिम कुलकर के पुत्र रूप में प्रथम तीर्थकर का जन्म होता है।

उपर्युक्त तीनों काल भोगभूमि के अंतर्गत आते हैं। इन्हें क्रमशः उत्कृष्ट भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि और जघन्य भोगभूमि कहा जाता है। शेष तीन आरा कर्मभूमि हैं। ये आरे यद्यपि भरत और ऐरावत क्षेत्रों में परिवर्तनशील होते हैं लेकिन अन्य क्षेत्रों में ये अवस्थित होते हैं। इन क्षेत्रों का नामोल्लेख प्रसंगशः ऊपर किया जा चुका है। इसलिए भरत-ऐरावत क्षेत्रों में एक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी में मात्र नौ कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण काल ही भोगभूमि होता है जबकि उन क्षेत्रों में सदा भोगभूमि बनी रहती है।

४. दुषमा-सुषमा-प्रथम तीर्थकर के निर्वाण प्राप्त करने के तीन वर्ष साढ़े आठ मास व्यतीत होने पर तीसरा सुषमा-दुषमा आरा अपना दो कोडाकोडी सागरोपम का समय पूरा कर समाप्त हो जाता है। इसके बाद चतुर्थ दुषमा-सुषमा आरा प्रारम्भ होता है। इस काल में शेष तेईस तीर्थकर सहित ६३ शलाकापुरुष व कामदेव होते हैं। इस काल से भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कर्मभूमि का प्रारम्भ होता है। इस आरे के प्रारम्भ होने से पहले ही कल्पवृक्ष तथा अन्य इच्छित भोग की सामग्री नष्ट हो जाती है। इस समय प्रथम तीर्थकर लोगों के रहन-सहन और जीवन-यापन के साधनों का ज्ञान करते हैं तथा उन्हें कर्म करने की शिक्षा देते हैं। इनमें असि-मसि-कृषि आदि ६४ प्रकार की विद्याएँ सम्मिलित हैं। इस काल में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक पूर्व कोडी तथा जघन्य आयु १२० वर्ष होती है। तीर्थकर सम्बन्धी विवेचन तृतीय अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। यह काल भरत ऐरावत क्षेत्रों में बयालीस हजार वर्ष कम एक सागरोपम तक अवस्थित रहता है जबकि विदेह क्षेत्रों में यह काल सदा विद्यमान रहता है। इसलिए विदेह क्षेत्र कभी भी तीर्थकरों से खाली नहीं रहता तथा वहाँ से हमेशा भव्य जीव मोक्ष गमन करते रहते हैं।

५. दुषमा-वर्तमान अवसर्पिणी काल का पंचम दुषमा आरा वीर निर्वाण के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् प्रारम्भ हुआ। इस आरे का काल प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष माना गया है। इस काल में मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु १२० वर्ष और जघन्य आयु बीस वर्ष तथा शरीर की ऊँचाई सात हाथ मानी गयी है। इस काल का विस्तृत विवेचन तित्थोगाली, तिलोयपण्णत्ति एवं महापुराण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। तिलोयपण्णत्ति एवं महापुराण में इसका मुख्य वर्णन इस प्रकार है-इस काल में श्रुततीर्थ, जो धर्म प्रवर्तन का कारण है वह २०३१७ वर्षों में काल दोष से हीन होते हुए व्युच्छेद को प्राप्त हो जाता है। चातुर्वर्ण्य संघ भी इतने ही समय तक गतिवान रहकर समाप्त हो जाता है। वर्तमान अवसर्पिणी के पंचम काल में अंतिम मुकुटधारी चन्द्रगुप्त ने प्रवज्या ग्रहण की थी। इसके बाद कोई भी मुकुटधारी (राजा) प्रवज्या ग्रहण नहीं करता है। इस काल में राजवंश न्याय से क्रमशः गिरते-गिरते अन्यायी हो जाता है। इसी क्रम में आचारांगधरों के २७५ वर्ष पश्चात् एक कल्की राजा होता है। इसके ५०० वर्ष उपरान्त एक उपकल्की उत्पन्न होता है। इसके

पश्चात् प्रत्येक हजार वर्ष के अन्तर से एक कल्की और ५०० वर्ष के अन्तर पर एक उपकल्की उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार कुल इक्कीस कल्की होते हैं। काल के अंतिम समय में भी कल्की ही होता है। प्रत्येक कल्की के समय मुनि को अवधिज्ञान होता है और चातुर्वर्ण्य भी धीरे-धीरे घटता जाता है। उस समय चाण्डालादि ऐसे बहुत से मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं। अंतिम एक्कीसवें कल्की के समय में वीरांजन नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका तथा अग्निदत्त और पंगुश्री नामक श्रावक-युगल होते हैं। उस कल्की राजा द्वारा शुल्क मांगने पर वह मुनि उस श्रावक को दुषमाकाल के अन्त की सूचना देते हैं। उस समय मुनि की आयु तीन दिन ही शेष रह जाती है। यह ये चारों संन्यासमरणपूर्वक कार्तिक कृष्ण अमावस्या को यह शरीर छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में देव हो जाते हैं। उसी दिन क्रोध को प्राप्त हुए। असुरदेव कल्की को मारते हैं और सूर्यास्त समय में अग्नि भी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार धर्मद्रोही इक्कीसवाँ कल्की एक सागर आयु तक के लिए धर्मा नामक नरक में चला जाता है।^{१५} तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी उस समय होने वाली विभिन्न दुर्घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है।

तित्थोगाली के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष और ३ मास व्यतीत हो जाने पर शक राजा हुआ तथा शक वंश के १३२३ वर्ष बीतने पर कुसुमपुर में दृष्ट बुद्धि राजा का जन्म होगा।^{१६} उसकी दुष्ट बुद्धि के जन्म के समय ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गा है— “चैत्र शुक्ला अष्टमी के दिन चन्द्र के रौद्र योग में आने पर वृष्टि करण में सूर्य के उदय के समय उस (दुष्ट बुद्धि) का त्यक्त (नीच) कुल में जन्म हुआ।^{१७} जन्म स्थान में सूर्य के विष्णु देवता में शनिश्चर के योग के साथ शुक्र के भौम (बुद्ध) द्वारा और वृहस्पति के चन्द्र द्वारा प्रहत होने पर एक ही तिथि और एक ही पक्ष में चन्द्र और सूर्य-दोनों के अस्तमान के समागम में सप्तर्षि मण्डल के धूम्र धूम्रक केतु द्वारा प्रमर्दित किये जाने पर तथा बलराम और कृष्ण की जन्म नगरी मथुरा में विष्णु उत्थान (देवोत्थान की कार्तिक शुक्ला एकादशी) के दिन घोर धन-जन क्षयकारी भवनों के भूमिसात् होने के दिन अत्यधिक क्रोध-मान-माया और लोभ में प्रसक्त उस दुष्ट बुद्धि का जन्म होगा।^{१८} इन सब का वर्णन चतुर्थ अध्याय के ‘दुष्ट बुद्धि नृप वर्णन’ नामक शीर्षक में किया गया है।

इस दुषमा काल में ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता है, त्यों-त्यों लोग कुल, शील तथा दान से उत्तरोत्तर हीन और अधिकाधिक अधर्मशील होते जाते हैं, और सत्कार-लोलुप एवं दानगृह्य पाखण्डियों का प्रादुर्भाव होता है। मंत्र, यंत्र, इन्द्रजाल आदि कौतुक विद्या एवं मण्डल मुद्रायोग आदि के द्वारा वशीकरण, उच्चाटन आदि क्रियाओं में अहर्निश तत्पर रहने वाले पाखण्डियों का बाहुल्य होता है। लोग स्वछंद होकर आगमों की अवमानना करते हैं। साधु भी निर्दय और श्रमण गुणों से हीन होते हैं। तित्थोगाली के अनुसार इस समय साधु मन्दरुचि और मन्दबुद्धि वाले पर सच्चे साधु बहुत कम होते हैं। असत्य और अधर्म का बोलबाला होता है। उस समय के ग्राम श्मशान के समान और नगर प्रेतलोक के समान भयानक, गृहस्थ दास के समान दीन और राजा यम के समान उत्पीडक होता है। उस

समय राजा, अमात्य, अभिजात कुल के लोग और राजभृत्य एक दूसरे पर इस प्रकार अत्याचार करेंगे जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है।^{१९} अन्त्यज लोग मध्यम और मध्यम हीन हो जाएंगे, दुर्बल, क्षीण जानवरों एवं दयनीय जनपदों की शोभा ओर नष्ट हो जाती है। चारों ओर लोग आकुल-व्याकुल हो इधर-उधर भटकते रहते हैं। लोग राजकर से त्रस्त होते हैं। नौकर ही राजा को मारेगा। लोग धन-धान्य में अतिगृद्ध, भिक्षा, बलि और धर्म से नितान्त रहित, पापी, मदान्ध और गुरु से विमुख रहते हैं। शिष्य अपने आचार्यों का सम्मान-सत्कार नहीं करते और आचार्य भी अंतर्मन से उपदेश नहीं देते हैं। श्रमणों की मधुकरी वृत्ति, श्रावक धर्म एवं साध्वियों का आचार भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। देवदर्शन नहीं होता, प्रभुत्व के लिए लोगों में होड़ होती है और पृथ्वी सत्ताकुल हो जाती है। लोग मित्रों एवं स्वजनों से विरोध रखेंगे, वे क्रोधी, दुष्ट और निर्लज्ज हो जाते हैं।” पुत्र अपने माता-पिता का तिरस्कार करते और उन्हें कटु वचन कहते हैं। पुत्र-वधु जन्त्री और सास काली नागिन के समान होती हैं। कुल-वधुएँ समवयस्क युवकों के स्नेह में आबद्ध होंगी और युवक अपने मित्र की पत्नियों पर लुब्ध होते हैं।

इस काल का वर्णन करते हुए तित्थोगाली में कहा गया है उस समय की कुल-वधुएँ निर्लज्ज हो हास्य, प्रेमालाप आदि वेश्याओं के बहुत से लक्षण सीखेंगी। श्रावक-श्राविका, दान, शील, तप, भावना एवं साधु-साध्वियों के संघाटकों की हानि होगी। इसके साथ ही विद्याओं, पुष्पों, फलों, औषधियों, आयु, सुख, ऋद्धि और श्रावक अणु-व्रतों की हानि होगी। पर जब तक दुष्प्रसह आचार्य स्वर्गस्थ नहीं हो जाते, तब तक तीर्थ व्युच्छिन्न नहीं होगा। ऐसा सभी दस क्षेत्रों में दुषमा नामक आरा में होगा। इसके बाद आने वाले दुषमा-दुषमा आरा में पाप की और पराकाष्ठा होगी।^{२०} इस तरह दुषमा आरे का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

दुषमा आरा के अंत में संघ की स्थिति—इस अवसर्पिणी काल के दुषमा नामक पंचम आरे के अंत समय में पाँचों भरत और पाँचों ऐरावत—इन दसों क्षेत्रों में से प्रत्येक में अंतिम तीर्थंकर के धर्मसंघ में एक साधु, एक साध्वी, एक श्रावक, एक श्राविका, एक राजा और एक राजामात्य—ये छः ही विशिष्ट पुरुष होंगे, अन्य बहुत से साधारण प्रजाजन होंगे। इन सब के नाम का उल्लेख करते हुए कहा गया है—“अंतिम अनगार दुःप्रसह नामक श्रमण, फल्गुश्री नाम की श्रमणी, नाइलनाम का श्रेष्ठी-श्रावक, सर्वश्री नाम की अंतिम श्राविका, विमलवाहन नाम का अंतिम राजा और सुमुख नामका उसका अमात्य होगा। इन सब की आयु बीस-बीस वर्ष की होगी। उस समय में चतुर्थ भक्त (उपवास), षष्ठ भक्त (वेला) उत्कृष्ट तप माने जाएँगे। दुःप्रसह अष्टम भक्त (तेला) का तप करेंगे। देवताओं द्वारा उनकी स्तुति का वर्णन करते हुए कहा गया है—“दक्षिण लोक का स्वामी सौधर्मेन्द्र उस समय धर्मानुरक्त होकर वहाँ आकर बारम्बार संघ की स्तुति बहुत प्रकार से करेगा। शेष नौ क्षेत्रों में भी यही होता है। दुःप्रसह आचार्य की दिनचर्या का वर्णन करते हुए कहा गया है—“दशवैकालिक सूत्र के अर्थ को धारण करने वाले संयम और तप में उद्यत वह धीरे दुःप्रसह आचार्य श्रमणों से विहीन एकाकी ही विचरण करेंगे। वे आठ वर्ष गृहवास

में और बाहर वर्ष तक श्रमण पर्याय में रहेंगे। षड्जीवनिकाय का हितैषी वह वीर दुःप्रसह आचार्य संयम तथा तप में निरत रहता हुआ अन्ततोगत्वा २० वर्ष की आयु पूर्ण कर तेले की तपस्या से पंडितमरण द्वारा इहलीला को समाप्त कर सौधर्म कल्प में उत्पन्न होगा। मरणोपरान्त लोकपालों द्वारा उनकी अंतिम क्रियाएँ की जाएगी और तब देवगण अपने-अपने स्वर्ग को लौट जाएँगे। दसों क्षेत्रों में ऐसा होगा। दुःप्रसह आचार्य के भावी जीवन के विषय में कहा गया है-वे सौधर्म कल्प के सागर नामक विमान में उत्पन्न होंगे और वहाँ से च्यवन कर वे सिद्धगति को प्राप्त होंगे।^{२१} राजा, श्रावक, श्राविका आदि के विषय में कहा गया है- “राजा विमलवाहन प्रथम नरक में उत्पन्न होगा। फल्गुश्री साध्वी, नाइल श्रावक और सर्वश्री श्राविका-ये तीनों सौधर्म कल्प में उत्पन्न होंगे। पंचम आरे की समाप्ति की पूर्व संध्या में धर्माचरण का, मध्याह्न वेला में राजा और राजामात्य अर्थात् राजसत्ता का और अपराह्न वेला में अग्नि का अन्त होगा। दुषमा आरे के अंतिम दिवस की अवसान वेला में राजाज्ञा का पालन करानेवाला, वनस्पति, अग्नि और संयम-यम-नियम आदि के पालक भरत क्षेत्र में नहीं रहेंगे। आगम ग्रन्थों के लुप्त होने के बारे में कहा है-“दुःप्रसह आचार्य के स्वर्ग गमन के साथ ही दशवैकालिक सूत्र नष्ट होगा। भगवान् महावीर के निर्वाण के इक्कीस हजार तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् नन्दी सूत्र और अनुयोग द्वार तीर्थ के साथ ही नष्ट हो जाएँगे। प्रथम सामायिक चारित्र और द्वितीय छेदोपस्थापनिक चारित्र भी तीर्थ के समाप्त होने पर समाप्त हो जाएँगे। इस प्रकार दुषमा आरे के अंत होते ही चतुर्विध संघ का अन्त होगा और उसी दिन से भरत क्षेत्र में अधर्म का पूर्णरूपेण आधिपत्य हो जाएगा। इस प्रकार ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होगा, त्यों-त्यों नर-नारीगण पापबुद्धि, पापाचारी, अधर्मी, रौद्र रूप एवं स्वभाव वाले और कृत्सितभोजी होते जाएँगे। स्वाध्याय, ध्यान आदि भी समाप्त हो जायेंगे।

इस प्रकार के वर्णन से यह अनुमान लगाना सहज है कि तित्थोगाली प्रकीर्णक के रचनाकाल के लगभग कितना शिथिलाचार व्याप्त था। इतिहास के पृष्ठों को देखें तो गुप्तों के पतन के पश्चात् लगभग ४-५ शताब्दी में सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक व्यवस्था पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो चुकी थी और विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार का बोलबाला था। यही समय इस ग्रन्थ के प्रणयन का भी माना जा सकता है। तत्कालीन समाज, धर्म, आचार-व्यवहार आदि का प्रभाव उस समय के रचित साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक ही था। इस बात की पुष्टि तित्थोगाली के अन्तः साक्ष्य से भी हो जाती है जहाँ श्रमणों और अन्य व्यक्तियों को बिना समझे-विचारे अनर्गल प्रलाप, पाखण्ड और शिथिलाचार को बढ़ावा देने और उसके समर्थन में धर्म, परम्परा की गलत व्याख्या करने के विरुद्ध कड़ी चेतावनी दी गयी है। यह उस काल में जैन धर्म में उत्पन्न हुए शिथिलाचार और क्रिया सम्बन्धी मतभेद की ओर भी संकेत करता है। ज्ञातव्य है कि ५-६वीं शताब्दी के आसपास, जैनधर्म में भी शिथिलाचार प्रारम्भ हो गया और दार्शनिकों और जैन विद्वानों के बीच आचार और दर्शनों के सम्बन्ध में मतभेद शुरू हो गये थे। खासकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय इन घटनाओं से प्रभावित हुआ था, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर मतभेद और गहरा हो

जाने की स्थिति में श्वेताम्बरों के अन्य सम्प्रदायों जैसे—स्थानकवासी सम्प्रदाय अस्तित्व में आया। शिथिलाचार के प्रति चेतावनी देते हुए तित्थोगाली में कहा गया है जो व्यक्ति (साधु) यह कहता है कि धर्म नहीं है, सामायिक नहीं है और व्रत भी नहीं है, श्रमण संघ को चाहिए कि ऐसे व्यक्ति को संघ से निष्कासित कर दे। क्योंकि धर्म, सामायिक और छेदोपस्थापनिक तीर्थ के अंतिम दिन तक विद्यमान रहेंगे। आडम्बरपूर्ण और स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध सुझाव देते हुए कहा गया है—“यदि जिनमत में दीक्षित होते हो अथवा जिनमत को अंगीकार करते हो तो व्यवहार दर्शन का परित्याग मत करो। क्योंकि व्यवहार का विच्छेदन होने पर तीर्थ का विच्छेद सुनिश्चित है। यह गाथा उस समय शिथिलाचारियों द्वारा अपने पक्ष को सही ठहराने में क्रम में सिद्धान्त से व्यवहार को अलग कर प्रस्तुत करने की ओर इशारा करती है। आज भी हम देखते हैं कि सदाचार, ईमानदारी, धर्म आदि की जो व्याख्या सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत की गयी है या जो मानक या प्रतीक पुरुष हमारे सामने प्रस्तुत किये गये हैं, उनके मानवीय गुणों को अस्वीकार कर पूरा समाज उन्हें देवत्व की श्रेणी में स्थापित कर अपने को उन आचरणों से यह कह कर मुक्त कर लेता है कि वे पुरुष देवता थे और हम मनुष्य हैं। हमें उन सिद्धान्तों पर अमल करने की जरूरत नहीं है जिसका आचरण उन्होंने व्यावहारिक जीवन में किया। सत्य यह है कि सिद्धान्त और व्यवहार एक दूसरे के पूरक हैं। सिद्धान्त की उपयोगिता तभी है जब उसका व्यावहारिक पक्ष सुदृढ़ और सफल हो। महावीर, बुद्ध, गांधी आदि सभी महापुरुषों ने जिस व्यावहारिक जीवन को जिया, उन महापुरुषों को देवता की श्रेणी में डालकर समाज और उनके अनुयायी भी अपने को उन सिद्धान्तों और व्यवहारों से अलग कर बैठा है। केवल सिद्धान्त मानने से काम नहीं चल सकता, बल्कि धर्म और शिक्षा की सार्थकता तभी है जब उसमें व्यवहार-पक्ष का अनुगमन भी हम करें। इस गाथा में इसी ओर इशारा किया गया है।

व्यवहार-दर्शन और शुद्ध मन से स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों के चिन्तन मनन और जीवन में प्रयोग पर बल देते हुए कहा गया है—“इस द्वादशांगी को द्रव्य दृष्टि से नित्य और व्यवहार दृष्टि से अनित्य मानना चाहिए क्योंकि स्याद्वाद में इसे नित्य और अनित्य दोनों माना गया है। जो व्यक्ति पुष्ट प्रमाणों, नयों एवं गुणों के आधारभूत स्याद्वाद की बात कहता है तथा उसका अंतर्मन से चिन्तन-मनन करता है, वह वस्तुतः प्रवचन का प्रमाण अर्थात् प्रवचनानुसार प्रामाणिक है। जो व्यक्ति इसकी निन्दा करता है या दुष्ट भावना का चिन्तन मन में भी करता है वह प्रवचनानुसार अप्रामाणिक है।

इस प्रकार दुषमा काल के अन्त में संघ के वर्णन के साथ-साथ तत्कालीन परिस्थितियों, धार्मिक वितण्डावाद, शिथिलाचार और कुतर्कों का संकेत करते हुए उसके विरुद्ध चेतावनी भी दे दी गयी है।

६. दुषमा-दुषमा—कल्की और उपकल्की की उपर्युक्त चक्र के चलते रहते हुए इक्कीसवें कल्की की मृत्यु के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् महाविषम छठा दुषमा-दुषमा काल प्रविष्ट होता है। इस आरे के प्रारम्भ में शरीर की ऊँचाई तीन से साढ़े तीन हाथ और उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष होती है। इस समय के लोग धूम वर्ण के होते हैं।

उन मनुष्यों के आहार मल, फल और मत्स्यादि होते हैं। उस समय वस्त्र, वृक्ष और मकान आदि लोगों को दिखाई नहीं देते इसलिए सब लोग मकान आदि से रहित होकर नंगे वन में घूमा करते हैं। मनुष्य प्रायः पशुओं जैसा आचरण करनेवाले क्रूर, बहरे, अंधे, काने, गूँगे, दारिद्र्य एवं क्रोध से परिपूर्ण, दीन, बन्दर जैसे रूपवाले, कुबरे, बौने शरीरवाले, नाना प्रकार की व्याधि-वेदना से विकल, अतिकषाय युक्त, स्वभाव से पापिष्ठ, स्वजन आदि से विहीन, दुर्गन्धयुक्त शरीर एवं बालों से युक्त, जूँ तथा लीख आदि से आछन्न होते हैं। इस काल में नरक और तिर्यच गति से आये हुए जीव ही यहाँ जन्म लेते हैं तथा यहाँ से मरकर पुनः नरक और तिर्यच गति में ही जन्म लेते हैं। उन जीवों की आयु, ऊँचाई, बल और वीर्य दिनानुदिन क्षीण होती जाती है। इक्कीस हजार वर्ष बीतने में उनचास दिन शेष रह जाने पर भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है।^{१३} उस समय पर्वत व शिलाओं को चूर्ण कर देनेवाली संवर्तक वायु सात दिन चलती है। वृक्ष और पर्वतों के भंग होने से मनुष्य और तिर्यच वस्त्र और स्थान की अभिलाषा करते हुए बहुत प्रकार से विलाप करते हैं। इस समय अलग-अलग सभी बहत्तर युगल गंगा-सिन्धु नदियों की वेदी और विजयाद्ध वन में प्रवेश करते हैं। इस समय देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यचों में से संख्यात जीव राशि को उन प्रदेशों में ले जाकर रखते हैं। उस समय गम्भीर गर्जना से रहित मेघ, तुहिन, क्षार तथा विष-जल को क्रमशः सात-सात दिन तक बरसाते हैं। इसके अतिरिक्त वे मेघों के समूह धूम, धूलि, वज्र एवं जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य ज्वाला-इनमें से हर एक को सात-सात दिन तक बरसाते हैं। इस क्रम से भरत क्षेत्र के भीतर आर्यखण्ड में चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जाती है। वज्र और महाग्नि के बल से आर्य खण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध स्वरूप को छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है। उस समय आर्य खण्ड शेष भूमि सदृश दर्पण तल की भाँति कान्ति से युक्त और धूलि एवं कीचड़ की कलुषता से रहित हो जाती है। इस काल में उत्पन्न मनुष्यों की ऊँचाई एक हाथ, आयु सोलह या पन्द्रह वर्ष और वीर्यादिक भी उसी अनुसार होते हैं।^{१४} तित्थोगाली प्रकीर्णक में इस काल में पाप की पराकाष्ठा बतायी गयी है। “इस दुषमा-दुषमा नामक आरा के आने पर भरत, ऐरावत आदि दसों क्षेत्रों में सर्वत्र हाहाकार, दारुण दुःख और घोर पाप का साम्राज्य हो जाता है। तदनन्तर मानव पशुतुल्य हो जायेंगे। उस छट्ठे आरे में चारों ओर सर्वत्र प्राणिमात्र के लिए असह्य, तीखी, कठोर, प्रचुर, धूलि भरी और दुःखद स्पर्श वाली आंधियाँ चलेंगी।”^{१५} रज, शिला, कीचड़ और रेणु बजरी, कण-मय धूलि से भरी दसों दिशाएँ पंचम आरे के अन्त में सब ओर घने धूम से धूमायमान प्रतीत होंगी। उस दुषमा आरा की समाप्ति की अंतिम वेला में सात रात-दिन तक निरन्तर घोर वर्षा होगी। उस घोर वर्षा से हरे वृक्ष, तृण, गुल्म, लता वनस्पति और अग्नि की योनि उसी अहोरात्रि में नष्ट हो जाएगी। उस समय पर्वत भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाएंगे। रत्न भण्डार वैताढ्य पर्वत भी अति लघु दिखाई देगा। चन्द्र हिम वर्षा करेंगे और सूर्य बड़ी तीव्रता से तपेंगे जिससे कि इन दस क्षेत्रों के मनुष्य एवं तिर्यच शीत और उष्ण के मारे असह्य कष्ट पाएँगे। अत्यधिक शीत पड़ेगा और तपन भी अधिक अधिक होती जाएगी। उस समय लोक आग की चिन्गारियों के पुँज के

जाएगा।^{१२६} उस समय भूमि गिरते हुए अंगारों की चिंगारियों के समान तपी हुई हो जाएँगी। अग्नि और हरे तृण पूर्णतः नष्ट हो जाएँगे। दुषमा-दुषमा आरे का और वर्णन तित्थोगाली में निम्न प्रकार है—

जल-प्रवाह द्वारा बहाये हुए फल और पत्र तक न पाकर करुण, दीन-हीन बने हुए लोग दिखने तक दुर्लभ हो जाएँगे। उस समय में महिलाएँ विकराल कालिका अथवा विकराल पिशाचिनी के तुल्य बीभत्स, लज्जाविहीन और क्लेशों से आबद्ध होंगी। उस समय लोग ग्राम-शूकरों के समान विवर्ण एवं घृणास्पद देहवाले, नग्न, वस्त्र रहित, लम्बे-लम्बे केशों एवं नखों वाले तथा बड़े ही बीभत्स होंगे। वे लोग कुबड़े, सर्प-कीचड़, मूत्र और पुरीष (विष्टा) खाने वाले, मुर्दे के समान देहवाले, मारो-काटो-छेद डालो-इस प्रकार के दुष्टवचन बोलने वाले एवं मृत्यु के पश्चात् दुर्गतिगामी होंगे। इस समय बार-बार भीषण दुष्काल पड़ेंगे। उस समय बादल अरस, विरस, कड़वा, खट्टा, अग्नि, विष एवं वज्र सदृश अनिष्टकर जल बरसाएँगे, जिससे यहाँ मनुष्यों को खाँसी, श्वास, कुष्ठ आदि तथा अन्य अनेक प्रकार के भयंकर रोग घेरे रहेंगे। जल-स्थल और आकाश में विचरण करनेवाले तीनों प्रकार के प्राणी तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यच बहुत दुःखी हो जाएँगे। वृक्ष, कुएँ, तालाब और नदियाँ ये सब नष्ट हो जाएँगी। भरत-ऐरावत आदि दसों क्षेत्रों में उस समय नर-नारी नग्न रहते हैं। पशुधर्मा उन मनुष्यों के सुख पशुओं के सुख तुल्य होते हैं। आज के समय में जिस प्रकार महिलाएँ अपने पुत्रों को आशीर्वाद के रूप में कहती हैं— “सौ बरस तक जीओ।” इस प्रकार उस काल की माताएँ अपने पुत्रों को आशीर्वाद देती हुई कहेंगी— “सोलह वर्षों तक जीते रहो।” उस समय के मनुष्य सोलह वर्ष की पूर्ण आयु भोग कर मरते समय उस समय अपने पाँच पीढ़ियों के मुख देख लेंगे। छह वर्ष से कुछ कम अवस्था में ही महिलाएँ पुत्र-पुत्रियों को जन्म देंगी। छह वर्ष की अवस्था में ही गर्भ धारण कर लेने वाली नारियाँ जब सोलह वर्ष की उम्र में स्थविरा होंगी तब वे दस पौत्र-दौहित्रों को देख लेंगी। उस समय ग्राम शूकर तुल्य रूप और गुण वाले, उस समय के वे सभी नर-नारी तप, नियम और शौच से रहित, मैत्री भाव से परिहीन और एक मुण्ड हाथ ऊँचाई के शरीरवाले होंगे। उस समय के मनुष्य बड़े तीक्ष्ण एवं कठोर नखोंवाले, अनगढ़ घड़े के सामान मुख वाले तथा बोलने में अति विकट अटपटे नामोंवाले होंगे। वे सब के सब वर्ण आदि सब गुणों से अति कर्कश और निष्ठुरातिनिष्ठुर स्वभाव वाले होंगे। उन मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई एक मुण्ड हाथ की, उनकी उत्कृष्ट आयु बीस अथवा सोलह वर्ष की होगी। वे बहुत से पुत्रों, पौत्रों और दौहित्रों के परिवार वाले, नितान्त निर्लज्ज एवं अविनीत होंगे। वे गृह विहीन नर-नारी मत्स्य, मकर भोजी सूर्य की गरमी से पके मांस के खाने वाले गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटों के पास की वैताद्य पर्वत की गुफाओं में रहने वाले और बड़े ही क्रूरकर्मा होंगे। वे लोग बिलवासी होंगे। वे बहत्तर बिल वैताद्य पर्वत में नदियों के दोनों तटों पर होंगे। प्रत्येक तट पर नौ-नौ बिल होंगे। उस समय सभी जीवों की जातियों का बीज मात्र अवशिष्ट रहेगा। वे सब प्राणी रात्रि के दोनों संध्याकाल में मत्स्य-मकरादि के मांस का आहार करेंगे। उस समय दसों क्षेत्रों की गंगा आदि नदियों में रथ-पथ के बराबर भाग में जल होगा, जो मछलियाँ, कछुओं आदि से संकुल रहेगा।

वे कपट-शूर, डरपोक, निशाचर मनुष्य दिन भर बिलों में दबे पड़े रहेंगे। वे दिन और रात की दोनों संधियों की वेला में बिलों से निकल कर मत्स्यों और कछुओं आदि जल-जन्तुओं को गंगा-सिन्धु नदियों के तटों पर धूलि में दबा देंगे। भरत क्षेत्र में गंगा एवं सिन्धु नदियां और वैताद्वय पर्वत, केवल ये तीन ही बचे रहेंगे शेष कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहेगा। इसकी स्थिति इक्कीस हजार वर्ष की होगी। इस प्रकार अवसर्पिणी काल के छठे दुषमा-दुषमा आरा का विवेचन तित्थोगाली प्रकीर्णक में गाथा ९२६ से ९६१ तक किया गया है।

उत्सर्पिणी काल—यह उत्सर्पिणी काल दस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण का कुल छह आरों में विभक्त होता है। जैन काल गणनानुसार कालचक्र का दूसरा चक्र उत्सर्पिणी है। जिस काल में बल, आयु व उत्सेध का उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है, वह उत्सर्पिणी काल कहलाता है। इस काल में आरों का क्रम अवसर्पिणी काल के आरों के चक्र के ठीक विपरीत होता है। दूसरे शब्दों में यह काल दुषमा-दुषमा आरा से प्रारम्भ होकर क्रमशः उन्नति करता हुआ सुषमा-सुषमा आरा पर समाप्त होता है। दूसरे काल-चक्र के आरों का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार है -

१. **दुषमा-दुषमा**—इस काल में मनुष्य तथा तिर्यच नग्न रहकर पशुवत् आचरण करते हैं और क्षुधित होकर वन प्रदेशों में धतूरा आदि वृक्षों के फल मूल और पत्ते आदि खाते हैं। शरीर की ऊँचाई एक हाथ प्रमाण होती है। इस काल में तेज, बल, बुद्धि आदि सब काल-स्वभाव से उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार भरत क्षेत्र में २१००० वर्ष तक अति दुषमा काल विद्यमान रहता है।^{२७} इस काल को जघन्य कर्म भूमि कहा गया है। तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी इस काल का वर्णन अलग से प्राप्त है, यद्यपि इस काल की सभी घटनाएँ पूर्ववर्ती अवसर्पिणी काल के अंतिम आरे दुषमा-दुषमा के समान ही विपरीत क्रम में घटित होती हैं। तित्थोगाली में गाथा ८६४ से ८९४ तक इस आरे का विवेचन निम्न प्रकार प्राप्त होता है- “यह दुषमा-दुषमा आरा ढाई द्वीप के पाँच भरत और पाँच ऐरावत-इन दसों क्षेत्रों में मनुष्यों और तिर्यचों के लिए दारुण दुःखपूर्ण होगा। इस काल में भूमि अंगारों की चिंगारियों के समान तापवाली धुक-धुकामान होगी। ठिठुरा देने वाला शीत और झुलसा कर पिघला देने वाले आतप के दुःख से संतप्त बिलवासी येन केन प्रकारेण अवश सहते हुए समय को व्यतीत करेंगे। वे बिलवासी वस्त्र विहीन-नग्न रहेंगे। स्त्रियाँ बड़ी निर्बल होंगी। वे सब कुत्सित आहार अर्थात् मत्स्यादि जलचरों के मांस को खाने वाले होंगे। दिन तथा रात का अवसान होने पर वे लोग बिलों से निकल कर मछलियों को नदियों से पकड़कर तटों पर रेती से दबा देंगे। वे नर-नारी दुषमा-दुषमा के प्रारम्भ में १६ वर्ष आयु और एक हाथ ऊँचाई वाले होंगे तथा आरे के अन्त में उनकी आयु २० वर्ष और शरीर की ऊँचाई दो हाथ होगी। इस काल में सभी जाति के पक्षी, सिंह, हाथी, गौ, महिष, गधे, ऊँट आदि पंचेन्द्रिय, चतुष्पद, पशुवर्ग आदि अन्य विविध प्राणिवर्ग केवल ही मात्र होंगे। उस समय में मानव वर्ग के बहत्तर सवर्ण अर्थात् सहोदर नर-नारी-युगल होंगे। वैताद्वय पर्वत में ७२ बिल होंगे। नदियों के दोनों तटों पर नौ-नौ बिल होंगे। वे सब बिलों के दोनों संधिकालों में निकृष्ट आहार करने वाले होंगे। उस समय दस गंगा और दस नदियों में रथ के मार्ग तुल्य प्रवाह में मछलियों और कछुओं से भरा पानी होगा। उ-

भरत क्षेत्र में बादल सात-सात रात-दिन तक क्रमशः विष, अग्नि और क्षार मिश्रित जल की घोर वर्षा करेंगे। सात-सात अहोरात्रों की उन तीन घोर वृष्टियों के जल-प्रवाह से पर्वत विचूर्णित और विषम स्थल पूर्णतः समतल हो जाएंगे। इस प्रकार समस्त भरत क्षेत्र समुद्र के समान समतल हो जाएगा। तीव्र शीत और गर्मी से गले मत्स्यों के मांस से उन बिलवासी मनुष्यों की उदरपूर्ति पूरे इक्कीस हजार वर्षों तक होती रहेगी। इस प्रकार अवसर्पिणी काल के अंतिम इक्कीस हजार वर्ष दुषमा-दुषमा नामक छठा आरा और उत्सर्पिणी काल के उतनी ही स्थिति वो दुषमा-दुषमा नामक प्रथम आरा के पूरे ४२००० वर्षों तक बिलवासी मनुष्यों की वृत्ति शीत तथा उष्णता से गले मत्स्यों के मांस से चलती रहेगी। इन दोनों दुषमा-दुषमा काल के व्यतीत हो जाने के पश्चात् आकाश में क्रमशः पाँच प्रकार के मेघ प्रकट होंगे। पुष्करसंवर्त मेघ, क्षीरमेघ, घृततोय मेघ, अमृत मेघ और पाँचवा रस मेघ-ये पाँचों मेघ उपर्युक्त दसों क्षेत्रों में क्रमशः बरसेंगे। इन पाँचों में से अनुक्रमशः प्रत्येक मेघ एक के पश्चात् एक निरन्तर सात-सात दिन तक वर्षा करेंगे। पैंतीसवें दिन में बादल सौम्य होंगे। प्रथम पुष्कर संवर्त मेघ पृथ्वी के ताप का हरण करेगा। दूसरा क्षीर मेघ धान्य उत्पन्न करेगा। तीसरा घृततोय मेघ पृथ्वी में सस्नेह अर्थात् चिकनाहट, चौथा अमृत मेघ औषधि याँ उत्पन्न करेगा और पाँचवा रस मेघ पृथ्वी पर वृक्ष, लता, गुल्मादि को सिंचित करेगा। इस प्रकार पृथ्वी वर्ण, गन्ध, रूप, रसादि से युक्त एवं क्रमशः समृद्ध होगी। उत्सर्पिणी काल के प्रथम दुषमा-दुषमा आरे की अंतिम रात्रि के आते ही सात दिन-रात निरन्तर अति घोर वृष्टि होगी। इस प्रकार उत्सर्पिणी के प्रथम दुषमा-दुषमा नाम आरे का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

२. दुषमा-इस काल में मनुष्य-तिर्यचों का आहार आदि प्रारम्भ के २०,००० वर्ष तक दुषमा-दुषमा आरे की तरह ही होता है। इस आरे की कुल स्थिति २१,००० वर्ष मानी गयी है। इसके प्रारम्भ में शरीर की ऊँचाई तीन हाथ प्रमाण होती है। इस काल में एक हजार वर्ष शेष रहने पर कुलकरों की उत्पत्ति होने लगती है। ये सभी चौदह कुलकर इस काल के म्लेच्छ पुरुषों को उपदेश देते हैं।^{२८} यह काल मध्यम कर्मभूमि कहलाता है। तित्थोगाली प्रकीर्णक में उत्सर्पिणी काल के द्वितीय दुषमा नामक आरे का वर्णन गाथा ८९५ से ९९८ तक इस प्रकार से किया गया है-उपर्युक्त वर्णनानुसार दुषमा-दुषमा के अंतिम रात्रि में घोर वृष्टि के फलस्वरूप अमृत रस के उद्गम स्रोत हरे भरे वृक्ष, तृण, गुल्म, लता आदि वनस्पति वर्ग उत्पन्न होते हैं। पैंतीस अहोरात्र पर्यन्त मेघों से जल की धवल धारावली निरन्तर बरसती रहती है। तदनन्तर जलधाराओं से आहत एवं आश्वस्त हुए वे बिलवासी लोग चिन्तन करने लगे-“अहो! महान आश्चर्य! आज तो शीतल जल बरस रहा है। अब इन मत्स्यादि के मांस से क्या प्रयोजन, जबकि इससे परम श्रेष्ठ और स्वादिष्ट कन्द, मूल, पुष्प, फल, धान्यादि अन्य बहुत सी खाद्य वस्तुएँ हमें उपलब्ध हैं।” तब वे सभी बिलवासी मानव बिलों से बाहर आकर एक स्थान पर एकत्रित हो अन्न और पृथ्वी की उस विशाल समृद्धि को देखकर सर्वसम्मत रूप में इस प्रकार का निर्णय करेंगे- ‘यह भारतवर्ष कुसुम आदि से समृद्ध एवं सुखपूर्वक विचरण करने योग्य बन गया है। अतः भविष्य में यदि कोई व्यक्ति मांस खाएगा, तो वह हम लोगों से बहिष्कृत कर दिया जाएगा।

शेष ८ क्षेत्रों में भी सब कुछ इसी प्रकार घटित होगा। इस प्रकार दसों क्षेत्रों में संहनन, बल, वीर्य, आयु, शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श आदि की उत्तरोत्तर उन्नति एवं अभिवृद्धि होगी। इस प्रकार मनुष्यों में प्रीति, प्रणय, स्नेह, शुद्धभाव, विनय, लज्जा, पौरुष-पराक्रम, यश और कीर्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि होगी। ज्यों-ज्यों काल व्यतीत होता जाएगा, त्यों-त्यों रूप, शील आदि की वृद्धि होती जायेगी और मनुष्यों के देह की ऊँचाई जो आरम्भ में दो मुण्ड हाथ होगी, वह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते छह मुण्ड हाथ हो जाएगी। इस प्रकार शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भाँति वृद्धि की ओर अग्रसर लोक एवं काल में उस समय से मनुष्यों की सहसा ही मनः शुद्धि होती है। विद्याओं, पुष्प-फलों, औषधियों, आयु, सुख, समृद्धि, संस्थान, उत्सेध और धर्म-इन सब की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार का 'दुषमा काल' कहा गया है। इस काल के अंतिम भाग में सभी दस क्षेत्रों में सात-सात कुलकर उत्पन्न होंगे जिनका नामोल्लेख एवं अन्य वर्णन चतुर्थ अध्याय में 'कुलकर वर्णन' शीर्षक में किया जाएगा।

३. दुषमा-सुषमा-उत्सर्पिणी काल में दुषमा काल के पश्चात् दुषमा-सुषमा नामक आरा प्रारम्भ होता है। इसका काल प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक सागरोपम कोडाकोडी है। यह उत्कृष्ट कर्मभूमि का काल होता है। इसके आरे के प्रारम्भ में शरीर की ऊँचाई सात हाथ होती है। मनुष्य पाँच वर्णवाले शरीर से युक्त, मर्यादित, विनयी, लज्जाशील, सन्तुष्ट एवं सम्पन्न होते हैं। इस काल में भरत तथा ऐरावत क्षेत्रों में २४-२४ तीर्थकर होते हैं। उनके समय में १२ चक्रवर्ती ८ बलदेव, ८ प्रतिनारायण हुआ करते हैं। इस आरे के अन्तिम भाग में मनुष्य की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष हो जाती है।^{२९} तित्थोगाली प्रकीर्णक में इस आरा का बहुत ही विस्तार से विवेचन किया गया है और इसमें उत्पन्न होनेवाले भरत और ऐरावत क्षेत्रों के तीर्थकरों एवं अन्य तीर्थकरेतर विभूतियों का उल्लेख गा० १०२५ से ११५५ तक मिलता है जिसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत पुस्तक के तीसरे अध्याय और चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इन विभूतियों के अतिरिक्त उस काल का अन्य वर्णन भी तित्थोगाली में प्राप्त होता है-“उत्सर्पिणी काल के उस दुषमा-सुषमा आरा में ही क्षेत्रों में पर्वतों तथा नदियाँ की वृद्धि होगी। ज्ञान-विज्ञान एवं सौख्य की वृद्धि होगी। छहों ऋतुओं के प्रभाव, गुण आदि में भी अभिवृद्धि होगी। सत्रह प्रकार के धान्य, सब प्रकार के वृक्षों के फल एवं मूल, खजूर, द्राक्षा, दाडिम, पनस एवं कर्कटी आदि की भी वृद्धि होती है। उस समय सुन्दर भरत क्षेत्र एवं अन्य दसों क्षेत्रों में नर-नारीगण, चतुष्पद और पक्षिगण अपनी इच्छानुसार विचरण करते हैं। उस काल में बादल अमृत की वर्षा करेंगे^{२९}। चन्द्र सुखद शीतलता एवं सूर्य सुहानी उष्मा पहुँचाएँगे। वर्ष आवर्त क्षेत्र और देश-प्रदेश बड़े ही सौम्य तथा भूमि एवं पानी मधुर आस्वाद वाले होंगे। पुनः यथासमय अमृत के समान सरस जल की वर्षा होगी, जिससे कि मानव वर्ग में किसी प्रकार के रोग संघात उत्पन्न नहीं होंगे।”^{३०} इस तृतीय दुषमा-सुषमा नामक आरे के तीन वर्ष साढ़े आठ मास व्यतीत होने पर महापद्म तीर्थकर का जन्म होगा। भगवान् महावीर और महापद्म के बीच का अन्तर ९४००७ वर्ष पाँच मास का माना गया है।^{३१}

४. सुषमा-दुषमा-उत्सर्पिणी काल का चौथा आरा सुषमा-दुषमा है। इसकी काल

स्थिति दो कोडाकोडी सागरोपम है। इस आरे के प्रारम्भ में विद्यमान मनुष्यों की ऊँचाई पाँच सौ धनुष होती है तथा उनके शरीर की ऊँचाई एक कोस प्रमाण होती है। इनकी आयु व शरीर की ऊँचाई उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। उस समय यह पृथ्वी जघन्य भोग भूमि कही जाती है।^{३२} इस आरे का वर्णन तित्थोगाली में गाथा ११५७ से ११६१ तक इस प्रकार से प्राप्त होता है— “सुषमा-दुषमा आरा के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम होती है। ज्यों-ज्यों इस चतुर्थ आरे का समय व्यतीत होता जाता है त्यों-त्यों कल्पवृक्ष आदि वृद्धिगत रहते हैं। एक गाउ की ऊँचाई वाले उस समय के नर-नारीगण बड़े रूप सम्पन्न होते हैं। उस आरे के मनुष्य अनेक प्रकार के सुगन्धित गन्ध-रसवाले निर्मल कन्द-मूल-फलों का उपभोग करनेवाले, रोग अथवा आतंकविहीन सुन्दर रूप-सम्पन्न और देवदुन्दुभि के निर्घोष के समान मधुर स्वरवाले होते हैं। उस समय के नर एवं नारी-गण वनों में यथेच्छ विचरण करनेवाले होते हैं। कल्पवृक्ष भी सदा सब ऋतुओं के फलों से एवं सभी गुणों से समृद्ध उत्सर्पिणी काल के उस चतुर्थ आरक में दो कोडाकोडी सागरोपम काल होता है। इस प्रकार तित्थोगाली में उत्सर्पिणी के चतुर्थ आरक सुषमा-दुषमा का वर्णन किया गया है।

५. सुषमा-सुषमा-दुषमा काल के पश्चात् उत्सर्पिणी काल का पाँचवा “सुषमा” नामक आरा प्रारम्भ होता है। इस आरा के प्रारम्भ में मनुष्य एवं तिर्यचों की आयु-उत्सेध आदि सुषमा-दुषमा काल के अन्त के समान होती है, परन्तु काल-स्वभाव से वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सुषमा काल के अन्त में मनुष्य दो कोस ऊँचे, पूर्णचन्द्र सदृश मुखवाले, विनयी एवं शील सम्पन्न होते हैं। सुषमा आरा की काल स्थिति तीन कोडाकोडी सागरोपम है। इस समय की पृथ्वी मध्यम भोगभूमि कहलाती है। इस आरे में जिस प्रकार मनुष्यों, तिर्यचों और कल्पवृक्षों की वृद्धि होती है, उसका वर्णन तित्थोगाली में गाथा ११६३ से ११६९ तक किया गया है— “ज्यों-ज्यों काल आगे की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों इन सबकी आयु, दीर्घता आदि तथा मनुष्यों एवं तिर्यचों में वृक्षों के उपभोग बढ़ते रहते हैं। उस समय ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं— १. अनग्ना २. दीपशिखा ३. त्रुटितांग ४. भृंग ५. कोपीना, ६. ऋतुसुखा ७. दीपशिखा ८. त्रुटितांग ९. चित्ररस और १०. प्रस्त। उस समय के मनुष्यों को अनन्ना में वस्त्रादि, दीपशिखा से प्रकाश, त्रुटितांगों से संगीत, भृंग से सब प्रकार के भाजन पात्रादि, कोपीनों से आभरणालंकार, ऋतुसुख नामक कल्पवृक्षों से विविध भोगोपभोग एवं शृंगार-प्रसाधन की सामग्री, आमोदों से वाद्य, प्रमोदों से मल्लविधियाँ, चित्ररसों से अनेक प्रकार के अभीष्ट स्वादु भोजन प्राप्त होते हैं एवं प्रस्थ नामक कल्पवृक्ष मण्डप के समान होते हैं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों आयु तथा शरीर की ऊँचाई एवं मनुष्यों और तिर्यचों को कल्पवृक्षों से प्राप्त होनेवाली उपभोग्य सामग्री में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। उत्सर्पिणी के सुषमा नामक उस पंचम आरक में पुरुषों एवं महिलाओं के शरीर की ऊँचाई दो गाऊ और आयु दो पल्योपम हो जाती है।

६. सुषमा-सुषमा-उत्सर्पिणी काल का छठा और अन्तिम आरा ‘सुषमा-सुषमा’ है। यह उत्कृष्ट भोगभूमि का काल है। इसके प्रारंभ में आसु आदि सुषमा काल के अन्तवत् होती है और बाद में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इसके अन्तिम भाग में बढ़ते-बढ़ते मनुष्यों की ऊँचाई तीन कोस होती है। वे बहुत परिवारवाले तथा अनेक प्रकार की विक्रिया करने

में समर्थ शक्तियों से संयुक्त होते हैं।^{३३} तित्थोगाली में उत्सर्पिणी के इस छठे आरे का वर्णन संक्षेप में गाथा ११७१ से ११८८ तक इस प्रकार है- “सुषमा-सुषमा नामक आरे का काल-प्रमाण चार कोडाकोडी सागरोपम का है। ज्यो-ज्यों समय आगे की ओर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों मनुष्यों एवं तिर्यचों की आयु, शरीर की ऊँचाई तथा उन्हें कल्पवृक्षों से प्राप्त होनेवाली भोग सामग्री की वृद्धि होती जाती है। सुषमा-सुषमा नामक आरे में मनुष्यों की शरीर की ऊँचाई तीन गव्यूति (गाड) और उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम होती है। आंखों और मन को अति प्रिय लगने सुन्दर रूप, भोगों के उपभोग योग्य सभी उत्तम लक्षणों को धारण करने, अति सुन्दर अंग-प्रत्यंग, रक्तकमल के पत्र के समान सुकोमल हाथ-पैर, पर्वत, नगर, मकर, सागर, चक्र, अंकुश और वज्र के प्रत्यक्ष लांछनों (लक्षणों) से युक्त सुघड़-सुगठित, सुन्दर, चरणों उन्नत शरीर और ताम्रवर्ण के नखों वाले अति सुन्दर एवं गूढ़ (अप्रकट) घुटनों, टखनों आदि के जोड़ एड़ी, कुरुविन्द-कदलिस्तम्भ के समान सुगठित आवर्त (उतार-चढ़ाव), सुन्दर जंघाओं, उभार रहित सुदृढ़ घुटनों, गजराज की सूँड के समान ऊपरी भाग में स्थूल और अधो भाग में उत्तरोत्तर प्रतनु (पतली) जंघाओं श्रेष्ठहस्ती के समान मत्त गम्भीर चाल, अच्छी जाति के उत्तम घोड़े के समान प्रच्छन्न गुप्तांगों, केसरी के समान कटि और वज्र के समान त्रिवलि युक्त मध्य भाग (कटि एवं उदर) वाले गंगा-प्रवाह के भँवर के समान प्रदक्षिणा करती हुई सी और सूर्य की किरणों के द्वारा प्रफुल्लित कमल के फूल के समान नाभि, मनोरम रोमावलि, मछली या पक्षी के समान प्रच्छन्न कुक्षि, यथास्थान समुचितरूपेण सुगठित क्रमशः अन्दर की ओर झुके हुए सांचे में ढले हुए से पाश्र्वों, बत्तीस लक्षणों के धारक एवं मांसल समुन्नत विशाल वक्षस्थल, समृद्ध एवं सुविशाल श्रेष्ठ नगर के द्वार की अर्गला के समान सृदृढ़ भुजाओं, प्रगाढ़, सुदृढ़ सुस्थिर सुन्दर एवं दृढ़तापूर्वक सधे एवं बंधे हुए शारीरिक संधियों, मांसल होने के कारण उभरे हुए अंगुलितलों, चार अंगुल लम्बी एवं शंख जैसी सुन्दर ग्रीवा, अच्छी तरह बलखाती हुई अति सुन्दर पुष्ट एवं बड़ी सुन्दर तीखी मूछों, सभी तरह से सराहनीय सिंह की हनु के समान पुष्ट एवं सुन्दर टुड्डी, बिम्ब फल के समान लाल ओष्टपुटों तथा गाय के दूध के समान धवल दंत पंक्तियों की प्रभा, प्रतप्त स्वर्ण के समान लाल-लाल जिह्वा, गरुड़ की चोंच के समान आयत, सीधी, तीक्ष्ण, नाक, श्रेष्ठ लाल कमल के फूल के समान प्रफुल्ल लोचनों, संधान हेतु कुछ झुकाए हुए श्रेष्ठ धनुष के समान भौंहों, उपयुक्त रूपेण उभरे हुए सुन्दर कानों, उभरे हुए मांसल एवं श्लाघनीय सुन्दर कपोलों, शुक्ल पक्ष की पंचमी के चाँद तुल्य ललाट, पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुखमण्डल छत्र के समान सुशोभित सिर, गिरिराज के उच्चतम शिखर पर संस्थित काले बादलों के समान घने तथा सँवरे हुए काले घुंघराले बालों, सब प्रकार के शुभ लक्षणों एवं गुणों से युक्त, मान-उन्मान सहित परिपूर्ण अंगोपोगों, प्रसाद के समान दर्शनीय उस सुषमा-सुषमा आरे के मनुष्य अतीव सुन्दर होंगे। सुघड़, सुन्दर चरणों वाली तथा सदा पीन एवं उन्नत पयोधरों वाली स्त्रियाँ भी चन्द्रमा के समान अति सौम्य एवं सुन्दर होंगी। सुषमा-सुषमा काल में शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह बढ़ते हुए सौख्य पूर्ण लोक में पशु-पक्षी आदि तिर्यचों का भी सब प्रकार के सुख उपलब्ध होगा। उस समय मेघ समुचित वर्षा करेंगे। औषधियाँ, फल आदि समीचीन रूप से सरस होंगे।

६० : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

पूर्णतः सरस उन औषधियों के बल और प्रभाव से मनुष्यों तथा तिर्यचों की आयु बढ़ेगी । राजगृह नगर के गुणशील नाक उद्यान में भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति आदि श्रमणों के समक्ष आगामी उत्सर्पिणी काल के षष्ठम आरे का ऐसा वर्णन किया ।

इस प्रकार इन दोनों काल चक्रों-अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी का छह-छह आरों में विभक्त कालों का वर्णन जैन परम्परा में है । जिसका वर्णन तित्थोगाली प्रकीर्णक में भी प्राप्त होता है ।

ये सब काल विभाजन भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होते हैं तथा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह आरों में वृद्धि और हानि भी भरत एवं ऐरावत क्षेत्र की अपेक्षा से ही होते हैं । शेष विदेह आदि क्षेत्र में जहाँ जो काल है वह सर्वदा अवस्थित है । उनमें कोई परिवर्तन कभी नहीं होता है । इसकी पुष्टि तत्त्वार्थ सूत्र से भी होती है ।^{३४}

संदर्भ ग्रंथ

१. अनुयोगद्वार सूत्र- पृ०- ४३४, सूत्र- ५३२
२. तिलोयपण्णत्ति- ४/२७८
३. वही सूत्र-३६६, पृ०- २८६
४. जंबू० वक्ख०- २, सूत्र- १, १९
५. वही सूत्र- ३८१-३८२
६. तित्थोगाली, गाथा- ७-८
७. तित्थोगाली गा०- ९
८. वही, गा०- ११-१५
९. राजवार्तिक- ३/३७/१-२/२०४-२०५,
(ख) सर्वार्थसिद्धि- ३३७, पृ०-२३२
१०. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति- १७६
११. तित्थोगाली, गा०- २३
१२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग-३, पृ०- २३५
१३. तिलोयपण्णत्ति गा०- ४१२-४२०
१४. तिलोयपण्णत्ति- ४/३७९-८०
१५. ति० प०- ४/१४७४-१५७५
१६. तित्थो०- ६२३-६२४
१७. वही, ६२५
१८. वही, ६२५-६२९
१९. तित्थो०- ८९३-९०४
२०. तित्थो०-९०५-९२३
२१. वही, ८३७-८६९
२२. वही, ८६७-८७८
२३. तिलोयपण्णत्ति- ४/१५३५-१५४४
२४. तिलोयपण्णत्ति- ४/१५४४-१५५४
२५. त्रि०सार- ८६४-८६७
२६. त्रि०सार- ९१९-३४, ९३५-३
२७. ति०प०- १५६२-१५६६

२८. तिलोपपण्णत्ति- ४/१५६७-७५
२९. तिलापपण्णत्ति- ४/१५७५-९५,
त्रि०सा०- ८७२-८०
३०. तित्थोगाली गा०-९९९-१००३
३१. वही, १०३८-३९
३२. ति०प०- ४/१५९६-९९
३३. ति०प०- ४/१६०२-५
३४. तत्वार्थ सूत्र- विवेचन, पृ०-९३

तृतीय अध्याय

तिथोगाली में तीर्थकर

जैन परम्परा का अपना वैशिष्ट्य रहा है जो विभिन्न रूपों में प्रदर्शित होता रहा है। तीर्थकर की अवधारणा इसी की एक कड़ी है। तीर्थकर जैन परम्परा का सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। यह केवल कर्मों का क्षय करनेवाला महान व्यक्ति नहीं है बल्कि ऐसा व्यक्तित्व है जो तीर्थ की स्थापना करने के साथ-साथ धर्म-मार्ग का प्रवर्तन भी करता है। जैन परम्परा में तीर्थकरों की संख्या एक अर्ध काल-चक्र में चौबीस मानी गयी है। इन तीर्थकरों को अतिशय गुणों से युक्त, घातीकर्म विनाशक, मार्गद्रष्टा, धर्मोपदेश आदि कई रूपों में विवेचित किया गया है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त इनके साथ किसी न किसी प्रकार की विशिष्टताएँ घटित होती रहती हैं। यही कारण है कि जैन परम्परा में तीर्थकरों के विभिन्न उत्सवों का वर्णन किया गया है। जैसे-जन्म, जन्मोत्सव, वंश, पूर्वभव, निष्क्रमण, तप, केवल ज्ञान, शिष्य परम्परा इत्यादि।

(क) वर्तमान काल के तीर्थकर

स्वरूप—जैन परम्परा में तीर्थकर को धर्म-तीर्थ का संस्थापक कहा गया है। धर्म-तीर्थ जैन परम्परा का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ होता है—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका का सम्मिलित संघ। जैन परम्परा की मान्यतानुसार धर्म-संघ अत्यन्त प्राचीन काल से अस्तित्व में रहे हैं। यह काल चक्र अनादि अनन्त है। केवल बीच-बीच में कुछ काल का अन्तराय होता रहा है। फिर भी हम तीर्थकर की अवधारणा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अवलोकन करना चाहेंगे, जिसके आधार पर हमारी स्थापना की ऐतिहासिकता भी सिद्ध हो और इसके स्वरूप का निर्धारण करने में आसानी हो।

विद्वानों का मत है कि तीर्थकर की अवधारणा का जैन परम्परा में क्रमिक विकास हुआ है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में तीर्थकर शब्द का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है परन्तु उससे समानता रखनेवाला शब्द “अहरन्त” अति प्राचीन है। यद्यपि समानता के बावजूद इसके अर्थ और भाव भिन्न हैं। उदाहरणस्वरूप आचारांग एवं सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन जैन ग्रन्थों में तीर्थकर शब्द नहीं मिलता है परन्तु उसके स्थान पर अरहन्त (अर्हत) शब्द मिलता है। इसके सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि तीर्थकर की अवधारणा के विकास के पूर्व अरहन्त शब्द ही रहे हैं, क्योंकि अरहन्तों द्वारा दिया गया उपदेश तीर्थकरों के समानान्तर ही जान पड़ता है— “जे अइया जे य पडुप्पपन्ना, जे य आगमेस्सा अरहन्ता, भगवतो ते सव्वे एवमाइक्खन्ति ---- सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा एस धम्मे सुद्धे गिइए सासए सामिच्च लोयं खेयण्णेहि पवेइए ।”^१

उपर्युक्त आधार पर हम यह तो नहीं कह सकते कि “तीर्थकर” शब्द प्राचीन है, परन्तु इतना विचार अवश्य किया जा सकता है कि अरहन्त की अवधारणा से तीर्थकर की

अवधारणा का विकास हुआ है। इसके साक्षी मथुरा के अभिलेख (ईसा पूर्व प्रथम सदी से ईसा की दूसरी सदी) भी है, जहाँ तीर्थकर की जगह अर्हत् शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययन सूत्र, जो महावीर की वाणी के रूप में प्रसिद्ध है और प्राचीन भी है, में पहली बार 'धम्म तित्थयर जिण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।^२ उत्तराध्ययन के बाद के आगमों-आचारांग द्वितीय श्रुत स्कन्ध, भगवती, स्थानांग, समवायांग एवं कल्प सूत्र में तीर्थकर शब्द का प्रयोग आरम्भ हो गया था। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय में -णिण्ठनायपुत्र अर्थात् महावीर, मंखलिगोसालक, संजय वेलट्ठिपुत्र, पूर्णकाश्यप, अतिजकेशकम्बल और पकुधकात्यायन को तीर्थकर कहा गया है।^३ परवर्ती आगम "भगवती" में गोशालक अपने को तीर्थकर कहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि तीर्थकर शब्द का प्रयोग शुरू होने के प्रारम्भिक काल में यह श्रमण परम्परा में सर्वमान्य था पर बाद में यह जैन परम्परा का विशिष्ट शब्द बन गया।

मेरे विचार से 'तीर्थकर' शब्द के परवर्ती काल में प्रयोग का कारण अलग है। श्रमण परम्परा के उस हिस्से, जिसे बाद में 'जैन परम्परा' कहा गया, मुख्यतः अन्तर्मुखी और आत्मकेन्द्रित सम्प्रदाय के रूप में प्रारम्भ हुआ। इसके अनुसार व्यक्ति के स्वयं के कर्मों का फल उसे ही भोगना पड़ता है, अतः मनुष्य को अपनी मुक्ति के लिए स्वयं ही प्रयास करना अपेक्षित है। जो अपने चार घाती कर्मों को नष्ट कर लेता है वह अरिहन्त कहलाता है। इस प्रकार इस परम्परा के प्रारम्भिक चरण में 'अरिहन्त' शब्द ही प्रचलित था, और इसमें अपने कल्याण के अलावा समाज और किसी दूसरे के कल्याण के निमित्त की गयी साधना का कोई अर्थ नहीं बनता था। यही कारण है कि प्रारम्भिक काल में श्रमण परम्परा के इस समुदाय में आत्मकेन्द्रित रहनेवाले मुनियों का उल्लेख मिलता है। किसी समूह, साधारण जन या गृहस्थ का इसमें कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। पर परवर्ती काल में अन्य सम्प्रदायों में खासकर बौद्धों के प्रभाव से इस सम्प्रदाय में भी श्रावकों (गृहस्थों) के लिए स्थान बनाया गया और धर्म संघ की स्थापना की गयी और तभी इस सम्प्रदाय का नामकरण 'जैन धर्म' के रूप में हुआ। यही कारण है कि प्राचीन आगमों में जहाँ मुनियों के आचार-व्यवहार, अनुशासन, तप आदि की शिक्षा से भरे पड़े हैं वही श्रावकों के विषय में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। श्रावकों या गृहस्थों का उल्लेख करनेवाला द्वादशांगी का एकमात्र सातवाँ अंग 'उपासकदशा' नामक परवर्ती आगम है। श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका-रूपी चतुर्विध संघ की अवधारणा स्थापित होने और इस संघ के साधुओं और संचालकों द्वारा गृहस्थों को भी इस पंथ में शामिल करने के पश्चात् ही अरिहन्त को 'तीर्थकर' ऐसी संज्ञा दी गयी होगी, क्योंकि तीर्थकर का अर्थ है 'जो तीर्थ को करे' अर्थात् जो धर्म रूपी तीर्थ का विस्तार करते हैं अथवा धर्म-चक्र का प्रवर्तक करते हैं वे तीर्थकर हैं। तीर्थ शब्द 'तृ' धातु से 'थ' प्रत्यय संबद्ध होकर बनता है। इसका सरल अर्थ है-जिसके द्वारा तरा जाए।' इस शब्दार्थ को ग्रहण करने से तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ हो जाते हैं। जैसे-देव-शास्त्र, गुरु, पवित्र धर्म-कर्म-स्थान इत्यादि। परन्तु फिर भी पूर्व के अर्थ की मान्यता में, जो तीर्थ या तीर्थकर के अर्थ के सम्बन्ध में है, कोई बाधा नहीं आती है। इस तीर्थ के शब्दार्थ से पूर्वोक्त तीर्थकर के शब्दार्थ का समन्वय इस प्रकार किया जा

सकता है—जो देव-शास्त्र, पवित्र धर्म-कर्म-स्थान इत्यादि तीर्थों के आधारभूत प्रयोजन हैं वे तीर्थकर शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है। तीर्थ का अर्थ है—‘सलिल’। इस अर्थ से तीर्थकर का सामञ्जस्य इस प्रकार किया जा सकता है—जो अपने जीवन में अनेकानेक जीवों के लिए, उनके उद्धार की अर्थकल्याणमयी भावना से प्रेरित हो धर्म रूपी तीर्थ या सलिल की धारा प्रवाहित करते हैं, वे तीर्थकर हैं।” इस प्रकार आत्मकेन्द्रित ‘अरिहन्त’ शब्द का विकास और रूपान्तर समाज कल्याण के प्रवर्तक ‘तीर्थकर’ शब्द में हुआ प्रतीत होता है।

जैन परम्परा में तीर्थकरों की एक निश्चित संख्या, उनका क्रम, उनके जीवन वृत्त आदि का स्वरूप बहुत बाद में स्थिर हो गया। इस काल में रचित ग्रन्थ कल्पसूत्र एवं समवायांग में सबसे पहले हमें तीर्थकरों से सम्बन्धित विवरण मिलते हैं। इसके अलावा स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, विपाकसूत्र में भी तीर्थकर शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है, पर कालक्रम की दृष्टि से ये सभी आगम परवर्ती माने जाते हैं। प्राचीन स्तर के आगमों में से केवल उत्तराध्ययन में ही ‘तित्थयर’ शब्द मिलता है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन में अरहन्त शब्द का ही प्रयोग हुआ है। उत्तराध्ययन के २३वें अध्ययन की २६वीं एवं २७वीं गाथा में कहा गया है कि पहले (तीर्थकर) के साधु ऋजु जड़ अर्थात् सरल चित्त और मूर्ख होते थे और अन्तिम के वक्र जड़ होते थे जबकि मध्य के बाईस तीर्थकरों के साधु ऋजु प्राज्ञ थे।

“पुरिमा उज्जुजडा उ, वंकजडा या पच्छिमा ।

मज्झिमा उज्जुपन्ना य, तेण धम्मे दुहाकए ॥”^४

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययन के २३वें अध्ययन के रचनाकाल तक तीर्थकर की अवधारणा स्थापित हो चुकी थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इस समय तक महावीर को अन्तिम, पार्श्व को उनका पूर्ववर्ती तथा ऋषभ को प्रथम तीर्थकर माना जाने लगा था। वैसे तीर्थकर की विकसित अवधारणा केवल समवायांग और भगवती में ही प्राप्त होती है। पर समवायांग का यह प्रसंग प्रक्षिप्त माना जाता है। इससे इसका परवर्ती होना निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि नदी सूत्र में समवायांग की विषय वस्तु की चर्चा में उपरोक्त प्रकीर्णक समवाय का उल्लेख नहीं है। संभवतः आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के रचनाकाल तक न तो तीर्थकरों की २४ संख्या निश्चित हुई थी और न यह निश्चित हुआ था कि ये तीर्थकर कौन-कौन हैं। स्थानांग में ऋषभ, पार्श्व और वर्धमान के अतिरिक्त वारिषेण का उल्लेख हुआ है।^५ किन्तु वर्तमान में २४ तीर्थकार की अवधारणा में वारिषेण का उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भावना है कि आगे चलकर वारिषेण की जगह अरिष्टनेमि का नाम समाहित कर दिया गया होगा।^६ मथुरा में मिली मूर्तियों में भी ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर का उल्लेख है। पार्श्व और महावीर की ऐतिहासिकता तो सुनिश्चित ही है, अरिष्टनेमि और ऋषभ की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी कुछ आधार मिल सकते हैं।^७ उत्तराध्ययन सूत्र में अरिष्टनेमि को भगवान्, लोकनाथ और दमीश्वर की उपाधि दी गयी है— “भगवं अरिट्ठनेमि ति लोगनाहे दमीसर ।”^८ इस प्रकार देखा

जाता है कि जैन परम्परा में जिन आगमिक ग्रन्थों को द्वितीय स्तर का माना गया है, उनमें ही तीर्थकर की अवधारणा का विकसित रूप है। साहित्यिक एवं पुरातात्विक आधारों से ज्ञात होता है कि ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में २४ तीर्थकरों की अवधारणा निश्चित हो गयी थी।^{१९} यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि समकालीन भारतीय धाराओं-जैन, बौद्ध और ब्राह्मण-तीनों में क्रमशः तीर्थकरों, बुद्धों और अवतारों की संख्या लगभग एक ही काल में २४-२४ निश्चित हुई। वैदिक परम्परा के साहित्य में प्रारम्भ में इन्द्र महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में आते हैं। पर बाद में धीरे-धीरे विष्णु सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुए और फिर विष्णु के विभिन्न अवतारों की कल्पना सामने आई। विष्णु के अवतारों की चर्चा सर्वप्रथम महाभारत में मिलती है जहाँ विष्णु के छः अवतारों-बराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम और कृष्ण का उल्लेख है।^{१०} पर शांति पर्व के अगले अध्याय में ही चार और अवतार-हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्की-को शामिल कर दस अवतार कर दिया गया है।^{११} यद्यपि अवतारों की कल्पना विष्णु से की गयी पर प्रारम्भिक पुराण विष्णुपुराण में अवतार की कोई चर्चा नहीं है। परवर्ती पुराणों-अग्निपुराण वराहपुराण आदि में कुछ अन्तर के साथ विष्णु का दस अवतार कल्पित है। अवतारों की संख्या भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में बदलती रही है। भागवतपुराण में विष्णु के असंख्य अवतार बताये गये हैं। फिर उसे बाईस, चौबीस, सोलह, ग्यारह आदि किया गया है। महाकाव्य काल आते-आते यह संख्या चौबीस तक पहुँच गयी और भागवतपुराण तक यह संख्या ही मान्य हो गयी।

बौद्ध परम्परा में पिटक साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दीघनिकाय और संयुत्तनिकाय में प्रथम शाक्यमुनि बुद्ध और ७ पूर्ववर्ती बुद्धों का उल्लेख है। लंकावतार सूत्र में २४ बुद्धों की अवधारणा मिलती है। इस प्रकार तीनों ही परम्पराओं में क्रमशः अवतार, तीर्थकर और बुद्ध की संख्या के संदर्भ में विकास देखा जाता है।^{१२} इस प्रकार हम देखते हैं कि एक विशेष काल-खण्ड में इनकी संख्या २४ निश्चित हो गयी थी, जिसे एक परम्परा का दूसरे पर प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है।

महत्त्व-जैन परम्परा में तीर्थकर को धर्म-तीर्थ का संस्थापक कहा गया है। 'नमोत्थुणं' नामक प्राचीन प्राकृत स्तोत्र में तीर्थकर को धर्म का प्रारम्भ करनेवाला, धर्म-तीर्थ की स्थापना करनेवाला, धर्म का प्रदाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता, धर्म मार्ग का सारथी और धर्म-चक्रवर्ती कहा गया है। जैनाचार्यों ने एकमत से यह माना है कि समय-समय पर धर्म-चक्र प्रवर्तक हेतु तीर्थकरों का जन्म होता रहता है। जैन धर्म का तीर्थकर गीता के ईश्वर के समान धर्म का संस्थापक तो है किन्तु दुष्टों का दमन एवं सज्जनों की रक्षा करनेवाला नहीं है। तीर्थकर लोककल्याण के लिए मात्र धर्म-मार्ग का प्रवर्तन करते हैं, किन्तु अपनी वीतरागता, कर्म-सिद्धान्त की सर्वोपरिता एवं अहिंसक साधना की प्रमुखता के कारण वैदिक परम्परा के अवतार की भाँति अपने भक्तों के कष्टों को दूर करने हेतु दुष्टों का दमन नहीं करते हैं।^{१३}

तीर्थकर का कार्य स्वयं सत्य का साक्षात्कार करना और लोकमंगल के लिए उस सत्यमार्ग या सम्यक् मार्ग का प्रवर्तन करना है। वे धर्म मार्ग के उपदेष्टा और धर्म मार्ग

पर चलनेवालों के मार्गदर्शक हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है—स्वयं को संसार-चक्र से मुक्त करना, आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करना और दूसरे प्राणियों को भी इस मुक्ति और आध्यात्मिक पूर्णता के लिए प्रेरित करना और उसकी साधना में सहयोग करना। तीर्थंकर को संसार-समुद्र से पार होनेवाला और दूसरों को पार करानेवाला कहा गया है—“नमोत्थुणं अहिंताणं भगवंताणं आइगराणं, तित्थगराणं, सयंसंबुद्धाणं धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंतं-चक्कवट्टीणं जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं।^{१४} वे पुरुषोत्तम हैं। उन्हें सिंह के समान शूरवीर, पुण्डरीक कमल के समान वरेण्य और गन्धहस्ती के समान श्रेष्ठ माना गया है। वे लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक के हितकर्ता, दीपक के समान लोक को प्रकाशित करनेवाले कहे गये हैं। (पुरिससुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुरिसवर-गंध हत्थीणं। लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोग-पईवाणं, लोग पज्जोयगराणी)।^{१५}

यद्यपि तीर्थंकर पद मानवीय व्यक्तित्व का चरम विकास है, यह पद कोई भी व्यक्ति संयम, तप और उत्कृष्ट साधना से प्राप्त कर सकता है, फिर भी विशिष्ट व्यक्तित्व होने के कारण उनके साथ कई अलौकिक बातें भी जोड़ी गयी हैं। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भगवान् महावीर के जीवन का कुछ उल्लेख प्राप्त होता है। उसमें उनकी कठोर तपस्या का वर्णन किया गया है, परन्तु किसी अलौकिक घटना का उल्लेख नहीं है। पर परवर्ती आगमों आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध और कल्पसूत्र में महावीर के जीवन से सम्बन्धित अनेक अलौकिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है। तीर्थंकर के गर्भावतरण के समय उनकी माता १४ स्वप्न (श्वेताम्बर मतानुसार) या १६ स्वप्न (दिगम्बर मतानुसार) देखती है। गर्भ कल्याणक का उल्लेख आचारांग में किया गया है, परन्तु इसके उत्सव आदि का वर्णन यहाँ प्राप्त नहीं होता है। इसका विस्तृत वर्णन टीका ग्रन्थों और परवर्ती साहित्य में प्राप्त होता है। मान्यतानुसार तीर्थंकर माता की जिस योनि में विकसित होते हैं, वह योनि अशुभ पदार्थों से रहित होती है। ये अशुचि से रहित निर्मल रूप से ही जन्म लेते हैं और देवता उनका जन्मोत्सव मनाते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय परिवेश शान्त रहता है, सुगन्धित वायु बहने लगती है, पक्षीगण कलरव कहते हैं, उनके जन्म के साथ ही समस्त लोक में एक प्रकाश व्याप्त हो जाता है आदि। यह भी मान्यता है कि तीर्थंकरों के दीक्षा महोत्सव और कैवल्य महोत्सव का संपादन भी देवता करते हैं। उनके दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व देवता अपार धनराशि उनके कोषागार में डाल देते हैं और वे प्रतिदिन एक करोड़ बावन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। सर्वज्ञता की प्राप्ति के पश्चात् देवता उनके लिए एक विशिष्ट समवशरण (धर्म सभा-स्थल) का निर्माण करते हैं, जिसमें बैठकर वे लोक-कल्याण हेतु धर्म-मार्ग का प्रवर्तन करते हैं।^{१६} इस प्रकार जहाँ प्रारम्भिक जैन-ग्रन्थों यथा-आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, सूत्रकृतांग आदि में उन्हें मानवीय एवं लौकिक व्यक्ति के रूप में रखा गया है वहीं परवर्ती साहित्य आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, कल्प सूत्र, तित्थोगाली आदि में महावीर एवं कुछ अन्य तीर्थंकरों के जन्म कल्याणक आदि की कुछ अलौकिकताएँ उल्लिखित हैं। बाद के आगम साहित्य एवं कथा साहित्य में

तीर्थकरों को पूर्णतः लोकोत्तर बना दिया गया। ऐसा लगता है कि पश्चात्पूर्वी जैन-धर्म एक स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था तथा उसकी मूल क्रान्तिकारिता का हास हो चुका था, इस कारण इस काल के साहित्य में किसी परिवर्तनवादी मौलिक दृष्टि न रहकर तत्कालिक प्रचलित सम्प्रदायों से अपने को अधिक रहस्यवादी, कर्मकांडी और लोकोत्तर रूप में स्थापित होने की प्रबल भावना रही होगी। इसके लिए अपनी परम्परागत धारा को अलौकिक बनाना आवश्यक था। दूसरी तरफ वैदिक कर्मकाण्ड, पौराणिक काल्पनिक और चमत्कारी कथाओं के समकक्ष अपने साहित्य को खड़ा करने की भावना भी काम कर रही थी। दूसरा मुख्य कारण मेरे विचार में यह हो सकता है कि अपने अनुयायी जनसाधारण को परिवर्तन के किसी मौलिक लक्ष्य और क्रान्तिकारी तेवर के अभाव में संगठित रखना और उनके विश्वास को स्थिर रखने का एक मात्र साधन तत्कालीन अन्य सम्प्रदायों की तरह रहस्यवादी, अलौकिक और दिलचस्प साहित्य का सृजन आवश्यक हो जाता है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से पश्चात्पूर्वी जैन साहित्य तीर्थकरों की अलौकिकताओं से सम्पन्न हुई। तीर्थकर के स्वरूप को आम साधुओं से अलग दिखाने के लिए उनके पंचकल्याणकों का वर्णन किया गया है। वे पंचकल्याणक केवल तीर्थकरों के ही माने गये हैं।^{१७} इनके इन पंच कल्याणकों का वर्णन तित्थोगाली में भी उल्लिखित है। कल्याणकों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

१. **गर्भकल्याणक**—तीर्थकर के गर्भ में आने पर उनकी माता १४ दिव्य स्वप्न देखती हैं।^{१८} दिग्म्बर परम्परा के अनुसार स्वप्नों की संख्या १६ है। देवतादि उनके गर्भावतरण पर गर्भकल्याणक का महोत्सव करते हैं। तित्थोगाली में वर्णित १४ स्वप्न इस प्रकार हैं—१. बैल २. हाथी ३. सिंह ४. श्री अभिषेक ५. माला ६. चन्द्रमा ७. रविमण्डल ८. महेन्द्र ध्वज ९. स्वर्णकलश १०. पद्मसरोवर ११. क्षीरसमुद्र १२. प्रासाद १३. नागभवन और १४. रत्नोच्चय।^{१९}

२. **जन्म-कल्याणक**—तीर्थकर के जन्म होने पर इन्द्र देवताओं सहित आकर उनका जन्म कल्याणक महोत्सव मनाते हैं, और उन्हें मेरुपर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक आदि करते हैं।^{२०}

३. **दीक्षा-कल्याणक**—दीक्षा-ग्रहण का समय आने से एक वर्ष पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रवज्या ग्रहण करने का अनुरोध करते हैं। तब वे एक वर्ष तक करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। दीक्षा के दिन इन्द्र देवता सहित उनका अभिनिष्क्रमण मनाते हैं। इसके बाद तीर्थकर पालकी में बैठकर वन की ओर जाते हैं। तीर्थकर स्वयं दीक्षित होते हैं। उनका कोई दीक्षा गुरु नहीं होता।^{२१}

४. **कैवल्य-कल्याणक**—तीर्थकर नाम-कर्मवाले को केवल-ज्ञान के समय भी इन्द्र देवता सहित आकर उनका कैवल्य महोत्सव मनाते हैं तथा धर्म-सभा के लिए समवसरण की रचना करते हैं।^{२२}

५. **निर्वाण-कल्याणक**—तीर्थकर के निर्वाण के अवसर पर भी देवों द्वारा उनका निर्वाण-महोत्सव मनाया जाता है। इसके अलावा तीर्थकरों के विशेष अतिशय भी होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका में तीर्थकरों के चार अतिशयों का उल्लेख किया

६८ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

है ।^{२३} १. ज्ञानातिशय २. वचनातिशय ३. अपायापगमातिशय और ४. पूजातिशय ।^{२४} इसका वर्णन निम्न प्रकार है ।^{२५}

१. ज्ञानातिशय—तीर्थकर सभी द्रव्यों की भूतकालिक, वर्तमानकालिक तथा भावी पर्यायों का ज्ञाता-द्रष्टा होते हैं । उनकी यही त्रिकालज्ञता ज्ञानातिशय है ।

२. वचनातिशय—अबाधित और अखण्डित सिद्धान्त का प्रतिपादन वचनातिशय है । इनके पुनः पैंतीस भेद किये गये हैं । इनका विवरण आगे है ।

३. अपायापगमातिशय—राग-द्वेष आदि सभी १८ दोषों से रहित होना अपायापगमातिशय कहलाता है । इनका विवरण आगे है ।

४. पूजातिशय—देवों और मनुष्यों द्वारा पूजित होना पूजातिशय है ।

वचनातिशय के उपर्युक्त पैंतीस भेद निम्न हैं^{२६}—

१. संस्कारत्व—वचनों का व्याकरण-सम्मत होना २. उदात्तत्व—उच्च स्वर से युक्त ३. उपचारोपेतत्व—ग्रामीणता से रहना ४. गम्भीर शब्दत्व—मेघ के समान गम्भीर शब्द से युक्त ५. अनुनादित्व—प्रत्येक शब्द का यथार्थ उच्चारण से युक्त होना ६. दक्षिणत्व—सरल वचन ७. उपनीतरागत्व—यथोचित राग-रागिणी से युक्त ८. महार्थत्व—वचनों की महानता ९. अव्याहत पौर्वापर्यत्व—पूर्वापर अविरोधी वाक्य १०. शिष्टत्व—वक्ता की शिष्टता का सूचक ११. असंदिग्धत्व—सन्देह रहित निश्चित अर्थ का प्रतिपादक १२. अपह्यतान्योत्तरत्व—अन्य लोगों के दोषों का अपहारक १३. हृदय ग्राहित्व—श्रोताओं के हृदय का आकर्षक वचन भाषी १४. देशकालाव्ययीतत्व—देश-काल के अनुकूल वचन १५. तत्त्वानुरूपत्व—विवक्षित वस्तु-स्वरूप के अनुरूप वचन १६. अप्रकीर्णप्रसृतत्व—संक्षेप, सुसम्बद्ध वचन १७. अन्योन्य प्रग्रहीत-परस्पर सम्बन्ध पद-वाक्य प्रयोग १८. अभिजातत्व—वक्ता की कुलीनता और शालीनता का सूचक वचन १९. अतिस्निग्ध मधुरत्व—स्नेह और मधुर वचन २०. अपरमर्मवेधित्व—मर्मवेधी न होना २१. अर्थधर्माभ्यासानयेत्व—अर्थ और धर्म के अनुकूल २२. उदारत्व—तुच्छता-रहित और उदारता युक्त होना २३. परनिन्दात्मोत्कर्ष-विप्रयुक्तत्व—परनिन्दा एवं स्वप्रशंसा से रहित २४. उपगतश्लाघत्व—प्रशंसनीय वचन २५. अनपनीत्व—व्याकरण दोष से रहित २६. उत्पादिताच्छिन्न कौतूहलत्व—श्रोताओं में कौतूहल उत्पन्न करनेवाला वचन २७. अद्भुतत्व—अद्भुत नवीन वचन २८. अनातिविलम्बितत्व—अतिबिलम्ब से रहित धाराप्रवाह वचन २९. विभ्रमविक्षेपकिलिकिञ्चिततादिविभुक्तत्व—मन की भ्रान्ति, विक्षेप और शेष भयादि से रहित वचन ३०. अनेक जाति संश्रयाद्विचित्रत्व—अनेक वर्णनीय वस्तु स्वरूप का वर्णन युक्त वचन ३१. आहित विशेषत्व—विशेषतायुक्त वचन ३२. साकारत्व—पृथक्-पृथक् वर्ण, पद, वाक्य के आकार से युक्त वचन ३३. सत्वपरिगृहीतत्व—साहसपूर्ण वचन ३४. अपरिखेदित्व—खेद खिन्नता से रहित वचन और ३५. अव्युच्छेदित्व—विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धिवाला वचन ।

प्रकारान्तर से तीर्थकरों के अतिशय को तीन भागों में भी विभक्त किया गया है^{२७}—

(i) सहज अतिशय (ii) कर्मक्षयज अतिशय और (iii) देवकृत अतिशय । श्वेताम्बर परम्परा

में सहज अतिशय के चार, कर्मक्षयज अतिशय के ग्यारह और देवकृत अतिशय के उन्नीस-कुल चौतीस भेद किये गये हैं।

(i) सहज अतिशय—१. सुन्दर रूप, सुगन्धित, निरोग, पसीना एवं मलरहित शरीर २. कमल के समान सुगन्धित स्वासोच्छ्वास। ३. गौ के दूध के समान स्वच्छ, दुर्गन्ध रहित मांस और रुधिर। ४. चर्मचक्षुओं से आहार और निहार का न दिखना।

(ii) कर्मक्षयज अतिशय—१. योजन मात्र समवसरण में कोडाकोडी मनुष्य, देव और तिर्यचों का समा जाना। २. एक योजन तक फैलने वाली भगवान् की अर्धमागधी वाणी को मनुष्य, तिर्यच और देवताओं द्वारा अपनी-अपनी भाषा में समझ लेना। ३. सूर्य प्रभा से भी तेज, सिर के पीछे प्रभामण्डल का होना। ४. १०० योजन तक रोग का न रहना। ५. वैर का करना। ६. ईति अर्थात् धान्य आदि को नाश करनेवाले चूहों आदि का अभाव। ७. महामारी आदि का न होना। ८. अतिवृष्टि न होना। ९. अनावृष्टि न होना। १०. दुर्भिक्ष न पड़ना। ११. स्वचक्र और परचक्र का भय न होना।

(iii) देवकृत अतिशय—१. आकाश में धर्मचक्र न होना। २. आकाश में चमरों का होना। ३. आकाश में पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन। ४. आकाश में तीन छत्र। ५. आकाश में रत्नमय धर्मध्वज। ६. सुवर्ण कमलों पर चलना। ७. समवसरण में रत्न, सुवर्ण और चाँदी के तीन परकोटे। ८. चतुर्मुख उपदेश। ९. चैत्य वृक्ष। १०. कण्टकों का अधोमुख होना। ११. वृक्षों का झुकना। १२. दुन्दुभि बजना। १३. अनुकूल वायु। १४. पक्षियों को प्रदक्षिणा। १५. गन्धोदक की वृष्टि। १६. पाँच वर्णों के पुष्पों की वृष्टि। १७. नख और केशों का नहीं बढ़ना। १८. एक कोटि देवों का पास में रहना और १९. ऋतुओं का अनुकूल होना।

दिगम्बर परम्परा में १० सहज १० कर्मक्षयज और १४ देवकृत-अतिशय माने गये हैं।^{२८}

अपायापगमातिशय के अन्तर्गत तीर्थकर को राग-द्वेष आदि निम्नलिखित १८ दोषों से रहित माना गया है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार ये दोष हैं^{२९}— १. दानान्तराय २. लाभान्तराय ३. वीर्यान्तराय ४. भोगान्तराय ५. उपभोगान्तराय ६. मिथ्यात्व ७. अज्ञान ८. अविरति ९. कामेच्छा १०. हास्य ११. रति १२. अरति १३. शोक १४. भय १५. जुगुप्सा १६. राग १७. द्वेष और १८. निद्रा।

दिगम्बर परम्परा में १८ दोष निम्न हैं^{३०}— १. क्षुधा २. तृषा ३. भय ४. रोष ५. राग ६. मोह ७. चिन्ता ८. जरा ९. रोग १०. मृत्यु ११. स्वेद १२. खेद १३. मद १४. रति १५. विस्मय १६. निद्रा १७. जन्म और १८. उद्वेग (अरति)।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में तीर्थकरों को जिन दोषों से रहित माना गया है, उनमें मूलभूत अन्तर यह है कि जहाँ दिगम्बर परम्परा तीर्थकर में क्षुधा और तृषा का अभाव मानती है वहाँ श्वेताम्बर परम्परा तीर्थकर में इनका अभाव नहीं मानती है। शेष बातों में दोनों में समानता है।^{३१}

प्रस्तुत तित्थोगाली प्रकीर्णक में तीर्थकरों से सम्बन्धित विस्तृत विवरण प्राप्त हो

लगभग इसी काल में रचित दिगम्बर ग्रंथ तिलोयपण्णत्ति में भी तीर्थकरों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ मुख्यतः तित्थोगाली में उपलब्ध विवरणों का उल्लेख किया गया है।

तित्थोगाली में वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में उत्पन्न चौबीस तीर्थकरों के नाम और उनके जन्म-स्थान इस प्रकार हैं—१. ऋषभदेव-विनीतानगरी (अयोध्या) २. अजीतनाथ-विनीतानगरी ३. स्वयंभवनाथ-श्रावस्ती ४. अभिनन्दन-विनीतागनगरी ५. सुमतिनाथ-विनीता ६. पद्मप्रभ-कौशाम्बी ७. सुपाश्वनाथ-वाराणसी ८. चन्द्रप्रभ-चन्द्रपुर ९. सुविधिनाथ-काकन्दी १०. शीतलनाथ-भद्रपुर ११. श्रेयांसनाथ-सिंहपुर १२. वासुपूज्य-चंपानगरी १३. विमलनाथ-कापिल्यपुर १४. अनन्तनाथ-अयोध्या १५. धर्मनाथ-रत्नपुर १६. शांतिनाथ-गजपुर, १७. कुंथुनाथ-गजपुरा १८. अरनाथ-गजपुर १९. मल्लिनाथ-मिथिला २०. मुनिसुव्रतनाथ-राजगृह २१. नमिनाथ-मिथिला २२. अरिष्टनेमि-दशार्णपुर (द्वारावती) २३. पार्श्वनाथ-वाराणसी और महावीर-कुंडलपुर।

आगे हम तित्थोगाली के आधार पर तीर्थकरों के जन्म, जन्मोत्सव, वंश-स्थापना, वंश-गोत्र, चिन्ह वर्ण, सन्तान, संहनन-संस्थान, शिक्षा, राज्य, कुमारलाल, चक्रवर्ती काल, पूर्वभव, च्युत होने का विमान गणधर, नृपत्व, श्रुतज्ञान, निष्क्रमण, प्रवज्या, तप, केवल ज्ञान, शिष्य-परिवार, प्रथम भिक्षा, ऊँचाई, आयु, सिद्धि-स्थान केवलज्ञान-भूमि, चैत्यवृक्ष, कैवल्य प्राप्ति का मास-पक्ष-समय-तिथि-नक्षत्र-तप आदि का वर्णन करेंगे। सर्वप्रथम जन्मोत्सव आदि का सामूहिक वर्णन प्रस्तुत कर पुनः शेष लक्षणों को अलग-अलग तीर्थकरों के नाम से प्रस्तुत किया जाएगा। इसमें केवल वर्तमान अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के २४ तीर्थकरों का ही वर्णन है। शेष का वर्णन अगले उपशीर्षकों में किया गया है।

तित्थोगाली में मुख्यतः प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन किया गया है। उनको लेकर अन्य दस क्षेत्रों (पाँच भरत और पाँच ऐरावत) के तीर्थकरों के जन्मोत्सव का वर्णन किया गया है। शेष तीर्थकरों के जन्म-जन्मोत्सव आदि की कोई सूचना इस ग्रन्थ में नहीं मिलती। इसकी जानकारी के लिए अन्य ग्रन्थों का सहारा लिया गया है।

जन्म-जन्मोत्सव—ऋषभदेव का जन्म चैत्र मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी के बाद प्रथम रात्रि में चन्द्रोदय होने पर उत्तराषाढा नक्षत्र में हुआ।^{३२} इन तीर्थकर नाम-कर्म वाले जीवों के गर्भ धारण करने पर उनकी माताएँ चौदह शुभ-स्वप्नों का दर्शन करती हैं। ऐसा सभी तीर्थकरों की माताओं के साथ होता है। ये स्वप्न हैं— १. बैल २. हाथी ३. सिंह ४. श्री अभिषेक ५. माला ६. चन्द्रमा ७. रविमंडल ८. महेन्द्रध्वज ९. स्वर्णकलश १०. पद्मसरोवर ११. क्षीर-समुद्र १०. प्रासाद १३. नागभवन और १४. रत्नोच्चय।^{३३} तित्थोगाली के अनुसार दसों क्षेत्रों में दसों प्रथम बाल जिनों के उत्पन्न होने के समय नाना प्रकार के विचित्र रत्न पृथ्वी पर गिरे तथा आकाश में मधुर एवं गम्भीर शब्दों में दुन्दुभी बजने लगी। नगाड़ों, गीतों-वाद्यों की आवाजों, कहकहों तथा घड़े जैसी शब्दवाली आवाजों से वह रात भी दिन की तरह हो गयी। ऊर्ध्व-मध्य और तिर्यक् लोक में निवास करनेवाली

दिशाकुमारियाँ, अवधिज्ञान से जिनों को उत्पन्न हुआ जानकर प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य विमानों से आकर उन्हें आशीर्वाद देने लगी। वे सभी दिशाकुमारियाँ तीर्थकरों की वंदना करती हैं। इसके बाद अलग-अलग दिशाओं की दिशाकुमारियाँ-आकर जिन माताओं के चारों ओर गीत गाती हुई बैठती हैं। वे सब वहाँ जमीन को साफ कर पवित्र करती हैं और हल्की वर्षा से जमीन को कीचड़ रहित करती हैं। ये सभी आयोजन ऋषभ आदि एक समय में उत्पन्न दसों तीर्थकरों के क्षेत्र के नंदनवन के शिखर पर आयोजित किये जाते हैं। इन दिशाकुमारियों द्वारा किये जाने वाले आयोजनों का वर्णन विस्तार से तित्थोगाली में वर्णित है।^{३८} जो इस प्रकार है—रुचक पर्वत की दिशाकुमारियाँ जिनों के पद्म सदृश नाल को काटकर उसे रत्नपेटिका में रखकर प्रशस्त भूमि में गाड़ती हैं। वे दिशाकुमारियाँ जिनवरों के लिए हरियाली बाँधकर दक्षिण-पूर्व दिशा में कदलीगृह का निर्माण करती हैं। तत्पश्चात् वे कदलीगृह के भीतरी भाग में चतुःशाला का निर्माण कर उसके बीच तीन श्रेष्ठ सिंहासनों की रचना करती हैं। पुनः जिनों और उनकी माताओं को दक्षिणी चतुःशाला में स्थित सिंहासन पर बैठाकर उन्हें सतपाक और सहस्रपाक तेलों से मालिश कर, सुगन्धयुक्त जल से स्नान कराकर पूर्वी चतुःशाला में ले जाती हैं। फिर माताओं को दूध से स्नान कराने के बाद उन्हें और शिशु जिनवरों को आभूषण पहनाकर उत्तरी भवन के सिंहासन पर बैठाती हैं और वे सब नंदनवन से हरिचन्दन की लकड़ी लाकर होम का अनुष्ठान करती हैं। इसके बाद, भूतिकर्म करती हैं, उनके कान में मणिमय पत्थर पहनाती हैं और मंगलगान करती हुई उनकी रखवाली में प्रवृत्त हो जाती हैं। जिन और उनकी माता के सौ जाने पर सभी क्षेत्रों में वे दिशाकुमारियाँ भी सो जाती हैं। तदनन्तर बीस भवनपति, सोलह वनचराधिपति, ग्रहों-नक्षत्रों और समस्त तारागणों के साथ चन्द्र तथा सूर्य और कल्पाधिपति देव अवधिज्ञान से जिनों को उत्पन्न हुआ जानकर सपरिवार जिनों की वंदना करने आते हैं। इस समय सौधर्म कल्प नामक स्वर्ग विमान में विषय भोग में रत देवताओं के इन्द्र-शक का दिव्य सिंहासन कम्पित होता है। उनके कुण्डल प्रकम्पित होते हैं, माला के फूल मुरझा जाते हैं और आसन का रत्न गिर जाता है। वे शक्र परिषद सहित वहीं सिर झुकाकर जिनों का प्रमाण करते हैं और नेगमेसिदेव को अन्य देवताओं को घंटे की आवाज से सूचित करने का आदेश देते हैं। उनका आदेश सुनकर सभी देवगण अपने-अपने विमानों पर आरूढ़ होकर शन के विमान के पास पहुँचते हैं। तब इन्द्र भी अपने को उत्तर-वैक्रिय-लब्धि से सम्पन्न कर और अपना पचास-पचास जोड़े का शरीर बनाकर श्वेत ऐरावत हाथी पर चढ़कर अपनी पटरानियों के साथ वहाँ पहुँचकर जिनों के पादमूल में नमस्कार करते हैं। फिर इन्द्र अन्य देवों और अप्सराओं के साथ तीर्थकरों के जन्म-स्थान के पास गये। वहाँ इन्द्र जन्मगृह के पास खड़े होकर अपने सेनापति को जिनों को उनकी माताओं के पास से लाने का आदेश देते हैं। सेनापति वैसा ही करता है। इन्द्र जिनदेव का पदरज अत्यन्त भक्तिभाव से लेकर अपने शरीर का पाँच वैक्रिय शरीर बनाते हैं। उनमें से एक शरीर से शिशु जिनदेव को गोद में लेते हैं, दो शरीर से जिनदेव के दोनों तरफ चँवर लेकर लाते हैं। एक शरीर से हाथ में धवल वस्त्र और एक से अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओं के साथ मन से पूर्व दिशा में स्थित सुमेरु पर्वत की ओर जाते हैं। क्षणभर में वे सब सन्

में फल-फूल से आच्छादित रहनेवाले श्रेष्ठ सुमेरु पर्वत पर पहुँच गये। तित्थोगाली में पाँच मेरु पर्वत और उन पाँचों के पाँच-पाँच शिखर और प्रत्येक शिखर पर एक-एक जिन भवन की कल्पना की गयी है। ये सभी जिन भवन बारह योजन विस्तीर्ण और चार योजन ऊँचे माने गये हैं। उनके चारों ओर चार रमणीय शिलाएँ हैं। इनमें पूर्व दिशा की ओर पंडुकम्बलशिला, पश्चिम दिशा की ओर अतिपंडुकम्बलशिला तथा दक्षिण एवं उत्तर दिशाओं में रक्तातिरक्तकंबलशिलाएँ होती हैं। इनमें पूर्व और पश्चिम दिशा में शिलाओं पर रमणीय सिंहासन है तथा दक्षिण और उत्तर दिशा की एक-एक शिला पर अर्द्धचन्द्र सिंहासन कहा गया है। सीता और सीतोदा नदियों के तट पर उत्पन्न जिनवरों को देवताओं द्वारा पूर्व और पश्चिम दिशा की शिलाओं पर अभिषिक्त किया जाता है तथा भरत और ऐरावत क्षेत्रों के जिनदेव उत्पन्न होने पर उत्तर दिशा की शिला पर अभिषिक्त किये जाते हैं। इसी प्रकार सौधर्मपति इन्द्र सहित बत्तीस श्रेष्ठ इन्द्रों द्वारा पाँच हजार पान के पत्तों से दक्षिण दिशा की शिला पर शिशु जिनदेवों का अभिषेक किया जाता है। अभिषेक करने के पश्चात् इन्द्र जिनदेव को गोद में लेकर श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठते हैं। अच्युतकल्पवासी इन्द्र देवताओं को, जिनों की पूजा और अभिषेक के लिए तीर्थ-सरित-महाद्रह-चारों समुद्रों का जल और दिव्य कुसुम शीघ्रता से लाने का आदेश देते हैं। इन्द्र के आदेश पर सभी देवता सर्वोषधि, सरसों, हरियाली, कुसुमगंध का चूर्ण तथा द्रव, नदी एवं सरोवर का जल ले आये, जिससे अच्युतकल्पवासी इन्द्र ने पद्मोत्पल से आच्छादित कुसुमगंध युक्त जल से भरे हुए स्वर्णमणि-रत्न और मिट्टी के कलशों से परिषद सहित जिनों का अभिषेक किया। शेष इन्द्रों ने भी इसी क्रम से इन्हीं वस्तुओं से जिनों का अभिषेक किया। उस समय नगाड़ों, दुन्दुभि आदि से मंगल 'जय' शब्द की ध्वनि होती है तथा देवगण गोशीर्ष, चन्दन का रस, नैसर्गिक दिव्य पुष्प तथा कान्ति युक्त जल जिन देवों के सिर पर फेंकते हैं। इस अभिषेक उत्सव में विविध वेषधारी देवता, असुर, गंधर्व, सिद्ध तथा विद्याधर उपस्थित रहकर तत्, वितत, घन, शुषिर आदि वाद्य बजाते हैं और सप्तस्वरों में शृंगारयुक्त गीत गाते हैं। वे देवगण वहाँ पर चार प्रकार के अभिनय से युक्त, उनतालीस प्रकार के अंग-विक्षेप से परिपूर्ण तथा सुललित पद-विक्षेप द्वारा नृत्य प्रस्तुत करते हैं।^{३५} इस अवसर पर विभिन्न वेषधारी देवताओं द्वारा स्फोटन, मल्लयुद्ध आदि और बिजली का अनुशरण, घोड़े-हाथी-रथ की आवाज आदि से धरती-आकाश फट रहा लगता है। अंगों के विभिन्न हाव-भाव बनाकर चार प्रकार के मनोहर तथा नैसर्गिक अंगहार (शरीर-विक्षेप) के साथ अप्सराएँ नाचती हैं। नगाड़े-झाल तथा दुन्दुभि के गम्भीर मधुर घोष से हर्षोत्साहित लोग खुले आकाश के नीचे जम्हाई लेने लगते हैं।^{३६}

सभी देव-दानवों द्वारा अभिषेक कर दिये जाने पर शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र उन जिनों के श्वेत वृषभों के से सिंगों से निकली जलधाराओं से अभिषेक करते हैं। तत्पश्चात् इन्द्र स्वयं यत्नपूर्वक जिनदेवों के जलरज साफ कर, पद्म केसर एवं किंजल्क की खुशबू से सुगन्धित वस्त्र पहनाकर, हरिचन्दन से लिपटे छोटे-छोटे आभूषण पहनाकर उनके मस्तक पर पर्याप्त उपहारादि डालते हुए उन जिनों और जिन माताओं की स्तुति करते हैं। इस प्रकार जिन देवों का जन्मोत्सव हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न कर उनकी रक्षा के लिए देवताओं के साथ

इन्द्र उनकी स्तुति करते हैं। इनके स्तुतियों से गुणगानपूर्वक जिनेश्वरों को वन्दन करने के पश्चात् सुरलोक और भवनों में निवास करने वाले सुरासुर समूहों ने—“जिनशासन की जय हो”—इस प्रकार का दिव्य तुमुल घोष किया। तदनन्तर एन अतिसुन्दर स्वर्ण के सिंहासनों से उठकर सुरेश्वरों ने तीर्थकरों को अपने हाथों में अच्छी तरह आसीन किया और वे सुरसमूह के साथ सुमेरु पर्वत से शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया। जिन जन्म महोत्सव को सम्पन्न कर पवित्र बने हुए वे सुर-सुरेन्द्र क्षणभर में ही सुमेरु पर्वत से जिनेन्द्रों के जन्मवन में आ गये। उन्होंने जिनेन्द्रों को नमस्कार कर उन्हें हरिणेगमेषी देवों को सौंप दिया। हरिणेगमेषी देवों ने कांचनाभ देह छवि वाले एवं मृगलांछन युक्त पूर्णचन्द्र के समान प्रियदर्शी, प्रसन्नमना परमगुरु तीर्थकरों को उनकी अपनी-अपनी माताओं के पास पहुँचा दिया। तत्पश्चात् मरुदेवी आदि दशों जिनमाताओं की निद्रा का अपहरण कर इन्द्र अपनी देवियों के साथ प्रमुदित हो जिनेश्वरों की माताओं और पिताओं की स्तुति करते हैं। परमभक्ति, समादर और विनयपूर्वक देवियों सहित सुरों-इन्द्रों द्वारा स्तुति के पश्चात् घनघटावर गम्भीर स्वर में देवेन्द्र कहने लगे-भो! भो! पिशाचों, भूतों, राक्षसों, यक्षों, नागों, गंधर्वों तथा महामारी, श्वास ज्वरादि रोगों को फैलाने वाले तुम सब देव भी और वे लोग भी जिनका निरन्तर प्रत्येक का बुरा करने की ओर ध्यान रहता है, वे सब सुर एवं असुर-मेरे कथन को सुन लें जो कोई भी अज्ञान, प्रमाद अथवा तीव्र डाह, मिथ्यात्व के अभिनिवेशवश अथवा अमर्षवशात् जितने भी जिनेश्वर हैं, उनके प्रति मन में भी किसी प्रकार की दुर्भावना लाएगा, उस अशरण का सिर उसके अपने इस अपराध के फलस्वरूप शीघ्र ही फटकर बिखर जाएगा। इस प्रकार का पापपूर्ण विचार करने वाले स्वर्गवासी का निश्चितरूपेण स्वर्ग से पतन हो जाएगा, चाहे वह सामान्य सुर-असुर हो या देवेन्द्र ही क्यों न हो। इस बात को आप सभी भली-भाँति समझ लीजिए। इसी प्रकार उत्तर लोकाधिपति ईशानेन्द्र ने भी कहा कि इस प्रकार का अपराध करने पर न केवल किसी सुर अथवा असुर का ही बल्कि इन्द्र का भी स्वर्ग से पतन अवश्यभावी है। सुरेन्द्रों के इस हितकर वचन को सभी सुरासुरों द्वारा “एवमस्तु” कहकर शिरोधार्य किये जाने पर रत्नवर्षा से मिश्रित पाँच वर्ण के पुष्पों की वृष्टि की गयी। हर्ष विभोर हो देवों ने विचित्र वर्णों वाले अनेक प्रकार के चूर्णों, वस्त्रों और प्रचुर मात्रा में रत्नों की वर्षा की। तदनन्तर वज्रपाणि शक्र ने उत्कृष्ट भक्ति के साथ दसों ही जिनेश्वरों को एक-एक दिव्य कुण्डलों की जोड़ी और एक-एक कभी न कुम्हलानेवाला अति सुन्दर श्रीदास भेंट किया। देवराज शक्र की पटरानी देवियों ने सभी जिनेन्द्रों की माताओं को अनुक्रमशः (एड़ी से चोटी तक धारण करने योग्य) सभी प्रकार के दिव्य वस्त्र तथा अलंकार भेंट किये। जिनेन्द्रों के लिए बहुत से करने योग्य अनेक प्रकार के कार्यों के सम्बन्ध में सभी दिशाकुमारियों को निर्देश देकर, सुरेन्द्र जिनदेवों को प्रमाण कर सुरवृन्दों सहित नन्दीश्वर द्वीप में जिनवरों की महिमा कर क्षण भर में ही अपने-अपने स्वर्गलोक को चले गये। इस प्रकार उपर्युक्त सभी वर्णन तित्थोगाली में गाथा १३६ से २७३ तक वर्णित है।

वंश स्थापना एवं चिन्ह—ऋषभदेव के जन्म के एक वर्ष से कुछ समय बीतने पर वंश-स्थापना के लिए इन्द्र का आगमन होता है।^{३७} शक्र वंश स्थापना करते समय ईश आगे रखते हैं। इसलिए इनका वंश इक्ष्वाकु कहलाया। ऋषभदेव के जन्म तक युगल बच्चे

उत्पन्न होते थे। युवावस्था प्राप्त होने पर आपस में उनका विवाह हो जाता था। पर उस समय एक युगल में से एक (लड़की) की मृत्यु सिर पर ताड़ का फल गिर जाने से हो गयी। तब उस लड़की का विवाह ऋषभ से हुआ। वह मृत्यु उस समय तक की पहली अकाल मृत्यु थी। इस तरह की घटना पाँचों भरत और पाँचों ऐरावत क्षेत्रों में एक साथ हुई। इस प्रकार दसों क्षेत्रों में दस विवाह होते हैं। यहाँ जिनों को देव तथा दानव ओर से आवृत्त कर बैठते हैं।^{३८}

सन्तान—तित्थोगाली प्रकीर्णक के अनुसार ऋषभदेव के जन्म के छह लाख पूर्व व्यतीत हो जाने पर भरत-ब्राह्मी, सुन्दरी-बाहुबली युगलों का जन्म हुआ। पुनः उनकी पत्नी सुमंगला ने उनचास जोड़े पुत्रों को जन्म दिया। पर इन सबके विषय में यहाँ जानकारी प्राप्त नहीं है।^{३९}

राज्य-विभाजन एवं शिक्षा—नाभिराज कुलकर के पश्चात् उनके कहने पर ऋषभ राजा हुए। उस समय स्वयं शक्रेन्द्र वहाँ उपस्थित होकर राजा के योग्य मुकुट आदि अलंकारों से उनका राज्याभिषेक करते हैं। दूसरे देवता कमल के पत्तों पर पानी लेकर उनके पैरों पर छिड़कते हैं। इसी तरह ऋषभदेव ने सज्जन और विनीत पुरुषों के लिए विनीता नगरी की स्थापना की।^{४०} सुयोग्य हाथी, घोड़े, गायों को राज्य के निमित्त चारों प्रकार से संग्रह किया गया। उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल और क्षत्रियकुल-चारों का संग्रह किया गया। पाँच प्रकार के शिल्प-१. घटशिल्प २. लौह शिल्प ३. चित्र शिल्प ४. वस्त्र शिल्प और ५. कांस्य शिल्प का प्रवर्तन हुआ। इनमें से प्रत्येक के बीस-बीस भेद कर सौ प्रकार की शिल्प शिक्षा का विकास हुआ। ऋषभदेव ने १०० पुत्रों को सौ नगरों में बसाया। इससे एक सौ जनपद का निर्माण हुआ। इस प्रकार भरत क्षेत्र में वे पृथ्वी के प्रथम सम्राट हुए और पुत्रों में उन्होंने राज्य का बँटवारा किया।^{४१}

निष्क्रमण—प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव विनीता नगरी से निष्क्रमिक हुए, अरिष्टनेमि द्वारावती से तथा शेष तीर्थकर अपनी-अपनी जन्मभूमि से ही निष्क्रमित हुए। इनमें मल्लीनाथ, पार्श्व, श्रेयांस, तथा वासुपूज्य पूर्वाह्न में तथा शेष तीर्थकर उत्तराह्न में संसार का माया-मोह त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण करने हेतु निष्क्रमित हुए। इनमें भगवान् महावीर अकेले निष्क्रमित हुए। पार्श्वनाथ और मल्लीनाथ के साथ तीन-तीन सौ पुरुषों तथा भगवान् वासुपूज्य के साथ छह सौ पुरुषों, ऋषभदेव उग्रकुल, राजन्यकुल, भोगपकुल और क्षत्रिय कुल के चार हजार पुरुषों तथा शेष तीर्थकर एक-एक हजार परिवारों के साथ निष्क्रमित हुए।^{४२}

तप एवं प्रथम भिक्षा—सुमतिनाथ नित्य भोजन करते हुए प्रव्रजित हुए, पार्श्वनाथ और मल्लीनाथ तीन दिन का उपवास करते हुए तथा शेष तीर्थकर दो-दो दिन का उपवास करते हुए निष्क्रमित हुए। ऋषभदेव को प्रथम भिक्षा एक वर्ष में तथा शेष को दो-दिन में प्राप्त हुई। ऋषभदेव को प्रथम भिक्षा में इक्षुरस तथा शेष को श्रेष्ठ अन्न और श्रेष्ठ रस (दूध) प्राप्त हुआ।^{४३}

इसके अनन्तर प्रत्येक तीर्थकर का अलग-अलग विवेचन किया जा रहा है। इनमें

तित्थोगाली में उपलब्ध विवरण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों से भी सूचना संकलित है। तित्थोगाली के सारे संदर्भ तीर्थकर विवेचन के अन्त में एक साथ दिये गये हैं।

१. ऋषभदेव—ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर हैं। इनके पिता नाभि और इनकी माता मरुदेवी थीं। इनके शिष्य परिवार की संख्या चौरासी हजार थी तथा इनके समय में भरत चक्रवर्ती का राज्यकाल था।^{१४४} इनके ऋषभसेन प्रमुख चौरासी गणधर थे^{१४५}, तथा इनकी ही पुत्री ब्राह्मी इनकी प्रमुख शिष्या बनी।^{१४६} इनका कुल इक्ष्वाकु एवं गोत्र काश्यप था। इनका जन्म स्थान कोशल जनपद के अयोध्या नगर में माना गया है। इनकी दो पत्नियाँ थीं—सुनन्दा और सुमंगला। भरत, बाहुबली आदि सौ पुत्र और ब्राह्मी-सुन्दरी-दो पुत्रियाँ थीं।^{१४७}

ऋषभदेव उस काल में उत्पन्न हुए थे। जब मनुष्य प्राकृतिक जीवन से निकल कर ग्रामीण एवं नगरीय जीवन में प्रवेश कर रहा था। माना जाता है कि ऋषभदेव ने पुरुष को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाओं की शिक्षा दी थी, उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिज्ञान तथा सुन्दरी को गणित विषय में पारंगत बनाया था। जैन मान्यता के अनुसार असि (सैन्यकर्म)। मसि (वाणिज्य) और कृषि को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी ऋषभदेव को है। इस प्रकार जैन परम्परा में इन्हें भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आदि पुरुष माना जाता है। यह भी मान्यता है कि इन्होंने सामाजिक जीवन में सर्वप्रथम यौगलिक परम्परा को समाप्त कर विवाह की परम्परा स्थापित की। परम्परागत मान्यता के अनुसार इनके शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष और आयु ८४ लाख पूर्व मानी गयी है। ये ८३ लाख पूर्व वर्ष तक सांसारिक अवस्था में रहे और आधा लाख पूर्व वर्ष तक संयम का पालन किया। अपने जीवन की सांध्यवेला में इन्होंने चार हजार लोगों के साथ संन्यास लिया। इन्हें एक वर्ष के कठोर तप के पश्चात् पुरिमताल उद्यान में बोधि प्राप्त हुई। जैनों की ऐसी मान्यता है कि ऋषभदेव के साथ संन्यासधर्म को अंगीकार करनेवाले अधिकांश व्यक्ति उनके समान कठोर आचरण का पालन न कर पाये और परिणामस्वरूप अपनी-अपनी सुविधाओं के अनुसार विभिन्न श्रमण परम्पराओं को जन्म दिया। उनके पौत्र मारीचि द्वारा त्रिदंडी संन्यासियों की परम्परा प्रारम्भ हुई। जैन मान्यता के अनुसार ऋषभदेव के संघ में ८४ गणधरों के अधीन ८४ हजार श्रमण थे, ब्राह्मी प्रमुख तीन लाख आर्यिकाएँ थीं। तीन लाख पचास हजार श्रावक और पाँच लाख चौवन हजार श्राविकाएँ थीं।^{१४८}

तित्थोगाली के अनुसार ऋषभदेव सर्वार्थसिद्धि विमान से उत्तराषाढा नक्षत्र में च्युत होकर मरुदेवी और नाभिराय कुलकर के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। ये सुषमा-दुषमा काल के ८४ लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहने पर उत्पन्न हुए थे। इन्होंने विनीता नगरी से अपराहन में चार हजार लोगों के साथ निष्क्रमण किया। इन्होंने फाल्गुन कृष्ण पक्ष की एकादशी को न्यग्रोध वृक्ष के नीचे पुरिमताल में केवल ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने उत्तराषाढा नक्षत्र में पूर्वाहन काल में सिद्धि प्राप्त की। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में इनके १२ पूर्वभवों का उल्लेख है।^{१४९}

२. अजितनाथ—अजितनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के दूसरे तीर्थकर हैं। ये विजय

विमान से च्युत होकर रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न हुए।^{१५०} इनका रंग स्वर्णवर्ण का था।^{१५१} इनकी ऊँचाई ४५० धनुष, आयु ४२ लाख पूर्व मानी गयी है।^{१५२} इन्होंने पौष शुक्लपक्ष एकादशी को सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त किया।^{१५३} इनके माता-पिता विनीता की महारानी विजया और महाराज जितशत्रु थे।^{१५४} ऋषभदेव के निर्वाण के ५० लाख करोड़ सागरोपम बाद इनका जन्म हुआ।^{१५५} ये १००० लोगों के साथ विनीता नगरी से अपराहन में निष्क्रमित हुए। इनके ९० गण, सिंहसेन प्रमुख ९० गणधर, एक लाख शिष्य, ३ लाख ३० हजार साध्वियाँ थी। इनके समकालीन राजा सगर चक्रवर्ती थे।^{१५६} इन्होंने भी अपने जीवन के अंतिम चरण में संन्यास ग्रहण कर १२ वर्ष तक कठिन तपस्या की। इन्होंने ७१ लाख पूर्व वर्ष तक गृहस्थ धर्म तथा १ लाख पूर्व वर्ष संन्यास धर्म का पालन किया।^{१५७} इन्हें सगर चक्रवर्ती का चचेरा भाई बताया गया है। इन्हें रोहिणी नक्षत्र में पूर्वाहन काल में सिद्धि प्राप्त हुई।^{१५८} इनकी प्रमुख शिष्या फल्गु थी।

३. **सम्भव**—सम्भव वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे तीर्थकर हैं। ये मृगसिरा नक्षत्र में अधोग्रैवेयक विमान से च्युत होकर यहाँ उत्पन्न हुए इनकी माता सेणा तथा पिता जितारि थे। इनका वर्ण स्वर्ण था। इनकी ऊँचाई १०० धनुष और आयु ६० लाख पूर्व मानी गयी है। इनके साथ १००० लोग अपराहन काल में श्रावस्ती से निष्क्रमित हुए। इन्हें १४ वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् कार्तिक शुक्ला पंचमी को शाल वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ। इनके चारु प्रमुख २५ गणधर थे और इतने ही गण थे। इनके दो लाख शिष्य थे। इनकी प्रमुख शिष्या श्यामा थी और मित्रवीर्य इनके समकालीन राजा थे।^{१५९} इनका जन्म अजीतनाथ के निर्वाण के ३० लाख करोड़ सागर पश्चात् हुआ।^{१६०} इन्हें पुनर्वसु नक्षत्र के पूर्वाहन में सिद्धि प्राप्त हुई।

४. **अभिन्दन**—चौथे तीर्थकर अभिनन्दन माने जाते हैं। इनका जन्म पुनर्वसु नक्षत्र में विजय विमान से च्युत होकर विनीता नगरी में हुआ था। इनका वर्ण 'स्वर्ण' शरीर की ऊँचाई ३५० धनुष और आयु ५० लाख पूर्व वर्ष थी। इनकी माता सिद्धार्था तथा पिता संवर थे। इनका जन्म संभवनाथ के निर्वाण के १० लाख करोड़ सागर वर्ष बाद हुआ था। इन्होंने १००० लोगों के साथ अपराहन में प्रवज्या ग्रहण की। पौष शुक्ल चतुदशी को प्रियंक वृक्ष के नीचे इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्होंने साढ़े बारह लाख पूर्व वर्ष कुमारकाल, साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्ष गृहस्थ जीवन और एक लाख पूर्व संन्यास जीवन व्यतीत किया। इनके वज्रनाभ प्रमुख १०३ गणधर और इतने ही गण थे। इनकी शिष्या अजिता, शिष्यों की संख्या तीन लाख, साध्वियों की संख्या ३० हजार थी और समय में सर्ववीर्य राजा थे। इन्हें मघा नक्षत्र के पूर्वाहन में मोक्ष प्राप्त हुआ।

५. **सुमति**—सुमतिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के पाँचवें तीर्थकर हैं। ये वैजयन्त विमान से च्युत होकर मघा नक्षत्र में विनीता नगरी में उत्पन्न हुए। इनके शरीर का रंग स्वर्ण वर्ण का था। इनके शरीर की ऊँचाई ३०० धनुष और आयु ४० लाख पूर्व वर्ष थी। इनकी माता का नाम मंगला और पिता का नाम मेघ था। इनका जन्म अभिनन्दननाथ के निर्वाण के ९ लाख करोड़ सागर वर्ष पश्चात् हुआ। इन्होंने अपने जीवन के १० लाख पूर्व

कुमारावस्था, २९ लाख पूर्व गृहस्थावस्था और एक लाख पूर्व संन्यासवस्था में बिताया। इन्होंने १००० लोगों के साथ अपराहन में विनीता नगरी से निष्क्रमण किया।^{६१} १२ वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् चैत्र शुक्ल एकादशी को प्रियंगु वृक्ष के नीचे कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। इनके ११६ गण में चमर प्रधान इतने ही गणधर थे। इनकी प्रमुख शिष्या काश्यपी, शिष्य संपदा ३ लाख २० हजार और साध्वियों की संख्या ५ लाख ३० हजार थी। इनके समकालीन राजा नरपति थे। इन्हें सम्मेद शिखर पर विशाखा नक्षत्र में पूर्वाहन में सिद्धि प्राप्त हुई।

६. **पद्मप्रभ**—पद्मप्रभ छठे तीर्थकर माने गये हैं।^{६२} सुमतिनाथ के निर्वाण के ९० हजार करोड़ सागर समय पश्चात् पद्मप्रभ उपरिग्रैवेयक विमान से च्युत होकर विशाखा नक्षत्र में कौशाम्बी में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम सुसीमा और पिता का नाम धर था। इनके शरीर का रंग बंधुक कुसुम रंग का था। इनके शरीर की ऊँचाई २५० धनुष और आयु ३० लाख पूर्व वर्ष थी। अपने जीवन के साढ़े २३ लाख पूर्व वर्ष इन्होंने गृहस्थावास और १ लाख पूर्व वर्ष तक मुनि धर्म का पालन किया। १००० अनुयायियों के साथ तपश्चर्या के बाद चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन छात्रांग वृक्ष के नीचे इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके धर्म संघ में १०१ गण तथा सूर्य प्रमुख इतने ही गणधर थे। इनकी प्रमुख शिष्या रती, शिष्य परिवार ३ लाख ३० हजार, साध्वियाँ ४ लाख २० हजार तथा समकालीन राजा दानवीर्य थे। इन्हें सम्मेद शिखर पर अनुराधा नक्षत्र के पूर्वाहन में मोक्ष प्राप्त हुआ था।

७. **सुपाशर्व**—सुपाशर्वनाथ वर्तमान अवसर्पिणी के भरत क्षेत्र के सातवें तीर्थकर हैं।^{६३} इनका जन्म मध्यम ग्रैवेयक विमान से च्युत होकर विशाखा नक्षत्र में वाराणसी में हुआ था। इनकी माता पृथ्वी और पिता प्रतिष्ठ थे। ये पद्मप्रभ के सिद्धि प्राप्ति के ९ हजार करोड़ सागर वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए थे। इनके शरीर की ऊँचाई २०० धनुष और आयु २० लाख पूर्व वर्ष थी। ९ माह की कठोर तपस्या के पश्चात् चैत्र कृष्णपक्ष षष्ठी को शिरीष वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त हुआ। इन्होंने १००० अनुयायियों के साथ अपराहन काल में वाराणसी से निष्क्रमण किया था। इनके विदर्भ प्रमुख ९५ गणधर और इतने ही गण थे। इनकी प्रमुख शिष्या सोमा, ३ लाख मुनि और ४ लाख ३० हजार साध्वियाँ थी। इनके समय में वाराणसी के राजा धर्मवीर्य कहे गये हैं। इनके शरीर का रंग स्वर्ण वर्ण का था। आयु पूर्ण कर पूर्वाषाढा नक्षत्र में पूर्वाहन में इन्होंने मोक्ष गमन किया था।

८. **चन्द्रप्रभ**—वर्तमान अवसर्पिणी में भरत क्षेत्र के आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ हैं।^{६४} ये वैजयन्त विमान से च्युत होकर अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुर में उत्पन्न हुए। इनका शरीर-वर्ण श्वेत था। इनके शरीर की ऊँचाई १५० धनुष तथा आयु १० लाख पूर्व वर्ष थी। इन्होंने चन्द्रपुर से १००० अनुयायियों के साथ पूर्वाहन में प्रव्रज्या ग्रहण की। इनका जन्म सुपाशर्वनाथ के मोक्षगमन के ९०० करोड़ सागर वर्ष के पश्चात् हुआ था। इन्हें कठोर तपस्या के बाद फाल्गुन कृष्ण पंचमी को नागवृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में दित्र प्रमुख ९३ गणधर एवं ९३ गण थे। इनकी प्रमुख शिष्या सुमना, ३ लाख ८०

हजार भिक्षुणियाँ, २ लाख ५० हजार शिष्य थे और इनके समय में मघवा राजा राज्य करते थे। इनकी माता लक्ष्मणा और पिता महासेन थे। इन्हें अपराहन काल में मोक्ष प्राप्ति हुई।

९. **सुविधि या पुष्पदन्त**—सुविधिनाथ जैन परम्परा में नौवें तीर्थंकर हैं।^{६५} ये आनतकल्प से च्युत होकर मूल नक्षत्र में काकन्दी नगरी में उत्पन्न हुए। इनकी माता का नाम वामा और पिता का सुग्रीव था। ये चन्द्रप्रभ के निर्वाण के ९० करोड़ सागर वर्ष पश्चात् पैदा हुए। इनके शरीर का रंग श्वेत, शरीर की ऊँचाई १०० धनुष और आयु २ लाख पूर्व की थी। इन्होंने १००० अनुयायियों के साथ अपराहन में काकन्दी से प्रव्रज्या ग्रहण किया था। इनको काकन्दी नगरी के बाहर उद्यान में फाल्गुन कृष्णपक्ष सप्तमी को मालू वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था। इनके संघ में वराह प्रमुख ८४ गणधर और इनते ही गण थे। इनकी प्रमुख शिष्या वारुणी, ३ लाख साध्वियाँ और दो लाख साधु थे। इनके समय में युद्धवीर्य का राज्यकाल था। इन्हें मृगसिरा नक्षत्र में रात्रि के दूसरे भाग में मोक्ष प्राप्त हुआ।

१०. **शीतल**—शीतलनाथ वर्तमान उत्सर्पिणी काल में भरत क्षेत्र के नौवें तीर्थंकर हैं।^{६६} इनका जन्म अच्युतकल्प नामक देवविमान से च्युत होने पर पूर्वाषाढा नक्षत्र में भद्रपुर में हुआ था। इनकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम दृढरथ था। ये सुविधिनाथ के निर्वाण के ९ करोड़ सागर वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए थे। इनकी शरीर की ऊँचाई ९० धनुष, आयु एक लाख पूर्व और शरीर का रंग स्वर्ण माना जाता है। इन्होंने अपने एक हजार अनुयायियों के साथ अपराहन में भद्रपुर के उद्यान से प्रव्रज्या लिया। अपने जीवन के अंतिम काल में संन्यास ग्रहण कर तीन मास की कठोर तपस्या के पश्चात् चैत्र कृष्णपक्ष नवमी को इन्होंने पीपल वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त किया। इनके नन्द प्रमुख ८१ गणधर और इतने ही गण थे। इनकी शिष्या सुजसा, संघ में एक लाख बीस हजार साध्वियाँ और एक लाख साधु थे। इनके समय में सीमंधर राजा था। इन्हें मघा नक्षत्र के उत्तररात्रि में मोक्ष की प्राप्ति हुई।

११. **श्रेयांस**—श्रेयांसनाथ भरत क्षेत्र के ग्यारहवें तीर्थंकर हैं।^{६७} इनका जन्म पुष्पोत्तर विमान से च्युत होने पर श्रवण नक्षत्र में सिंहपुर में हुआ था। इनके शरीर का रंग स्वर्ण था। इनकी माता का नाम विष्णु देवी और पिता का विष्णु था। इनका जन्म शीतलनाथ के मोक्ष प्राप्ति के १०० सागर और ६६,२६००० वर्ष कम एक कोटी सागरोपम काल पश्चात् हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ८० धनुष और आयु ८४ लाख वर्ष थी। ये एक हजार अनुयायियों के साथ पूर्वाहन में सिंहपुर के उद्यान से प्रव्रजित हुए। इन्होंने दो माह की कठिन तपस्या के बाद वैशाख कृष्ण पक्ष द्वादशी को तिन्दुक वृक्ष के नीचे कैवल्य प्राप्त किया था। इनके संघ में कौस्तुभ प्रमुख ७० गणधर के ७० गण थे। इनकी प्रथम शिष्या धारिणी, १ लाख ६ हजार साध्वियाँ और ८४ हजार साधु थे। इनके समय में त्रिपृष्ठ वासुदेव का शासन काल था। इनको मूल नक्षत्र के उत्तररात्रि में सिद्धि प्राप्त हुई।

१२. **वासुपूज्य**—भगवान् वासुपूज्य शुक्रकल्प विमान से च्युत होकर शतभिषा नक्षत्र में चंपानगरी में उत्पन्न हुए। इनके शरीर का रंग बंधुक कुसुम वर्ण का था। इनके शरीर की

ऊँचाई ७० धनुष और आयु ७२ लाख वर्ष थी। इनकी माता जया और पिता वसुपूज्य थे। इनका जन्म श्रेयांसनाथ के मोक्षगमन के ५४ सागरोपम पश्चात् हुआ था। ये छः सौ अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न में प्रवर्जित हुए थे। इनको कठोर तपस्या के बाद वैशाख कृष्ण पक्ष सप्तमी को पाटली वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में सुभूम प्रमुख ६६ गणधर, इतने ही गण, धरणी प्रमुख एक लाख तीन हजार शिष्याएँ और ७२ हजार शिष्य परिवार था। इनके समय में द्विपृष्ठ वासुदेव का शासन था। इनको श्रवण नक्षत्र के उत्तररात्रि में मोक्ष प्राप्त हुआ।

१३. विमल—तेरहवें तीर्थकर विमलनाथ सहस्रार विमान से च्युत होकर उत्तर-भाद्रपद नक्षत्र में कापिल्यपुर में उत्पन्न हुए। इनके शरीर का रंग स्वर्ण माना गया है। इनकी माता श्यामा और पिता कृतवर्मा थे। इनका जन्म वासुपूज्य के निर्वाण के ३० सागरोपम पश्चात् हुआ। इनके शरीर की ऊँचाई ६० धनुष और आयु ६० लाख वर्ष थी। इन्होंने पूर्वाह्न काल में एक हजार अनुयायियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। जीवन के अंतिम चरण में संन्यास ग्रहण कर कठोर तपस्या के द्वारा चैत्र कृष्णपक्ष अष्टमी को जम्बू वृक्ष के नीचे इन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ था। इनके संघ में मंदर प्रमुख ५६ गणधर और इतने ही गण, धरा प्रमुख एक लाख एक सौ आठ साध्वियाँ और ६८ हजार साधु थे। इनके काल में स्वयम्भू वासुदेव का राज्य था। इन्होंने उत्तर-भाद्रपद के पूर्व रात्रि में मोक्ष प्राप्त किया था।

१४. अनन्त—अनन्तनाथ भरत क्षेत्र में इस अवसर्पिणी काल के चौदहवें तीर्थकर माने गये हैं।^{६८} अनन्त नाथ पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर रेवती नक्षत्र में अयोध्या में उत्पन्न हुए थे। इनके शरीर का रंग स्वर्ण वर्ण था। इनके शरीर की ऊँचाई ५० धनुष तथा आयु ३० लाख वर्ष थी। इनकी माता सुयशा और पिता सिंह थे। अनन्तनाथ विमलनाथ के निर्वाण के ९ सागरोपम पश्चात् उत्पन्न हुए थे। इन्होंने एक हजार अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न काल में प्रव्रज्या ग्रहण की। इन्हें वैशाख कृष्ण पक्ष एकादशी को अशोक वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में ५० गण, यश प्रमुख ५० गणधर, पद्म प्रमुख एक लाख आठ सौ साध्वियाँ और ६६ हजार शिष्य थे। इनके काल में पुरुषोत्तम वासुदेव राजा थे। इन्हें रेवती नक्षत्र के पूर्वरात्रि में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

१५. धर्म—धर्मनाथ इस अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र में पन्द्रहवें तीर्थकर माने गये हैं।^{६९} इनका जन्म सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होने पर पुष्य नक्षत्र में रत्नपुर में हुआ। ये अनन्तनाथ के निर्वाण के ४ सागरोपम बाद हुए। इनके पिता भानु और माता सुव्रता थीं। इनके शरीर की ऊँचाई ४५ धनुष और आयु १० लाख पूर्व थी। इनके शरीर का रंग स्वर्णिम था। इन्होंने अपने १००० अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न में रत्नपुर में प्रव्रज्या ग्रहण की। कठिन तपस्या के पश्चात् आषाढ शुक्ला सप्तमी को दधिपर्ण वृक्ष के नीचे इन्हें कैवल्य प्राप्ति हुई थी। तित्थोगाली के अनुसार इनके संघ में रिष्ट प्रमुख ४३ गणधर, इतने ही गण, शिवा प्रमुख ६२ हजार ४ सौ शिष्याएँ एवं ६४ हजार साधु थे। इनके समय में अर्धचक्री पुरुषसिंह का राजत्व काल था। इन्हें भरणी नक्षत्र के पूर्वरात्रि में सम्मेद शिखर से मोक्ष प्राप्त हुआ था।

१६. शान्ति—शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थकर माने गये हैं।^{१७०} ये सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर भरणि नक्षत्र में गजपुर में उत्पन्न हुए। इनकी माता अचिरा तथा पिता विश्वसेन थे। ये धर्मनाथ के मोक्षगमन के ३ सागरोपम पश्चात् उत्पन्न हुए थे। इनके शरीर की ऊँचाई ४० धनुष और आयु एक लाख वर्ष थी। इन्होंने १००० अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न में प्रव्रज्या ग्रहण की। ये प्रव्रज्या ग्रहण करने के पहले चक्रवर्ती राजा थे। एक वर्ष की कठोर साधना के पश्चात् फाल्गुन कृष्णपक्ष सप्तमी को नन्दी वृक्ष के नीचे इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। इनके संघ में ४४ गण, चक्राउध प्रमुख ४४ गणधर, श्रुति प्रमुख ६१ हजार ६०० शिष्याएँ और ६२ हजार शिष्य थे। इनके तीर्थ काल में नारायण का शासन था। इन्हें कृतिका नक्षत्र के पूर्व रात्रि में मोक्ष प्राप्त हुआ था।

१७. कुन्धु—कुन्धुनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र के सत्रहवें तीर्थकर हैं।^{१७१} ये सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर कृतिका नक्षत्र में गजपुर (हस्तिनापुर) में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता श्री और पिता सूर थे। ये शान्तिनाथ के निर्वाण के अर्द्धपल्योपम पश्चात् उत्पन्न हुए थे। इनके शरीर की ऊँचाई ३५ धनुष और आयु ९५ हजार वर्ष थी। दीक्षा ग्रहण के पूर्व ये भी चक्रवर्ती थे। १००० अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न काल में इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की। कठोर तपस्या के पश्चात् भाद्रपद शुक्लपक्ष सप्तमी को तिलक के पेड़ के नीचे इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में ३७ गण, सम्ब प्रमुख ३७ गणधर, दामिनी प्रमुख ६०,६०० शिष्याएँ और ६०,००० शिष्य थे। इनके समकालीन राजा कोणालक थे। इन्हें रेवती नक्षत्र के पूर्वरत्रि में सिद्धि प्राप्त हुई।

१८. अरनाथ—अरनाथ इस चौबीसी के अठारहवें तीर्थकर माने गये हैं।^{१७२} ये जयन्त विमान से च्युत होकर रेवती नक्षत्र में गजपुर में उत्पन्न हुए। इनकी माता देवी और पिता सुदर्शन थे। इनका जन्म कुन्धुनाथ के निर्वाण के चौथाई पल्योपम से १००० वर्ष कम समय के पश्चात् हुआ था। इनके शरीर की ऊँचाई ३० धनुष, आयु ८४ हजार वर्ष और शरीर का रंग स्वर्ण वर्ण का था। ये चक्रवर्ती राजा थे। १००० अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न में इन्होंने रत्नपुर के उद्यान में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित अवस्था में तीन वर्ष तक कठोर तपस्या के पश्चात् चैत्र कृष्ण पक्ष सप्तमी को आम्रवृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। इनके संघ में ३३ गण, कुंभ आदि ३३ गणधर, रक्षी आदि ६० हजार साध्वियाँ^{१७३} और ५० हजार साधु थे। अरनाथ के समकालीन राजा सुभूम थे। इन्हें श्रवण नक्षत्र में पूर्वरत्रि में निर्वाण प्राप्त हुआ था।

१९. मल्लि—मल्लिनाथ इस चौबीसी के उन्नीसवें तीर्थकर माने गये हैं।^{१७४} जयन्त विमान से च्युत होकर अश्विनी नक्षत्र में ये विदेह की राजधानी मिथिला में उत्पन्न हुए। इनके शरीर की ऊँचाई २५ धनुष, आयु ५५ हजार वर्ष तथा शरीर का रंग प्रियंगुश्यामाभ (सॉवला) था। ३०० अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न में मिथिला से ही इन्होंने निष्क्रमण किया। अंग आगमों में महावीर के बाद सबसे विस्तृत उल्लेख मल्लि के बारे में ही प्राप्त होता है। मल्लिनाथ के बारे में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मतवैभिन्न है। दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि दिगम्बर परम्परा उन्हें अन्य तीर्थकरों की तरह पुरुष मानती है वहीं श्वेताम्बर परम्परा उन्हें स्त्री मानती है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि इस

काल-चक्र में जो विशेष १० आश्चर्यजनक घटनाएँ हुईं उनमें महावीर का गर्भापहरण और मल्लिक का स्त्रीरूप में तीर्थकररूप होना भी है। सामान्यतया जैन परम्परा में पुरुष ही तीर्थकर माने गये हैं।^{१५} ज्ञाताधर्मकथा^{१६} के अनुसार मल्लिक के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर साकेत के राजा प्रतिबुद्ध, चम्पा के राजा चन्द्रछाग, कुणाल के राजा रुक्मि, वाराणसी के राजा शंख, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु और काम्पिलपुर के राजा जितशत्रु इनसे विवाह करना चाहते थे। किन्तु इन्होंने अपनी चतुराई से छहों को वैराग्यमार्ग की ओर मोड़ दिया। इन सब ने मल्लिक के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली। मल्लिक ने जिस दिन संन्यास ग्रहण किया उसी दिन उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्हें कार्तिक कृष्ण पक्ष एकादशी को अशोक वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में भिषक प्रमुख २८ गणधर, इतने ही गण, बन्धुमती प्रमुख ५० हजार साध्वियाँ, ४० हजार साधु थे इनके समकालीन राजा अजितजित् थे। इनके एक लाख चौरासी हजार उपासक तथा ३ लाख ६५ हजार उपासिकाएँ थीं।^{१७} इन्हें चित्रा नक्षत्र के पूर्वरात्रि में निर्वाण प्राप्त हुआ। इनका जन्म अरनाथ के निर्वाण के एक हजार करोड़ वर्ष पश्चात् हुआ।

२०. मुनिसुव्रत—भरत क्षेत्र के वर्तमान चौबीसी के बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत हैं।^{१८} ये प्राणकल्प विमान से च्युत होकर श्रवण नक्षत्र में राजगृह में उत्पन्न हुए। इनके शरीर का रंग श्याम वर्ण था। इनके शरीर की ऊँचाई २० धनुष और आयु ३० हजार वर्ष थी। इन्होंने १००० अनुयायियों के साथ अपराहन में प्रव्रज्या ग्रहण की। कठोर तपस्या के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष अष्टमी को चम्पक वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त किया। इनके संघ में मल्ली प्रमुख १८ गणधर, १८ गण, पुष्पवती प्रमुख ५० हजार साध्वियाँ और ३० हजार साधु थे। इनके समकालीन राजा चिलित थे। इन्हें विशाखा नक्षत्र के पूर्वरात्रि में मोक्ष प्राप्त हुआ। इनका जन्म मल्लिक के निर्वाण के ५४ लाख वर्ष पश्चात् हुआ।

२१. नमिनाथ—नमिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के इक्कीसवें तीर्थकर माने गये हैं।^{१९} ये अपराजित विमान से च्युत होकर अश्विनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे। इनके शरीर का रंग वर्ण था। इनके शरीर की ऊँचाई १५ धनुष और आयु १० लाख पूर्व थी। ये १००० अनुयायियों के साथ मिथिला से अपराहन में प्रव्रजित हुए। कठोर तपस्या के पश्चात् इन्हें वैशाख शुक्लपक्ष एकादशी को बकुश वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में ११ गण, सुम्भ प्रमुख ११ गणधर, अनिला प्रमुख ४१ हजार भिक्षुणियाँ और २० हजार भिक्षु थे। इनके समकालीन राजा यावक थे। इन्हें पुष्य नक्षत्र की अपराहन रात्रि में निर्वाण प्राप्त हुआ। इनका जन्म मुनिसुव्रत के निर्वाण के छह लाख वर्ष पश्चात् हुआ।

२२. अरिष्टनेमि—वर्तमान चौबीसी के बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि माने गये हैं।^{२०} ये अपराजित नामक विमान से च्युत होकर चित्रा नक्षत्र में दशार्णपुर (द्वारावती) में राजा समुद्रविजय और उनकी रानी शिवा के पुत्र में उत्पन्न हुए। इनका जन्म नमिनाथ के निर्वाण के ५ लाख वर्ष पश्चात् हुआ था। इनका वंश हरिवंश और गोत्र गौतम था। इन्होंने एक हजार अनुयायियों के साथ अपराहन में दीक्षा ग्रहण की थी। ५४ दिनों की तपस्या के पश्चात् मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष अमावस्या को इन्हें वेतस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान हुआ। इनके संघ में वरदत्त प्रमुख १८ गणधर, १८ गण, यक्षिणी प्रमुख ४० हजार साध्वियाँ और १८

हजार साधु थे। इनके समकालीन राजा कृष्ण वासुदेव थे। इन्हें रेवती नक्षत्र के अपररात्रि में निर्वाण प्राप्त हुआ।

२३. **पार्श्वनाथ**—पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थकर के रूप में जाने जाते हैं।^{८१} पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। ये प्राणतकल्प से च्युत होकर विशाखानक्षत्र में वाराणसी में राजा अश्वसेन और उनकी रानी वामा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। ये अरिष्टनेमि के निर्वाण से ८३७५० वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए। इनके शरीर का रंग प्रियंगुश्यामाभ (साँवला), इनके शरीर की ऊँचाई ९ हाथ और आयु १०० वर्ष थी। इन्होंने ३०० अनुयायियों के साथ पूर्वाह्न काल में वाराणसी से दीक्षा ग्रहण की। कठोर तपस्या के पश्चात् चैत्र कृष्णपक्ष चतुर्थी को धावडक वृक्ष के नीचे इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में आर्यादिन् प्रमुख ८ गणधर, ८ गण, पुष्पचूला प्रमुख साध्वी और १६ हजार साधु थे। इनके तीर्थकर काल में प्रसेनजित् का राज्यकाल था। इन्हें अश्विनी नक्षत्र के अपररात्रि में निर्वाण प्राप्त हुआ। इनका समय मौर्यकाल से ४०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इसका विवेचन तीर्थकर समीक्षा में आगे किया गया है।

२४. **महावीर**—महावीर वर्तमान चौबीसी के अंतिम और चौबीसवें तीर्थकर हैं। परम्परानुसार वर्तमान में तीर्थकर महावीर का तीर्थ (धर्म संघ) चल रहा है। ये तीर्थकर पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर हस्तोत्तरा नक्षत्र में लिच्छवी संघ के एक कुंडलपुर के राजा सिद्धार्थ और उनकी पत्नी त्रिशला के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। मान्यतानुसार पहले वे सुनन्दा नामक ब्राह्मण स्त्री के गर्भ में आये पर इन्द्र की आज्ञा पर नेगमेषिदेव ने उनके गर्भ का अपहरण कर उसे क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया। पर इस घटना का उल्लेख केवल ब्राह्मण संस्कृति में उत्पन्न हुए तरह-तरह के भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठाने वाले क्षत्रिय नेतृत्व वाले श्रमण परम्परा को वरीयता देने की मानसिकता ही प्रतीत होती है। इनके शरीर का रंग स्वर्ण, शरीर की ऊँचाई सात हाथ और आयु ७२ वर्ष की थी। ये पूर्णतः ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और समकालीन साहित्य में इनकी विस्तृत चर्चा की गयी है। ३० वर्ष की अवस्था में इन्होंने अकेले ही प्रव्रज्या ग्रहण की और साढ़े बारह वर्ष की कठोर तपस्या के पश्चात् वैशाख शुक्लपक्ष दशमी को ऋजुवाला नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे इन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके संघ में इन्द्रभूति प्रमुख ११ गणधर, ९ गण, चन्दना प्रमुख ३६,००० श्रमणियाँ और १४,००० श्रमण थे। इनके समकालीन राजा मगध सम्राट श्रेणिक (बिम्बिसार) थे। जो हर्यक कुल के थे। महावीर का प्रथम उल्लेख प्राचीनतम आचारांग^{८२} में मिलता है। पर यहाँ इन्हें एक मानवीय रूप तथा उससे जुड़ी कष्ट, साधना और सुख के साथ प्रस्तुत किया गया है जो श्रमण परम्परा का मूलमंत्र भी रहा है। पर बाद के ग्रन्थों यथा आचारांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, आवश्यक चूर्णि में इन्हें अलौकिक व्यक्ति बना दिया गया है। इन्हें स्वाति नक्षत्र के अपररात्रि में पावा में निर्वाण प्राप्त हुआ।

२४ तीर्थकर सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण तित्थोगाली प्रकीर्णक में एक-एक कर प्रस्तुत किया गया है। इनमें २४ तीर्थकरों का क्रमशः नाम और उनका जन्म नक्षत्र गाथा संख्या ३१४ से ३३७ तक, उनके जन्म के पूर्व के विमानों का नाम जहाँ से वे च्युत होकर तीर्थकर

भव में आये गा० ३०५ से ३११ तक, शरीर के वर्ण का वर्णन ३४१ से ३५७ तक, शरीर की ऊँचाई गाथा ३६४ से ३६७, आयु गाथा ३७३ से ३७३, निष्क्रमण समय गाथा ३९३ में, साथ प्रव्रजित अनुयायियों की संख्या गाथा ३९४-३९५ में, चैत्य वृक्षों का नाम निर्देश, जहाँ उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ, गाथा ४०९ से ४११ तक में, कैवल्य प्राप्ति मास गाथा ४१२-४१४ में, कैवल्य प्राप्ति पक्ष गाथा ४१४-१५ में, कैवल्य प्राप्ति तिथि गाथा ४१६-४१८ में, गणधर नाम और संख्या गाथा ४५२-४६३ में, मुख्य शिष्याओं के नाम गाथा ४६५-४७० में, शिष्यों की संख्या, समकालीन राजा और तीर्थकरों के माता-पिता का वर्णन गाथा ४७२-४९७ में, तीर्थकरों के बीच का अन्तर और उनके जन्मस्थान का वर्णन गाथा ४९७-५२१ में तथा सिद्धिगमन नक्षत्र और समय का वर्णन गाथा ५२७-५५३ तक में किया गया है।

वंश-गोत्र—इस चौबीसी में उत्पन्न २४ तीर्थकरों में से बीसवें मुनिसुव्रत और बाइसवें अरिष्टनेमि हरिवंश कुल के थे शेष बाईस तीर्थकर इक्ष्वाकु वंश के थे।^{८३} उपर्युक्त दोनों तीर्थकरों का गोत्र गौतम था, शेष सभी बाईस तीर्थकरों का गोत्र काश्यप था।^{८४}

कुमार-राजत्व-चक्रवर्ती—बाहरवें तीर्थकर वासुपूज्य, उन्नीसवें मल्लि, बाईसवें अरिष्टनेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें महावीर—ये पाँचों उत्तम क्षत्रियकुल के राजवंश में उत्पन्न होने के बाद भी राज्य-अभिषेक की इच्छा न करते हुए कुमारकाल में ही प्रव्रजित हो गये।^{८५} शेष उन्नीस में से सोलहवाँ शांतिनाथ, सत्रहवाँ कुंथुनाथ, अठारहवाँ अरनाथ चक्रवर्ती राजा थे तथा शेष सोलह मांडलिक राजा थे।^{८६}

आरों के समय निरूपण—प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव सुषमा-दुषमा के एक दम अंतिम काल में उत्पन्न हुए तथा शेष तेईस तीर्थकर दुषमा-सुषमा आरा में उत्पन्न हुए।^{८७}

पूर्वभव—इस चौबीसी के भरत क्षेत्र में उत्पन्न तीर्थकरों में से ऋषभदेव अपने पूर्वभव (च्युत होने वाले देव विमानों से पूर्व का मनुष्य भव) में चक्रवर्ती राजा थे तथा शेष तेईस तीर्थकर मांडलिक राजा थे।^{८८} ऋषभदेव उस भव में चौदहपूर्वी थे तथा शेष तेईस तीर्थकर पूर्वभव में एकादशपूर्वी थे।^{८९}

निष्क्रमण नगरी—ऋषभदेव विनीता नगरी से, अरिष्टनेमि द्वारावती नगरी से और शेष तीर्थकर अपने जन्मभूमि से ही दीक्षा ग्रहण कर निष्क्रमित हुए।^{९०}

केवल-ज्ञान समय—प्रथम तीर्थकर ऋषभ, ग्यारहवें श्रेयांस, बारहवें वासुपूज्य, उन्नीसवें मल्लिनाथ और तेईसवें पार्श्वनाथ को पूर्वाह्न में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, शेष को दोपहर में केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ।^{९१}

केवल-ज्ञान भूमि—ऋषभदेव को पुरिमताल में, मल्लिनाथ को आश्रमपद उद्यान में, अरिष्टनेमि को द्वारावती में और महावीर को ऋजुवाला नदी के तट पर केवलज्ञान प्राप्त हुआ। शेष तीर्थकरों ने, जिस उद्यान से निष्क्रमित हुए (जन्मभूमि के उद्यान) उसी उद्यान में केवलज्ञान प्राप्त किया।^{९२}

चैत्य-वृक्ष का प्रमाण—अंतिम तीर्थकर वर्द्धमान का चैत्यवृक्ष बत्तीस धनुष ऊँचा था, शेष तीर्थकरों का चैत्यवृक्ष उनके शरीर से बारह गुणा ऊँचा था।^{९३}

कैवल्य नक्षत्र—सभी तीर्थकरों के ज्ञान प्राप्ति के समय वही नक्षत्र विद्यमान था, जो उनके जन्म का था।^{१४}

कैवल्य तप—ऋषभदेव को अष्टम भक्त का तप करते हुए केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। वासुपूज्य को चतुर्थ भक्त का तप करते हुए और शेष तीर्थकरों को षष्ठ भक्त का तप करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।^{१५}

प्रतिक्रमण—प्रथम और अंतिम तीर्थकर का धर्म सप्रतिक्रमण था अर्थात् इस काल में साधुओं के लिए प्रतिक्रमण अनिवार्य था, जबकि मध्य के बाईस तीर्थकरों के संघ में भूल होने पर किया जाता था।^{१६}

संयम—मध्य के बाईस तीर्थकरों ने केवल सामायिक व्रत का उपदेश दिया तथा ऋषभ और महावीर ने सामायिक के साथ छेदोपस्थानिक व्रत का भी उपदेश दिया।^{१७}

उपर्युक्त तप, प्रतिक्रमण और संयम के बारे में इसी प्रकार के क्रम से शेष नौ क्षेत्रों में भी समान वर्णन ही समझना चाहिए।^{१८}

सिद्धिगमन के समय का आसन, तप, पर्वत और नगर—प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्टनेमि और चौबीसवें महावीर सिद्धिगमन के समय निषिद्यासन (पर्यकासन) में थे। शेष तीर्थकर सिद्धिगमन के समय कायोत्सर्ग मुद्रा में थे।^{१९} ऋषभदेव चतुर्दश भक्त (छह उपवास) का तप और महावीर षष्ठभक्त (दो उपवास) का तप कर सिद्ध हुए। शेष बाईस तीर्थकर मासोपवास का तप कर सिद्ध हुए। ऐसा क्रम और आसन एवं तप शेष ९ क्षेत्रों में उसी क्रम के तीर्थकरों के सम्बन्ध में भी अपेक्षित है।^{२०}

भरत क्षेत्र में ऋषभदेव अष्टादश पर्वत पर तथा ऐरावत क्षेत्र में चन्द्रानन मेघकूट पर मोक्ष को प्राप्त हुए।^{२१} भरत क्षेत्र में वासुपूज्य चम्पा नगरी से तथा ऐरावत क्षेत्र में श्रेयांसनाथ नाग नगर से सिद्ध हुए।^{२२} भरत क्षेत्र में अरिष्टनेमि उर्जयन्त पर्वत पर और ऐरावत क्षेत्र में अग्निसेन चित्रकूट पर्वत पर सिद्ध हुए।^{२३} भरत क्षेत्र में वर्द्धमान पावापुरी से और ऐरावत क्षेत्र में वारिषेण कमलुज्जलपुरी से सिद्ध हुए।^{२४} शेष बीस तीर्थकर भरत क्षेत्र में सम्मेदशिखर और ऐरावत क्षेत्र में सुप्रतिष्ठ नगर से सिद्ध हुए।^{२५}

तीर्थकरों के माता-पिता की गति—प्रथम आठ तीर्थकरों की माताएँ इस भव से सिद्ध हुईं, मध्य के आठ की माताएँ मरकर सनत्कुमार और अंतिम आठ की माताएँ महेन्द्रदेव के रूप में उत्पन्न हुईं।^{२६} ऋषभ के पिता मरकर नागकुमार हुए, उसके बाद के सात (२-८) ईसानेन्द्र, मध्य के आठ तीर्थकरों के पिता सनत्कुमार और अंतिम आठ तीर्थकरों के पिता महेन्द्रदेव के रूप में उत्पन्न हुए।^{२७}

इन तीर्थकरों के प्रथम प्रवचन सभा को समवशरण कहा जाता है। तित्थोगाली में समवशरण की चर्चा विस्तार से है। इसका वर्णन षष्ठ अध्याय में किया गया है।

तीर्थकर-समीक्षा—तीर्थकर सम्बन्धी उपर्युक्त वर्णन हमें प्रारम्भिक आगम ग्रन्थों में तो प्राप्त नहीं होते, क्योंकि तब तीर्थकर की अवधारणा ही स्पष्ट नहीं हो पायी थी, जिसका विवेचन इस अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है, पर आगम एवं आगमेतर जैन ग्रन्थों-समवायांग^{२८}, विशेषावश्यक भाष्य^{२९}, आवश्यक निर्युक्ति^{३०}, कल्पसूत्र^{३१} आदि

में विस्तार से इनके विषय में चर्चा उपलब्ध होती है। सभी तीर्थकरों की श्राविकाओं की संख्या का उल्लेख समवायांग (पृ०-२२७-२८) और आवश्यक निर्युक्ति से उद्धृत है।

इन चौबीस तीर्थकरों में से अधिकांश के विषय में किसी अन्य परम्परा या पूर्ववर्ती साहित्य में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते हैं, पर कुछ तीर्थकरों के विषय में अन्य परम्पराओं में नाम साम्यता और विवरण प्राप्त होते हैं। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव का उल्लेख ऋग्वेद^{११२} में सर्वप्रथम प्राप्त होता है। ताण्ड्य ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में भी नाभिपुत्र ऋषभ के पुत्र भारत का उल्लेख है।^{११३} उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य श्रीमद्भागवतपुराण (१/३/१३), विष्णुपुराण (२/१/२७), मार्कण्डेयपुराण (अ० ५०/३९.४२) कूर्मपुराण, (अध्याय ४१, ३७-३८) अग्निपुराण (१०/१०.११), वायुपुराण (३३/५०-५२), गरुडपुराण (१), ब्रह्माण्डपुराण (१४, ६१), तथा स्कन्धपुराण कुमारखण्ड (३७/५७) में भी ऋषभ का उल्लेख है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के सूत्र १३१/२ में वातरसना शब्द है जिसका अर्थ है वायु ही जिनका भोजन हो या वायु जिसका वस्त्र हो तथा ऋग्वेद (७/२१/५) और (१०/९९/३) में शिशनदेवा शब्द आया है, इसका अर्थ शिशन को देवता माननेवाले या नग्न दोनों हो सकता है। ऋग्वेद में इनसे यज्ञ की रक्षा करने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गयी है। श्रीमद्भागवतपुराण के अनुसार इन वातरसना ऋषियों को ऋषभदेव ने उपदेश दिया। इससे स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा उस समय मौजूद थी। यद्यपि यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता कि तीर्थकर ऋषभ और वैदिक परम्परा के ऋषभ एक ही व्यक्ति हैं या अलग, क्योंकि वैदिक परम्परा में ऋषभ के लक्षणों से युक्त शिव की अवधारणा भी विद्यमान है।

बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि का सम्बन्ध विद्वानों ने कृष्ण से स्थापित किया है। अरिष्टनेमि को कृष्ण का चचेरा भाई बताया गया है और कृष्ण की गणना वासुदेव राजा के रूप में की गयी है। तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें महावीर तीर्थकर की ऐतिहासिकता निर्विवाद सिद्ध है। जैन ग्रन्थों में महावीर के संघ में पूर्ववर्ती पार्श्वपत्नियों के शामिल होने और उनका महावीर के शिष्यों से शास्त्रार्थ का उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होता है।

जहाँ तक इन तीर्थकरों की अवधारणा के विकास का प्रश्न है। यह सिद्ध है कि महावीर के काल में या इनके बाद भी लगभग ४वीं-५वीं शताब्दी तक यह अवधारणा विकसित नहीं हुई बल्कि बाद के ग्रन्थों में अन्य परम्पराओं के साथ स्पर्द्धा में इसका विकास हुआ। वास्तव में देखा जाये तो महावीर ने वैदिक कर्मकाण्डों और उस समय समाज में व्याप्त सामाजिक और धार्मिक बाह्याडम्बरों, रूढ़ियों और जटिलताओं के विरुद्ध आम जनता की समझ में आनेवाली सीधी-सरल बात कही और इन सिद्धान्तों का प्रचार जनसाधारण में किया। समकालीन बुद्ध ने भी यही किया। पर काल-क्रम से ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, महावीर के इन उपदेशों में भी वही बौद्धिक और दार्शनिक जटिलता समाहित की जाने लगी और श्रमण परम्परा की यह धारा अपने मूल प्रस्थान बिन्दु से भटक गयी। इसका उदाहरण परवर्ती काल में जनता की भाषा छोड़ विद्वत वर्ग की भाषा संस्कृत रचे गये जटिलताओं से पूर्ण दार्शनिक साहित्य हैं, जिनमें आम जनता के समझ में के दुरूह सिद्धान्तों की विवेचना की गयी है। इसी क्रम में महावीर के बताये बृहत्

में ग्राह्य प्रवचन और मानवीय अवधारणा को त्यागकर उन्हें पर लौकिक व्यक्तित्व बना दिया गया और उनके साथ अनेकों असाधारण और अकल्पनीय किंवदन्तियाँ जोड़कर उन्हें साधारणजन से अलग खड़ा कर दिया गया ऐसा उनके परवर्ती अनुयायियों ने वैदिक परम्परा के दार्शनिक विद्वानों के सामने अपनी ऊँचाइयों और विद्वत्ता को खड़ा करने के लिए किया होगा, ऐसा मुझे लगता है। क्योंकि वैदिक परम्परा से स्पर्द्धा करने में उसी सदृश जटिल सिद्धान्तों जैसे गुणस्थान की अवधारणा और कर्म-सिद्धान्तों का परवर्ती काल में, जब सभी सामाजिक परिवर्तन की धारा स्थिर होकर वाद-विवाद और विद्वत्ता के प्रकटीकरण में लगी तभी, विकास हुआ और उसे श्रमण परम्परा में भी स्वीकार किया गया।

(ख) दस क्षेत्र और तीर्थकर

तित्थोगाली में जम्बूद्वीप स्थित वर्तमान भरत क्षेत्र के अतिरिक्त जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र एवं अन्य-धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप के भरत और ऐरावत क्षेत्रों का वर्णन साथ-साथ प्रस्तुत है।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार लोक का आकार कमर पर हाथ रखे हुए पुरुष के आकार का है। यह लोक तीन भागों में विभक्त है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। इसके मध्यलोक बीच से वलयाकार रूप में प्रारम्भ होकर एक के बाद एक अनन्तवलय बनाता जाता है। इसमें एक वयल द्वीप का उसके चारों ओर वलयाकार रूप में ही एक सागर पुनः उस सागर को चारों तरफ से घेरकर एक द्वीप (यही क्रम अनन्त बार तक चलता जाता है) स्थित है। इसके मध्य से ढाई द्वीप अवस्थित है। इसके ठीक बीचोबीच गोलाकार और १ लाख योजन विषकम्भवाला जम्बूद्वीप है।^{११४} इसके चारों ओर लवण समुद्र है।^{११५} लवणसमुद्र के चारों ओर गोलाकार ४,००,००० योजन विस्तृत दूसरा द्वीप धातकी खण्ड है।^{११६} इसके चारों ओर से घेर कर कालोद समुद्र स्थित है। कालोद समुद्र के चारों ओर वलयाकार रूप में १६,००,००० योजन विस्तृत पुष्करार्द्ध द्वीप है।^{११७} इसके बीचोबीच स्थित कुण्डलाकार मानुषोत्तर पर्वत के कारण इस द्वीप के दो अर्धभाग हो गये हैं। इसके आन्तरिक अर्द्धभाग तक ही मनुष्यों की अवस्थिति मानी गयी है। इसी जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और अर्द्धपुष्कर खण्ड को ढाई द्वीप कहा जाता है। इनमें मनुष्य की उपस्थिति सम्भव है। इसके बाहर बाह्य पुष्करार्द्ध खण्ड में मनुष्य गमन सम्भव नहीं है।

इन ढाई द्वीप में प्रथम जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु पर्वत है। यह सम्पूर्ण जम्बूद्वीप पूर्व से पश्चिम तक लम्बवत् हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी-इन छह वर्षधर या कुलाचल पर्वतों के द्वारा सात भाग में विभाजित है। ये क्षेत्र हैं—भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यक्वर्ष, हैरण्यवत्वर्ष और ऐरावतवर्ष। इनमें भरत-ऐरावत क्षेत्र में काल चक्र परिवर्तन होता रहता है, जिससे यहाँ भोगभूमि, कर्मभूमि में चक्र-परिवर्तन होता है, विदेह क्षेत्र में सदा कर्मभूमि विद्यमान रहती है तथा शेष क्षेत्रों में सर्वदा भोगभूमि होते हैं। धातकी खण्ड के उत्तर व दक्षिण दिशा में उत्तर-दक्षिण लम्बायमान दो इष्वाकार पर्वत हैं जिनसे यह द्वीप पूर्व व पश्चिम रूप दो भागों में विभक्त हो जाता है।^{११८} इस प्रकार इस द्वीप में दो रचनाएँ हो जाती हैं—पूर्व धातकी और पश्चिम धातकी। दोनों में जम्बूद्वीप

की ही तरह अलग-अलग पर्वत, क्षेत्र, नदी, कूट आदि हैं। यहाँ भी उपर्युक्त पर्वत के कारण दोनों धातकी सात-सात क्षेत्रों में विभाजित हो जाता है। इस प्रकार यहाँ सभी क्षेत्र दो-दो होते हैं— २ भरत, २ ऐरावत आदि। जम्बूद्वीप और शाल्मली वृक्ष को छोड़कर सब नाम भी वही है।^{११९} यहाँ शाल्मली वृक्ष की तरह दोनों कुरुओं-देवकुरु और उत्तरकुरु में दो-दो करके चार धातकी (आँवला) के वृक्ष हैं।^{१२०} इस तरह यहाँ दो-दो भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र को लेकर कुल छह कर्मभूमियाँ होती हैं। दो विदेह क्षेत्र में दो सुमेरु पर्वत हैं। तीसरा पुष्कर क्षेत्र का आधा भाग है। पुष्करार्द्धद्वीप के आभ्यन्तर भाग में ही दो इष्वाकार पर्वत हैं जिसके धातकी खण्डवत् ही यह भी पूर्व और पश्चिम-दो भागों में विभक्त है। दोनों भागों में धातकी खण्डवत् ही रचना है।^{१२१} इसके भी दक्षिण और उत्तर इष्वाकार के दोनों तरफ भरत, रम्यक् ऐरावत आदि सात-सात क्षेत्र जम्बूद्वीप की तरह ही है।^{१२२} इस प्रकार पुष्करार्द्ध द्वीप में भी दो भरत, दो ऐरावत और दो विदेह-कुल छह कर्मभूमियाँ हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण लोक में अधिकतम १५ कर्मभूमियाँ हैं जहाँ तीर्थकर और मोक्षगामी जीवों की स्थिति बतायी गयी है। तीर्थकर और मोक्षगामी जीव भोगभूमि में नहीं होते हैं। ढाई द्वीप के अन्तर्गत जम्बूद्वीप में एक तथा धातकी खण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप में दो-दो मेरु पर्वत स्थित हैं।

तित्थोगाली प्रकीर्णक में इनमें से केवल भरत और ऐरावत क्षेत्रों का ही वर्णन किया गया है। इस ढाई द्वीप में कुल ५ भरत क्षेत्र और ५ ऐरावत क्षेत्र हैं, जो तित्थोगाली का विवेच्य विषय है। इनमें जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के समान पाँचों भरत क्षेत्र और जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र के ही सदृश पाँचों ऐरावत क्षेत्र हैं। इनमें एक साथ ही चौबीसियों की मान्यता है। पाँचों भरत क्षेत्र में तीर्थकरों के नाम, नगर, प्रवज्या आदि एक समान होते हैं और पाँचों ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थकरों में नामों का अन्तर रहता पर समय, अन्तराल और घटनाएँ एक सी होती हैं। भरत क्षेत्रों के तीर्थकरों के सम्बन्ध में वर्णन ऊपर किया गया है। ऐरावत क्षेत्रों के तीर्थकरों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— १. बालचन्द्रानन २. सुचन्द्र ३. अग्निसेन ४. नन्दिसेन ५. ऋषिदिन्न ६. वज्रधारी ७. श्यामचन्द्र ८. दीर्घसेन ९. शतायु १०. सर्वति ११. युक्तिसेन १२. श्रेयांस १३. सिंहसेन १४. संजल १५. उपशांत १६. देवसेन १७. महाधियोगबल १८. अतिपार्श्व १९. मरुदेवी २०. धर २१. श्यामकोष्ठ २२. अग्निसेन २३. अग्निदत्त और २४. वारिसेन। इनके गोत्र आदि का क्रम वही है जो भरतक्षेत्र में समकालीन तीर्थकरों का था। वह नाम क्रम से इस प्रकार हैं— १. उत्तराषाढा २. रोहिणी ३. मृगशिरा ४. पुनर्वसु ५. मघा ६. चित्रा ७. विशाखा ८. अनुराधा ९. मूल १०. पूर्वाषाढा ११. श्रवण १२. शतभिषा १३. उत्तर-भाद्रपद १४. रेवती १५. पुष्य १६. भरणी १७. कृत्तिका १८. रेवती १९. अश्विनी २०. अश्विनी २१. अश्विनी २२. चित्रा २३. विशाखा और २४. हस्तुत्तरा।^{१२३}

वर्ण—तृतीय अग्निसेन और धर श्यामवर्ण के, अग्निदत्त, मरुदेवी पीले वर्ण की वज्रधारि और श्रेयांस कुसुमवर्ण के, दीर्घसेन और शतायु श्वेत वर्ण के, बालचन्द्रानन, सुचन्द्र, अग्निसेन, नन्दिसेन, ऋषिदिन्न, श्यामचन्द्र, सर्वति, युक्तिसेन, सिंहसेन, संजल, उपशांत, देवसेन, महाधियोगबल, अतिपार्श्व, श्यामकोष्ठ और वारिसेन ये सोलह जिनदेव सुवर्ण के थे।^{१२४}

वंश-गोत्र-धर और अग्निसेन, हरिवंश और गौतम गोत्र के थे तथा शेष तीर्थकर इच्छाकुवंश और काश्यप गोत्र के माने गये हैं।^{१२५}

इसके अतिरिक्त प्रतिक्रमण-संयम भेद, सिद्धिगमन नक्षत्र, सिद्धिगमन समय का आसन, तप, भरत क्षेत्र के तीर्थकरों के क्रमानुसार समान है।^{१२६} सिद्धिगमन के समय का पर्वत और नगर भिन्न है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(ग) अन्य क्षेत्रों के तीर्थकर

यद्यपि तित्थोगाली में अन्य क्षेत्रों के तीर्थकरों का कोई उल्लेख नहीं है, फिर भी दस क्षेत्रों का वर्णन आने से जैन मान्यतानुसार लोक के अन्य सभी क्षेत्रों के तीर्थकरों का परिचय आवश्यक है।

उपर्युक्त वर्णित भरत और ऐरावत क्षेत्रों में काल-चक्र सदा चलायमान होता है जिसके परिणामस्वरूप इन दसों (पाँच भरत और पाँच ऐरावत) क्षेत्रों में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के प्रत्येक भाग में छह-छह आरा-सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा-क्रमशः परिवर्तित होता रहता है। इन छः आरों में से चौथे दुषमा-सुषमा में ही, जो कि उत्तम कर्मभूमि का काल है, तीर्थकरों की विद्यमानता होती है। विदेह क्षेत्र में हमेशा चतुर्थ आरा दुषमा-सुषमा ही विद्यमान रहता है। वहाँ काल का परिवर्तन कभी नहीं होता। अतः विदेह क्षेत्र में सदा तीर्थकर रहते ही हैं।

विदेह क्षेत्र की रचना को देखें तो मेरु पर्वत के पूर्व व पश्चिम में फैले होने से विदेह क्षेत्र के दो खण्ड हो जाते हैं। दोनों खण्ड ४-४ वक्षार पर्वत तथा ३-३ विभंगा नदियों द्वारा उत्तर-दक्षिण में ८-८ भाग में विभक्त हैं। इस सम्पूर्ण भाग को पूर्व से पश्चिम तक सीता तथा सीतोदा नदियाँ दो भाग में बाँटती हैं, जिससे इनके १६-१६ भाग हो जाते हैं। कुल मिलाकर एक मेरु से सम्बन्धित ३२ क्षेत्र हो जाते हैं। इस प्रकार पाँचों विदेह क्षेत्रों के १६० क्षेत्र हुए। काल के इन विदेह क्षेत्रों में सदा दुषमा-सुषमा काल में अवस्थित रहने से यहाँ कभी तीर्थकरों का अभाव नहीं होता। इन १६० क्षेत्रों में एक-एक तीर्थकर विद्यमान रहने की स्थिति में तथा भरत और ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थकर विद्यमान रहने पर एक समय में सम्पूर्ण लोक में अधिकतम १७० तीर्थकर तक विद्यमान होते हैं। परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में अन्य आरा का काल रहने की स्थिति में तथा दो तीर्थकरों के बीच तीर्थकर रहित काल में तीर्थकरों का लोक से अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में भी विदेह क्षेत्र में सीता और सीतोदा-दोनों नदियों के दोनों तटों पर-इस प्रकार एक समय में कुल चार तीर्थकर होते हैं। यह क्षेत्र कभी तीर्थकरों से रिक्त नहीं होता। इस प्रकार ५ विदेह में एक समय न्यूनतम २० तीर्थकर हमेशा विद्यमान रहते हैं, ऐसी जैन दर्शन की मान्यता है।

(घ) तीर्थकर के समय में भरतवर्ष का स्वरूप

तित्थोगाली में तीर्थकर काल में भरत वर्ष का स्वरूप और उस समय की स्थितियों का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार-तीर्थकर काल में भरतवर्ष ऋद्धि से परिपूर्ण, अनेक अतिशयों से सम्पन्न, देवलोक के समान और गुणों से भरा-पूरा था। उस समय भरत

क्षेत्र के ग्राम नगरों के तुल्य, नगर देवलोक के समान, गृहस्थ राजा के समान और राजागण वैश्रवण के समान सर्वतः सम्पन्न थे।^{१२७} आचार्यगण चन्द्रमा के समान सौम्य-शीतल एवं ज्ञान का प्रकाश करनेवाले, माता-पिता, देव-दम्पती तुल्य, सास माता के समान और श्वसुर पिता के समान थे। उस समय के मनुष्य धर्म तथा अधर्म की विधि के ज्ञाता, विनीत, सत्य-शौच सम्पन्न, गुरु एवं साधु की पूजा-सत्कार में सदा तत्पर और स्वदार-संतोषी होते थे।^{१२८} उस समय में लोग विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होते थे। धर्म के प्रति जनमानस में बड़ा आदर होता था। वे लोग विद्यासम्पन्न गुणी पुरुषों का पूजा-सत्कार-सम्मान, कुल की मर्यादाओं और शील सदाचार का पूर्णरूपेण पालन करते थे। उस समय के लोग भंग (फूट) त्रास, विप्लव की किल्लोलों, भय तथा दण्ड से दूर तथा दुर्भिक्ष, ईति-भीति, चोर-लुटेरों से रहित और कर-भार से मुक्त होते।^{१२९} प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थकर भगवान् महावीर तक के तीर्थकर-काल में भरतवर्ष समस्त ऋद्धियों से भरापूरा और तथा बहुत से आश्चर्यों से परिपूर्ण था।^{१३०} ढाई द्वीप के पाँच भरत और पाँच ऐरावत-इन दशों क्षेत्रों में प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में निम्न दस-दस आश्चर्य हुए। ये हैं- १. उपसर्ग २. गर्भापहरण ३. स्त्री-तीर्थकर ४. अभाविता परिषद ५. कृष्णवासुदेव का अपरकंका गमन ६. चन्द्र-सूर्य का उतरना ७. हरिवंशकुलोत्पत्ति ८. चमरेन्द्र का उत्पात ९. उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्ध और १०. असंयत-पूजा।^{१३१}

तित्थोगाली में इन आश्चर्यों का केवल नामोल्लेख है। पर अन्य ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। इसकी चर्चा इस शोध-प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय में की गयी है। इस समय में यहाँ चौवन लोकोत्तम पुरुषों के हो चुकने के पश्चात् बहुत से केवलियों, मनःपर्यवज्ञानियों एवं अवधिज्ञानियों, अनेकों ऋद्धियों एवं लब्धियों के पात्रों, मति और श्रुतज्ञान के द्वारा सर्वसारभूत ज्ञान के वहन करनेवालों और मोक्ष विज्ञान के अतुल भण्डार उत्तम बुद्धिनिधानों के परलोक चले जाने के पश्चात् टूटे परकोटेवाले नगर के नागरिकों के समान लोग मर्यादाविहीन हो गये।^{१३२} इस प्रकार संक्षेप में तित्थोगाली में तीर्थकर के समय में भरत क्षेत्र की स्थितियों का वर्णन किया गया है।

(ड) आगामी उत्सर्पिणी काल के तीर्थकर

तित्थोगाली में आगामी उत्सर्पिणी काल के तृतीय आरा दुषमा-सुषमा में भरत और ऐरावत क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले तीर्थकरों का उल्लेख मिलता है। ये होने वाले तीर्थकर हैं :-

(क) भरत क्षेत्र के तीर्थकर-१. महापद्म २. सुरदेव ३. सुपाशर्व ४. स्वयंप्रभ ५. सर्वानुभूति ६. देवगुप्त ७. उदक ८. पेढालपुत्र ९. पोट्टिल १०. स्वयक ११. मुनिसुव्रत १२. अमम १३. निक्कसाए १४. निष्पुलाक १५. निर्मम १६. चित्रगुप्त १७. समाधि १८. संवर १९. अनियष्टी २०. विपाक २१. विमल २२. देवोपपातक २३. अनन्त और २४. विजय।^{१३३} ये नाम समवायांग सूत्र^{१३४} और अभिधानचिन्तामणिनाममला^{१३५} में भी कुछ अन्तर से मिलते हैं।

(ख) ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकर-ऐरावत क्षेत्रों में उत्सर्पिणी काल में निम्न तीर्थकर

होने की बात कही गयी है—१. सिद्धार्थ २. पुण्यघोष ३. श्रुतसागर ४. पुष्पकेतु ५. सुमंगल ६. अर्थसिद्ध ७. निर्वाण ८. महायश ९. धर्मध्याय १०. श्रीचन्द्र ११. दृढकीर्ति १२. महाचन्द्र १३. दीर्घपार्श्व १४. सुव्रत १५. सुपार्श्व १६. सुकोशल १७. अनन्तपासी १८. पुण्यघोष १९. महाघोष २०. सर्वानन्द २१. सत्यसेन २२. विमल २३. महाबल और २४. देवानन्द^{१३६} इनका वर्णन समवायांग^{१३७} और प्रवचनसारोद्धार^{१३८} में भी प्राप्त होता है ।

इन चौबीसियों में से केवल भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थंकर महापद्म का वर्णन तित्थोगाली में विस्तार से किया गया है । ऐसी मान्यता है कि महावीर के काल के मगध सम्राट श्रेणिक आगामी उत्सर्पिणी काल में भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थंकर महापद्म होंगे । वे वर्तमान में रत्नप्रभा नामक नरक के सीमंतक नरक में ८४००० वर्ष की अपनी आयु पूर्ण कर रहे हैं ।^{१३९}

महापद्म तीर्थंकर का चरित्र आदि का वर्णन—भरत क्षेत्र में तीर्थंकर महापद्म और ऐरावत क्षेत्र में तीर्थंकर सिद्धार्थ के गर्भ में आने की रात्रि में उनकी माताएँ क्रमशः चौदह स्वप्न देखती हैं— १. गज २. वृषभ ३. सिंह ४. अभिषेक ५. माल्य ६. चन्द्र ७. सूर्य ८. मत्स्य ९. कुंभ-कलश १०. पद्मसर ११. सागर १२. भवन १३. रत्नराशि और १४. रत्नोच्चय (निर्धूम अग्नि) । यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जब तीर्थंकर का जीव स्वर्ग से च्युत होकर गर्भ में आता है, तब उनकी माताएँ बारहवें स्वप्न में विमान देखती हैं और जब वे नरक से गर्भ में आते हैं तब बारहवें स्वप्न में माताएँ भवन देखती हैं ।^{१४०} चैत्र शुक्ला चतुर्दशी के चन्द्र के हस्तोत्तरा के साथ योग होने पर सिद्धार्थ और महापद्म-दस तीर्थंकर (दसों क्षेत्रों में) एक ही समय में उत्पन्न होंगे ।^{१४१} उस समय विविध रत्नों की कल-कल करती हुई वर्षा पृथ्वी पर होगी और गगन मण्डल में देवताओं द्वारा प्रताडित दुन्दुभियों का मधुर-गम्भीर घोष गुंजरित हो उठेगा । तदन्तर ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् लोक में रहनेवाली दिशाकुमारियाँ यान-विमानों पर आरूढ़ होकर वहाँ आवेंगी । जिसके प्रकाश से वह रात्रि भी दिन की तरह हो जाएगी । शतद्वार नामक सम्पूर्ण नगरी प्रकाशित होगी । उनका जन्म महोत्सव आदि ऋषभ आदि के जन्मोत्सव की तरह ही होगा ।^{१४२} इनका जन्म तृतीय दुषमा-सुषमा काल के तीन वर्ष साढे आठ मास व्यतीत होने पर होगा । महावीर और महापद्म के बीच का अन्तर ८४,००७ वर्ष होगा ।^{१४३} उस समय सभी देव-देवियाँ बड़ी प्रसन्न होंगी और पद्ममणियों, रत्नों और स्वर्णमुद्राओं की वर्षा करेंगे । उनके नामकरण के समय महाराज पद्ममणियों की वर्षा होगी इसलिए पिता सुमति उनका नाम महापद्म रखेंगे । उस समय भरत क्षेत्र समस्त ऋद्धियों से पूर्ण होगा । भरत क्षेत्र में तीर्थंकर के समय की परिस्थितियाँ रहेंगी, जैसा ऊपर वर्णन किया गया है । महापद्म तीर्थंकर सभी सुखों को भोगते हुए दास-दासियों से घिरे होंगे । वे भ्रमर सन्निभ काली केशराशि, अति सुन्दर विशाल-लोचन युगल, बिम्ब फल तुल्य लाल-लाल ओष्ठ पुठ, स्वच्छ धवल दन्त-पंक्तियोंवाले, श्रेष्ठ पद्म के गर्भ के समान गौरवर्ण और प्रफुल्लित नीलकमल के फूल के गन्ध के समान सुगन्धित श्वास-निश्वासवाले होंगे । वे जाति-स्मर ज्ञान और मति-श्रुति-अवधि-तीनों ज्ञानों से युक्त और उस समय के सभी मनुष्यों से अत्यधिक कान्ति एवं पुष्टि वाले होंगे । आठ वर्ष की आयु में माता-पिता उन्हें लेखाचार्य के पास

ले जाएंगे। जहाँ वे शक्र के पूछने पर शब्द के लक्षण, अवयव आदि की व्याख्या एवं व्याकरण के गूढ रहस्यों की व्याख्या कर देंगे। तब आठ वर्ष की आयु में उनका राज्याभिषेक होगा। तत्पश्चात् यशोदा नामक उच्च कुलोत्पन्न कन्या से उनका विवाह होगा। देवगण उनके लिए विशाल सेना तैयार करेंगे। पूर्व भव के मित्र देवों द्वारा पूजित होने से वे देवसेन नाम से भी जाने जाएंगे तथा विमल यशवाले वे महापद्म श्वेत हाथी पर सवारी करने के कारण विमलवाहन भी कहे जाएंगे। ३० वर्ष की आयु में माता-पिता के मृत्योपरांत वे प्रव्रजित होंगे। प्रव्रज्या से एक वर्ष पहले से प्रतिदिन वे सूर्योदय से एक प्रहर दिन तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान दिया करेंगे। सभी स्थानों पर देवों द्वारा वर मांगने की घोषणा होगी। एक वर्ष में वे तीन अरब, अठ्यासी करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान दिया जाएगा। तब हस्तोत्तरा नक्षत्र में-सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अग्राह्य और अरिष्ट-ये नौ लोकान्तिक देव उन्हें तीर्थ प्रवर्तन का स्मरण करायेंगे। तब वे अभिनिष्क्रमण का मन में निश्चय करेंगे। उनके लिए देवताओं द्वारा आकाश में दिव्य घोष के बाद चन्द्रप्रभा नामक दिव्य पालकी लायी जाएगी। महापद्म अपने पुत्र नलिनकुमार को राज्य देकर मार्गशीर्ष कृष्णपक्ष दशमी के दिन उस ५० धनुष लम्बी, मध्य में २५ धनुष और आगे-पीछे २०-२० धनुष चौड़ी एवं ३६ धनुष ऊँची दिव्य पालकी में बैठकर षष्ठभक्त (वेला) तप करते हुए एवं एक वस्त्र लेकर प्रव्रजित होकर शतद्वार नगर के पद्मिनी खण्ड नामक उद्यान में आएंगे। उन पालकियों को विभिन्न देवता वहन करेंगे^{१४४}। वहाँ वे पंचमुष्टि लोच करेंगे। शक्र उन लुंचित केशों को क्षीर सागर में डाल आएगा। फिर इन्द्र के आदेश से जय-जयकार आदि घोष बन्द होने पर वे चारित्र ग्रहण करेंगे। इसमें वे प्रतिज्ञा पूर्वक यावज्जीवन पंच महाव्रतों को ग्रहण करेंगे। उसी समय उन्हें चौथा मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न होगा। पुनः १२ वर्ष ६ मास और १५ दिन छदमस्थ अवस्था में रहकर वैशाख शुक्ल दशमी के दिन जृम्भिका नामक ग्राम के बाहर शालवृक्ष के नीचे उकडू (गोदोहिका) आसन में उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त होगा। केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् महासेन वन नामक उद्यान में उनका पहला समवसरण होगा। पावापुरी के दूसरे समवसरण में वे चतुर्विध संघ का प्रवर्तक करेंगे। उसी समय कुम्भसेन प्रमुख ग्यारह गणधर एकत्र होंगे और वैशाख शुक्ल एकादशी के दिन प्रथम प्रहर में, हस्तोत्तर नक्षत्र के योग में महापद्म द्वादशांगी के अर्थ का उपदेश करेंगे। इनके भी ९ गण होंगे। उस समय लोक में सब प्रकार की शुद्धता, यश-कीर्ति, सद्भाव, आगमज्ञान, व्यवहार, निरभिमानीता, क्षमा, सत्य, आयु और देह की ऊँचाई उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। पूर्व में वर्णित तीर्थकर काल में भरत क्षेत्र सदृश परिस्थितियाँ, वैभव, आचार, धन-धान्य और गौरव ही रहेंगे। अन्त में जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के आगामी उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर महापद्म कार्तिक कृष्णपक्ष की अंतिम रात्रि में शेष अघाती चार कर्मों के जाल को भी पूर्णतः समाप्त कर अपर अपापा नगरी में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।^{१४५} उपर्युक्त घटना सभी दस क्षेत्रों में समान रूप से घटित होंगे। शेष सभी चीजें जैसे-च्यवन, जन्म, अभिनिष्क्रमण, केवल-ज्ञान, तीर्थ-प्रवर्तन, मोक्षगमन आदि के नक्षत्र, मास, तिथि, उनकी आयु, शरीर की लम्बाई, वर्ण, चैत्यवृक्ष आदि अवसर्पिणी काल के तीर्थकरों के सदृश ही विपरीत क्रम से होंगी अर्थात्

१२ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

जो अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थकर का होगा वही उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर का होगा और जो अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर का होगा, वह सब उत्सर्पिणी काल के अंतिम तीर्थकर का होगा। इस प्रकार तित्थोगाली में वर्तमान और भावी तीर्थकरों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भावी तीर्थकर का विवेचन गाथा १०२७ से १११५ तक में वर्णित है।

संदर्भ ग्रंथ

१. आचारांग, १/४/१/१३२
२. उत्तराध्ययन, २३/१,५
३. दीघनिकाय, पृष्ठ- १७-१८, (हिन्दी अनुवाद)
४. उत्तराध्ययन, २३/२६
५. स्थानांग, ४/२/३३९
६. तीर्थकर बुद्ध और अवतार, पृ०-३०
७. वही, लेख- रमेश गुप्त
८. उत्तरा, २२/४
९. तीर्थकर बुद्ध और अवतार, पृ०-३०
१०. महा०, शा० पर्व (३३९/७७-९८)
११. वही, ३४०/३-४
१२. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, ले० रमेशचन्द्र गुप्त, पृ०-२६६-६७
१३. वही, पृ०-२६
१४. कल्पसूत्र, सूत्र-१६, पृ०-५४ श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर
१५. वही
१६. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, रमेशचन्द्र गुप्त, पृ०-३६
१७. पंचासक- हरिभद्र-४२४, धवला- १३/५, १०१/३६६/७, गोम्मटसार जीवकाण्ड, टीका ३८१/१६
१८. कल्पसूत्र-३३/१
१९. तित्थोगाली-१०१-१६,
२०. कल्पसूत्र, ९५-९७, आचारांग, २/१५/७३७-७३९
२१. आचारांग, २/१५, सूत्र-७४७/ पृष्ठ- १११-११३
२२. आचारांग, २/१५, सूत्र-७७४
२३. अन्ययोगव्यवच्छेदिका-१, अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्॥
२४. कल्पसूत्र-१२४
२५. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, पृ०-३८, रमेशचन्द्र गुप्त
२६. समवायांग सूत्र, समवाय ३५
२७. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, रमेशचन्द्र गुप्त, पृ०-३९-४०
२८. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, पृ०-४०
२९. अभिधान राजेन्द्र कोश, पृ०-२२४८, गा०-१९२
३०. नियमसार,-६
३१. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, पृ०-४५
३२. तित्थोगाली गा०, १३२-१३३
३३. तित्थोगाली, गा०-१०१-१६
३४. तित्थोगाली, गा०-१३६-२७३
३५. तित्थोगाली, गा०-२२८-३७

३६. वही, २३९-४१
३७. तित्थोगाली, गा०२२७-७८
३८. तित्थोगाली, गा०-२७८-७९
३९. वही, २८२-८४
४०. वही, गा०-२८५-८७
४१. वही, २८८-९१
४२. तित्थोगाली, गा०-३९२-९५
४३. वही, गा०-४००-४०२
४४. कल्पसूत्र १९७, समवायांग, समवाय ८४, सूत्र ३९८ तित्थोगाली गा०-४७२
४५. तित्थोगाली गा०-४५२
४६. वही गा०-४६५,
४७. तित्थोगाली-२८२-८४
४८. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, रमेश चन्द्र गुप्त, पृ०-६०-६१
४९. वही, पृ०-६१
५०. तित्थो० ३०५, ३०४
५१. वही, ३४१
५२. वही, ३६४, ३७३
५३. वही, ४०९, १२, १४, १६
५४. वही, ४१२
५५. वही, ४९७
५६. वही, ४५२, ६५, ७२
५७. आवश्यक निर्युक्ति-२७२, ७८, ३०३
५८. तित्थो०-५२७
५९. वही, ४७४
६०. वही, ४९९
६१. आवश्यक निर्युक्ति, ३०३, ३०७, ३१३
६२. आवश्यक निर्युक्ति, १०९२/२
६३. समवायांग पृ०-२२७, सूत्र-६३५, आवश्यक निर्युक्ति, पृ०-२२६, सूत्र २६५
६४. आवश्यक निर्युक्ति ३७०, कल्पसूत्र १८३
६५. कल्पसूत्र १८२, आ०नि० ३७०
६६. समवायांग, पृ०-२२७, सूत्र-६३५, आ०नि० ३७०,
६७. समवायांग, पृ०-५५७, सूत्र-६३५, आ०नि० ३७८, ४२०, १०९२
६८. समवायांग वही, आ०नि०, ३७०
६९. समवायांग वही, आ०नि० वही
७०. समवायांग-वही, उत्तरा १८/३३,
७१. समवायांग वही,
७२. समवायांग वही,
७३. आ० नि०-२५८
७४. समवायांग, वही (पृ०-२२७, सूत्र-६३५)
७५. तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, रमेशचन्द्र गुप्त, पृ०-३७९
७६. ज्ञाताधर्मकथा- अध्याय-८
७७. आवश्यकनिर्युक्ति-२५८

१४ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

७८. समवायांग, वही
७९. समवायांग, पृ०-२२७, समवाय-६३५, कल्पसूत्र-१७०
८०. समवायांग, वही
८१. समवायांग, वही
८२. आचारांग- १/१/९
८३. तित्थोगाली, गा०-३८४
८४. वही, गा०-३८५
८५. वही, गा०-३८६-८७
८६. वही, ३८८
८७. तित्थोगाली, गा०-३९०
८८. वही, ३९०
८९. वही, ३९२
९०. वही, ३९२
९१. वही, ४०३, ४१९
९२. वही, ४०६, ४०७
९३. वही, ४०८
९४. वही, ४२०
९५. तित्थोगाली, गा०-४२१
९६. वही, ४४८-४९
९७. वही, ४५०
९८. वही, ४५१
९९. वही, ५५५-५८
१००. वही, ५५९-६१
१०१. वही, ५६२
१०२. वही, ५६२
१०३. वही, ५६५
१०४. वही, ५६६
१०५. वही, ५६३
१०६. वही, ५६७
१०७. वही, ५६८
१०८. समवायांग, पृ०-२२७
१०९. वही, २५, ५७, ६१, ७२, ७३, ७६, ३०३, ४१७, ९, ७२, ७६, ८५, ८८, १०८०
११०. वही, १८७, ९२, ९६, ९७, ९९
१११. प्रारम्भ से २०० सूत्र
११२. २/३३/१५
११३. ता०ब्रा०, १४/२/५, श०ब्रा०, ५/२/५/१०
११४. तिलोयपण्णत्ति-४/११९५-९८
११५. वही, ४/९०-९४
११६. वही, ४/२५२७-३७
११७. वही, ४/२७८४-८५
११८. तिलोयपण्णत्ति-४/२५३२
११९. वही, ४/२५४१-५२

१२०. वही, ४/२६०१
१२१. वही, ४/२७८४-८५
१२२. वही, ४/२७९४-९६
१२३. तित्थो०, ३१४-३७
१२४. वही, ३४१-५७
१२५. वही, ३८४-३८५
१२६. वही, ५२७-५५४, ५५५-५६१
१२७. तित्थोगाली-८८०-८१
१२८. वही, ८८२-८३
१२९. वही, ८८४-८५
१३०. वही, ८८६
१३१. वही, ८८७-८९
१३२. वही, ८९०-९२
१३३. वही, १११५-१११९
१३४. पृ०-२२७, सूत्र-६३५
१३५. प्रथम देवाधिदेव काण्ड,
१३६. तित्थो०-११२१-११२५
१३७. (आगमोदय समिति), पत्र-१५४
१३८. पत्र-८१
१३९. तित्थो०-१०३२-१०३३
१४०. वही, १०२५-१०२९
१४१. वही, १०३३
१४२. वही, १०३७
१४३. वही, १०३९
१४४. तित्थोगाली-११११

तीर्थकरेतर विभूतियाँ

तित्थोगाली प्रकीर्णक में तीर्थकरों के अलावा जैन परम्परा में मान्य अन्य विभूतियों का वर्णन भी विस्तार से प्राप्त होता है। इनमें कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि तिरेसठ शलाका पुरुष एवं महावीर के पश्चात् स्थूलभद्र आचार्य तक की पट्ट-परम्परा का उल्लेख है। यहाँ इन सभी की विवेचना क्रमशः प्रस्तुत की जा रही है।

(क) कुलकर—कुलकर जैन परम्परा में विशेष अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। कुलकर का अर्थ यहाँ नीति-नियन्ता या प्रशासक किया गया है। मान्यतानुसार प्रत्येक अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे सुषमा और प्रत्येक उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे दुषमा-सुषमा आरा में अर्द्ध दक्षिण भरत क्षेत्र के बहुमध्य भाग में इन कुलकरों की उत्पत्ति होती है। विभिन्न परम्परागत ग्रन्थों में इनकी संख्या सात^१, दस^२ और पन्द्रह^३ भी मानी गयी है। सात की संख्या मानने पर अवसर्पिणी काल के प्रथम दो कुलकर 'हक्कार' दण्डनीति (हा! तुमने ऐसा किया, नहीं करना चाहिए) का प्रयोग करते हैं। बीच के दो कुलकर शासन करने में 'मक्कार' दण्डनीति (तुम आगे से ऐसा नहीं करो) का प्रयोग करते हैं और अन्तिम तीन कुलकर 'धिक्कार' दण्डनीति (डाँट-डपट) का उपयोग करते हैं।^४ पन्द्रह कुलकरों की मान्य परम्परा में ऋषभदेव को पन्द्रहवाँ कुलकर माना जाता है जिन्होंने उपर्युक्त दण्ड विधान में शारीरिक दण्ड को भी जोड़ा।^५ ऐरावत क्षेत्रों में भी समान घटना होती है। भरत क्षेत्र में उत्पन्न सात कुलकरों के नाम हैं—१. विमलवाहन २. चक्षुष्मान ३. यशोमान ४. अभिचन्द्र ५. प्रसेनजित् ६. मरुदेव और ७. नाभिराज।^६ अवसर्पिणी काल में दस कुलकरों की परम्परा के कुलकरों के नाम नहीं मिलते हैं।^७ अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में १५ कुलकरों की परम्परा में निम्न नाम उपलब्ध हैं—१. सुमति २. प्रतिश्रुति ३. सीमंकर ४. सीमन्धर ५. क्षेमंकर ६. क्षेमंधर ७. विमलवाहन ८. चक्षुष्मान ९. यशमान १०. अभिचन्द्र ११. चन्द्राभ १२. प्रसेनजित् १३. मरुदेव १४. नाभिराज और १५. ऋषभदेव।^८

अतीत के अवसर्पिणी काल में (वर्तमान अवसर्पिणी के पूर्व के कालचक्र में) भरत क्षेत्र में निम्न दस कुलकरों के होने का उल्लेख मिलता है—१. सयंजल २. शतायु ३. अजितसेन ४. अनन्तसेन ५. कार्यसेन ६. भीमसेन ७. महाभीमसेन ८. दृढरथ ९. दशरथ और १०. शतरथ।^९ स्थानांग में इनके नाम और क्रम में कुछ अन्तर प्राप्त होता है। वहाँ सतुज्वल, अनन्तसेन, अमितसेन और तर्कसेन क्रमशः पहले, तीसरे, चौथे और पांचवें कुलकर के रूप में शामिल है। शेष क्रम पूर्ववत् है।^{१०} स्थानांग का यह उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा के ही एक अलग परम्परा की ओर इंगित करता है, जो संभवतः वल्लभी की नागार्जुनीय वाचना से आयी होगी। अतीत के उत्सर्पिणी में भरत क्षेत्र में उत्पन्न सात कुलकर निम्न हैं—१. मिष्टदाम २. सुदाम ३. सुपाश्व ४. स्वयंप्रभ ५. विमलघोष ६. सुघोष और ७. महाघोष।^{११}

भरत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी में उत्पन्न होनेवाले सात कुलकरों के नाम हैं—१. मित्रवाहन २. सुभौम ३. सुप्रभ ४. सयंप्रभ ५. दत्त ६. सुहुम और ७. सुरूप या सुबन्धु।^{१२} पर तित्थोगाली प्रकीर्णक इस विषय में अन्तर दर्शाता है। तित्थोगाली में भरत क्षेत्र के आगामी कुलकर हैं—१. मितवाहन २. सुदाम ३. संगम ४. सुपाश्व ५. दत्त ६. सुनाभ और ७. सुमति।^{१३} स्थानांग में आगामी उत्सर्पिणी काल के १० कुलकरों की एक दूसरी सूची भी है जिसमें निम्न नाम हैं—१. सीमंकर २. सीमंधर ३. क्षेमंकर ४. क्षेमंधर ५. विमलवाहन ६. सम्भूति ७. प्रतिश्रुति ८. दृढधनु ९. दशधनु एवं १०. शतधनु।^{१४} यह स्थानांग में किसी अन्य परम्परा (शायद नागार्जुनीय वाचना) का प्रभाव दीखता है और कुछ भूल भी दिखती है क्योंकि नामक्रम में कुछ अन्तर के साथ यही नाम समवायांग में आगामी उत्सर्पिणी काल में ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले कुलकरों के लिए मिलता है। समवायांग में ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न होनेवाले आगामी उत्सर्पिणी के कुलकर हैं—१. विमलवाहन २. सीमंकर ३. सीमंधर ४. क्षेमंकर ५. क्षेमंधर ६. दृढधनु ७. दशधनु ८. शतधनु ९. प्रतिश्रुति और १०. सुमति।^{१५} तित्थोगाली प्रकीर्णक आगामी उत्सर्पिणी में ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले निम्न सात कुलकरों की परम्परा का उल्लेख करता है—१. विमलवाहन २. विपुलवाहन ३. दृढधनु ४. दशधनु ५. शतधनु ६. प्रतिश्रुति और ७. सुमति।^{१६} उपर्युक्त भिन्नता आगामिक साहित्य में निम्न परम्पराओं के प्रभाव के कारण दृष्टिगोचर होता है। तित्थोगाली में उल्लिखित है कि ये कुलकर ऐरावत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी के द्वितीय आरा दुषमा के अंतिम समय में क्षेत्र के बहुत भीतरी भाग में उत्पन्न होंगे। ये सब ग्रामों-नगरों आदि के निर्माता होंगे। ये सब गोकुल-संवाह, कुलनीति-राजनीति आदि का प्रावधान करेंगे, राज्य व्यवस्था के निमित्त घोड़ा-हाथी-गाय आदि का संग्रह करेंगे। इनके द्वारा उग्रकुल, भोगकुल, राज्यकुल और क्षत्रियकुल का संग्रह किया जाएगा तथा अग्नि के उत्पन्न होने पर भोजन पकान की विधि प्रारम्भ होगी।^{१७} इस प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक में सात-सात कुलकरों का नामोल्लेख आगामी उत्सर्पिणी के भरत-ऐरावत क्षेत्रों के लिए उपलब्ध होता है।

(ख) चक्रवर्ती—जैन साहित्य में चक्रवर्तियों के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती है। जैन परम्परा में चक्रवर्ती षट्खण्ड क्षेत्र के सर्वोच्च राजा माने गये हैं। वे चौदह रत्नों के स्वामी भी कहे गये हैं। इनके ये चौदह रत्न हैं।^{१८} १. चक्र २. छत्र ३. तलवार ४. दंड ५. चर्मरत्न ६. मणि ७. काकिणी रत्न ८. सेनापति ९. श्रेष्ठी १०. स्थपति ११. पुरोहित १२. श्रेष्ठ हाथी १३. पवनगतिवाला घोड़ा और १४. श्रेष्ठ स्त्री।^{१९} इनमें सर्वश्रेष्ठ हथियार 'चक्र' उनका प्रमुख रत्न है। इसके साथ वे नव निधियों के स्वामी भी होते हैं। ये नवनिधियाँ हैं—१. नैसर्प २. पाण्डु ३. पिंगल ४. रत्न ५. महापद्म ६. काल ७. महारत्न ८. मानवक और ९. शंख।^{२०} अन्य ग्रन्थों में भी इनके चौदह रत्न और नौ निधियों का वर्णन है।^{२१} ३२ हजार राजाओं के अधिपति होते हैं। उनका साम्राज्य आसमुद्र है। वे हिमवन्त से लेकर समुद्र तक छह खण्ड भरत क्षेत्र के स्वामी होते हैं।^{२२} इनकी हाथी, घोड़े, रथ पैदल-चतुरंगिनी सेना कही गयी है।^{२३} इनकी ६४ हजार पत्नियाँ थीं।^{२४} चक्रवर्तियों की माताएँ भी तीर्थकर माताओं की तरह चौदह शुभ स्वप्न देखती हैं, जब चक्रवर्ती गर्भ में

अवतरित होते हैं।^{१२५} चक्रवर्ती कभी भी निम्न कुल में उत्पन्न नहीं होते, वे क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होते हैं।^{१२६} चक्रवर्ती वासुदेव से उत्कृष्ट और तीर्थकरों से निम्न पद पर होते हैं। इनमें वासुदेवों से दुगुना बल होता है।^{१२७} वे १००८ भाग्यशाली चिह्न धारण करते हैं।^{१२८} जम्बूद्वीप में एक समय में कम से कम ४ चक्रवर्ती और अधिकतम ३० चक्रवर्ती होते हैं। इनमें महाविदेह क्षेत्र में न्यूनतम ४ चक्रवर्ती हर समय विद्यमान रहते हैं। अधिकतम की स्थिति में महाविदेह में २८ और भरत तथा ऐरावत में एक-एक चक्रवर्ती होते हैं।^{१२९} प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में भरत और ऐरावत क्षेत्रों में १२-१२ चक्रवर्ती उत्पन्न होते हैं। भरत क्षेत्र के वर्तमान अवसर्पिणी के १२ चक्रवर्ती हैं—१. भरत २. सगर ३. मघवा ४. सनत्कुमार ५. शांति ६. कुंथु ७. अर ८. सुभूम ९. महापद्म १०. हरिसेन ११. जय और १२. ब्रह्मदत्त।^{१३०}

आगामी उत्सर्पिणी काल में भरत क्षेत्र के १२ चक्रवर्ती होंगे। वे हैं—१. भरत २. दीर्घदन्त ३. गूढदन्त ४. शुद्धदन्त ५. श्रीचन्द्र ६. श्रीभूति ७. श्रीसोम ८. पद्म ८. महापद्म १०. विमलवाहन १.११. विपुलवाहन और १२. वरिष्ठ।^{१३१}

यहाँ तित्थोगाली में वर्णित वर्तमान अवसर्पिणी काल के १२ चक्रवर्तियों के नाम-पिता-आयु-राज्य आदि का परिचय प्रस्तुत है। अन्य ग्रन्थों में प्राप्त इनसे सम्बन्धित जानकारी का भी समावेश किया गया है।

१. भरत—वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत हैं। ये प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनका वर्णन वैदिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। इनकी माता सुमंगला थी।^{१३२} भरत के ९८ और सहोदर भाई थे।^{१३३} इनकी ऊँचाई १५०० धनुष थी।^{१३४} ७७ लाख पूर्व वर्ष की आयु पूर्ण कर वे विनीता नगरी के सम्राट बने।^{१३५} ऋषभदेव की दीक्षा के समय उन्हें राज्य और उनके कौशल्य प्राप्ति के समय उन्हें चमत्कारी शक्ति सम्पन्न छह चक्र रत्न की प्राप्ति हुई।^{१३६} चक्ररत्न की प्राप्ति होने पर उन्होंने छः खण्ड भरत क्षेत्र को जीत लिया। उनके राज्य क्षेत्र के अंतर्गत वैताद्वय पर्वत के मगध तीर्थ, वरदामतीर्थ, प्रवास तीर्थ आदि भरत क्षेत्र का सम्पूर्ण उत्तरी हिस्सा था।^{१३७} उन्होंने ऋषभ कूट पर एक शिला पर अंकित किया—“मैं भरत प्रथम सर्वोच्च राजा हूँ।^{१३८}” उन्होंने नमि और विनमि राजा से उपहारस्वरूप सुभद्रा को प्राप्त किया, जो उनकी अग्रमहिषी बनी।^{१३९} इनकी सुभद्रा प्रमुख ६४ हजार पत्नियाँ थी।^{१४०} उनका चक्र सभी क्षेत्रों में उनकी सर्वोच्चता को प्रतिष्ठित करता हुआ, क्षेत्रों पर विजय करता हुआ निर्बाध रूप से आ गया पर फिर भी राजधानी में प्रवेश नहीं कर रहा था। पता चला कि भरत के सभी ९८ भाई तो भरत द्वारा उनकी अधीनता स्वीकार करने का संदेश पाकर ही विरक्त होकर ऋषभदेव के समीप प्रव्रजित हो गये पर एक भाई-बाहुबली ने भरत की अधीनता स्वीकार करने से इनकार कर दिया। भरत ने बाहुबली पर आक्रमण कर दिया और दोनों में घनघोर युद्ध हुआ। पाँच प्रकार के युद्ध-जल युद्ध, दृष्टि युद्ध, मुष्ठी युद्ध आदि में पराजित होने पर भरत में अपना चक्र बाहुबलि पर चला दिया। बाहुबली के चरम शरीरी होने के कारण चक्र उनकी परिक्रमा कर ठहर गया। तब बाहुबलि ने भरत को मारने के लिए अपना हाथ उठाया, उसी समय

उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ और अपना सारा राज-पाट भरत के लिए छोड़कर बाहुबलि ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भरत को मारने के लिए उठा हाथ उनके सिर पर गिरा और उन्होंने अपना केश लुंचन कर लिया और मुनि बन गये। भरत के पाँच सौ पुत्रों और सात सौ पौत्रों ने भी ऋषभदेव के समक्ष दीक्षा ग्रहण कर ली। इस प्रकार भरत सम्पूर्ण क्षेत्र के चक्रवर्ती सम्राट बने और दोनों के बीच ६० हजार वर्षों से चल रहा युद्ध समाप्त हुआ।^{१९} भरतने छह लाख पूर्व वर्ष तक राज्य किया।^{२०} वे संसार में प्रसिद्ध राजा हुए। भरत तीर्थकर ऋषभदेव के प्रथम श्रोता थे। इनकी कुल आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष मानी गयी है।^{२१} एक दिन उन्हें शृंगार कक्ष में वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ।^{२२} एक लाख पूर्व तक मुनि रूप में रहकर उन्होंने अष्टापद पर्वत पर मोक्ष प्राप्त किया।^{२३} पूर्व भव में इनका नाम कंगनाभ था।^{२४}

२. सगर—द्वितीय चक्रवर्ती सगर अयोध्या के सुमित्र और उनकी पत्नी यशवती के पुत्र माने गये हैं।^{२५} भद्रा इनकी पत्नी थी।^{२६} दो भव पूर्व ये वत्सकावती देश के राजा जयसेन तथा पूर्वभव में अच्युत स्वर्ग में महाकाल नाक देव थे। दिग्विजय के उपरान्त वे भोगों में आसक्त हो गये। यह देख पूर्व भव के मित्र मणिकेतु नामक देव ने अनेक दृष्टान्त देकर इनको संबोधा जिसके प्रभाव से विरक्त होकर ये मुक्त हो गये। ये द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ के मुख्य श्रोता थे। इनकी कुल आयु ७२ लाख पूर्व वर्ष मान गयी है।^{२७} ७१ लाख पूर्व की आयु में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की तथा एक लाख पूर्व पश्चात् मोक्ष प्राप्त किया। यह भी उल्लेख मिलता है कि इनके पुत्रों ने गंगा को धरती पर लाया।^{२८} सगर का उल्लेख ब्राह्मण परम्परा में भी प्राप्त होता है। ये राम के पूर्वज थे। इनके अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा इन्द्र द्वारा पाताल में कपिल मुनि के आश्रम में चुराकर बांध दिया गया। कपिल मुनि तब ध्यानस्थ थे। इनके ६० हजार पुत्रों ने सारी पृथ्वी खोदकर घोड़ा खोज निकाला। कपिल मुनि को वहाँ देखकर इन सबों को संदेह हुआ कि इसी ने घोड़ा चुराया है और अब ध्यान का ढोंग कर रहा है। भला-बुरा कहने पर कपिल का ध्यान टूटा और क्रोध से देखने से ही ये ६० हजार सगर पुत्र जलकर भस्म हो गये। सगर के बचे एक अन्य पुत्र के वंशज भगीरथ ने कठोर तपस्या कर गंगा को धरती पर उतारा जिनसे इन ६० हजार सगरपुत्रों का उद्धार हुआ। ऐसा लगता है कि जैन परम्परा में वैदिक धारा का ही प्रभाव पड़ा और कथा में कुछ बदलाव ला कर। सगर द्वितीय चक्रवर्ती के रूप में मान लिये गये।

३. मधवा—मधवा वर्तमान अवसर्पिणी काल के तीसरे चक्रवर्ती हैं। इनके समय में कोई तीर्थकर भरत क्षेत्र में नहीं थे। ये पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथ के निर्वाण के बाद और सोलहवें तीर्थकर शातिनाथ के जन्म के पहले के कालखण्ड में भरत क्षेत्र में थे।^{२९} श्रावस्ती के राजा सुमित्र इनके पिता तथा उनकी पत्नी भद्रा इनकी माता थी।^{३०} इनकी पत्नी का नाम सुनन्दा था। मृत्यु के बाद ये सनत्कुमार के भव में उत्पन्न हुए।^{३१} इनकी ऊँचाई साढ़े ४२ धनुष और कुल आयु ५ लाख वर्ष थी।^{३२}

४. सनत्कुमार—चक्रवर्तियों में सनत्कुमार का स्थान चौथा है। ये मधवा चक्रवर्ती के

बाद और शांतिनाथ तीर्थकर के पूर्व के कालखण्ड में उत्पन्न हुए।^{१५५} सनत्कुमार हस्तिनापुर के राजा समुद्रविजय और रानी सहदेवी के पुत्र थे एवं उनकी अग्रमहिषी जया थी।^{१५६} सौधर्म कल्प के शक्र ने उन्हें काफी सुन्दर रूप प्रदान किया और उनकी प्रशंसा की थी। जब उन्हें अपनी सुन्दरता पर अभिमान हुआ तो उनका शरीर विकृत और निस्तेज हो गया। काफी बीमारियों से घिर जाने पर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। मृत्योपरांत वे सनत्कुमार नामक देव हुए। भविष्य में वह महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेंगे।^{१५७} इनकी ऊँचाई साढ़े ४१ धनुष प्रमाण और आयु ३ लाख वर्ष बतायी गयी है।^{१५८}

५. शांति—शांतिनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र के पाँचवें चक्रवर्ती थे। बाद में ये सोलहवें तीर्थकर हुए।^{१५९} पूर्वभव में ये मेघरथ थे।^{१६१} शांति के पिता गजपुर के राजा विश्वसेन और माता रानी ऐरा थी। उनकी प्रमुख पत्नी का नाम विजया था। इनकी ऊँचाई चालीस धनुष थी। ४० हजार वर्ष की आयु में इन्हें चक्रवर्ती पद प्राप्त हुआ। पचहत्तर हजार वर्ष की आयु में इन्होंने एक हजार अनुयायियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने अपनी प्रथम भिक्षा सुमित्रा के हाथ से ग्रहण की।^{१६१} एक वर्ष पश्चात् हस्तिनापुर के सहस्राम्ब उद्यान में उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। उनका चैत्य वृक्ष नदी था। एक लाख वर्ष की आयु व्यतीत कर लेने पर नौ सौ साधुओं के साथ समवेत शिखर पर इन्होंने संथारा ग्रहण किया। उनका कुमारकाल २५ हजार वर्ष, राज्यकाल २५ हजार वर्ष, चक्रवर्तित्व २५ हजार वर्ष और श्रमणत्व २५ हजार वर्ष का रहा है।^{१६२} उनके संघ में ६२ हजार साधु, ६१ हजार छह सौ साध्वियाँ एवं नौ हजार तीन सौ चौदह पूर्वधारी शामिल थे।^{१६३} तीर्थकर होने के बाद धर्मोपदेश करते हुए वे मोक्ष को प्राप्त हुए।

६. कुंथु—छठे चक्रवर्ती कुंथुनाथ भरत क्षेत्र के सत्रहवें तीर्थकर हुए। गजपुर के राजा सूर और उनकी रानी सिरी कुंथुनाथ के माता-पिता थे।^{१६४} कृष्णसिरी इनकी प्रधान पत्नी थी।^{१६५} पूर्वभव में इनका नाम रूपी था।^{१६६} इनकी ऊँचाई ३५ धनुष तथा रंग सुवर्ण था।^{१६७} इन्होंने एक हजार अनुयायियों के साथ दीक्षा ग्रहण की।^{१६८} इनको सर्वप्रथम भिक्षा चक्रपुर के राजा वर्ग सिंह से प्राप्त हुआ था।^{१६९} इनकी कुल आयु ९५ हजार वर्ष की थी।^{१७०} इनके बारे में विशेष वर्णन तीर्थकर के रूप में पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

७. अर—भरत क्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी काल के सातवें चक्रवर्ती अरनाथ बाद में अठारहवें तीर्थकर भी हुए। अरनाथ गजपुर के राजा सुदर्शन और उनकी रानी देवी के पुत्र थे। सूरसिरी नामकी उनकी पत्नी थी। इनकी ऊँचाई ३० धनुष तथा रंग सुवर्ण था।^{१७१} ये ४२ हजार वर्ष की आयु में चक्रवर्ती बने और ६३० हजार वर्ष की आयु में एक हजार अनुयायियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। प्रथम भिक्षा इन्होंने अपराजिता के हाथों ग्रहण किया। प्रव्रज्या ग्रहण के तीन वर्ष बाद उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था।^{१७२} इनके संघ में ३३ गण और इतने ही गणधर थे। इनके धर्मसंघ में ५० हजार साधु एवं ६० हजार साध्वियाँ थी।^{१७३} ८४ हजार वर्ष की आयु में सम्मत् शिखर से उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।^{१७४} विशेष परिचय तीर्थकर के रूप में है।

८. सुभौम—सुभौम आठवें चक्रवर्ती थे। इनका समय अठारहवें तीर्थकर अरनाथ और

१९वें तीर्थकर मल्लीनाथ के बीच का कालखण्ड है।^{१५} चक्रवर्ती सुभौम, हस्तिनापुर के राजा कीर्तिवीर्य और उनकी रानी तारा की सन्तान थे। उनका रंग स्वर्णवर्ण, ऊँचाई अठ्ठाईस धनुष प्रमाण और कुल आयु ६०,००० वर्ष की मानी गयी है।^{१६} कई जैन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि परशुराम ने पृथ्वी से क्षत्रियों को सात बार निर्मूल कर दिया था। इसपर सुभौम ने परशुराम सहित ब्राह्मणों को पृथ्वी से इक्कीस बार में निर्मूल कर दिया।^{१७} मृत्यु के उपरान्त ये सातवीं नरक में उत्पन्न हुए।^{१८} ऐसा लगता है कि सुभौम द्वारा ब्राह्मणों का इक्कीस बार संहार की परिकल्पना ब्राह्मण साहित्य में उपलब्ध परशुराम द्वारा क्षत्रियों के इक्कीस बार संहार किये जाने की प्रतिक्रिया में आयी है। क्योंकि भगवान् महावीर स्वयं क्षत्रिय थे और जैन परम्परा ब्राह्मण वर्चस्व के विरोध में आवाज उठा रही थी। दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि उपर्युक्त कल्पना किसी मूल आगम में नहीं बल्कि व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होती है।

९. महापद्म—नौवें चक्रवर्ती महापद्म बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत के समकालीन थे। हस्तिनापुर के राजा पद्मरथ और उनकी रानी मयूरी महापद्म के पिता-माता थे। इनकी ऊँचाई बीस धनुष और आयु ३० हजार वर्ष की थी।^{१९} ये स्वर्ण वर्ण के थे। इनका कुमारकाल ५०० वर्ष, मण्डलीक राजत्व काल ५०० वर्ष, दिग्विजय में ३०० वर्ष और चक्रवर्ती काल १८७०० वर्ष का रहा। अन्त में दीक्षा लेकर १०,००० वर्षों तक संयम धारण कर इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।^{२०} त्रिलोकसार^{२१}, पद्मपुराण^{२२}, हरविंशपुराण^{२३} एवं तित्थोगाली^{२४} के अनुसार इनका नाम महापद्म है। दिगम्बर साहित्य के अनुसार यह राजा महापद्म उन्हीं विष्णु कुमार मुनि के बड़े भाई थे, जिन्होंने ७५० मुनियों की राजा बलिकृत उपसर्ग से रक्षा की थी। इनके पिता के नाम में पदमुत्तर माता का नाम जाता और नगर के रूप में वाराणसी का उल्लेख भी है।^{२५}

१०. हरिषेण—ये भरतक्षेत्र के वर्तमान अवसर्पिणी में दसवें तीर्थकर थे।^{२६} ये कापिल्यपुर के राजा महाहरि और उनकी पत्नी मीरा के पुत्र थे। उनकी प्रधान पत्नी देवी थी।^{२७} इनकी ऊँचाई १५ धनुष थी।^{२८} ये ८९०० वर्ष तक चक्रवर्ती पद पर रहे। इन्होंने ९७०० वर्ष से कुछ कम की आयु में दीक्षा ग्रहण की और १०,००० वर्ष की आयु में मोक्ष प्राप्त किया। ये तीर्थकर नमि के समकालीन थे।^{२९} इनके माता-पिता के नाम में वप्रा और पद्मनाभ भी मिलता है।^{३०}

११. जय—वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में ग्यारहवें चक्रवर्ती थे। वे राजगृह के राजा विजय और उनकी पत्नी वप्रा की सन्तान थे।^{३१} महापुराण में इनकी माता का नाम यशोवती और राजधानी में कौशाम्बी का उल्लेख मिलता है।^{३२} चक्रवर्ती जय इक्कीसवें तीर्थकर नमिनाथ के बाद और बाईसवें तीर्थकर नेमि के पूर्व के कालखण्ड में थे।^{३३} इनकी ऊँचाई १२ धनुष और कुल आयु ३० हजार वर्ष थी। इनकी प्रमुख पत्नी लच्छीमती थी।^{३४} आयु पूर्ण होने के पश्चात् इन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।^{३५} इन्होंने ३०० वर्ष कुमारकाल में, ३०० वर्ष मण्डलीक रूप में, १०० वर्ष दिग्विजय में, १९०० वर्ष चक्र काल में तथा ४०० वर्ष श्रामण्यकाल में व्यतीत किया।^{३६}

१२. ब्रह्मदत्त-वर्तमान अवसर्पिणी काल के ये अन्तिम चक्रवर्ती थे। इनका समय २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ और २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मध्य का कालखण्ड है।^{१७} ये पांचाल (कांपिल्यपुर) के राजा ब्रह्मरथ और उनकी रानी चूला (चुलनी) की सन्तान थे।^{१८} इनकी ऊँचाई सात धनुष थी।^{१९} इनकी प्रमुख पत्नियों में हरियशा, गोदत्ता, कणेरुदत्ता, कनेरुपतिगा, कुंजरसेना, कनेरुसेना, ऋषिबुद्धि और कुरुमती थी।^{२०} चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के पूर्वभव के भाई और वर्तमान में सीत मुनि ने कांपिल्यपुर आकर उनके पूर्वभावों का स्मरण दिलाया और उन्हें सांसारिक भोगोपभोग छोड़कर दीक्षा लेने की सलाह दी। पर ब्रह्मदत्त ने इसे स्वीकार नहीं किया। ७०० वर्ष तक राज्य सुख भोगकर^{२१} इन्होंने इस संसार का त्याग किया और मरकर सातवें नरक में उत्पन्न हुए।^{२२} इनकी आयु का २८ वर्ष कुमारकाल में, ५६ वर्ष मण्डलीक राजा के रूप में, १६ वर्ष दिग्विजय में तथा ६०० वर्ष राज्यकाल में व्यतीत हुआ।^{२३} इनका वर्ण स्वर्ण था।^{२४}

इन सब चक्रवर्तियों का संस्थान समचतुरस्र और संहनन वज्रऋषभनाराच था।^{२५} चक्रवर्ती शलाका पुरुष के अंतर्गत आते हैं। ये सब चक्रवर्ती भव्य जीव होते हैं और नियम से उसी भव या अगले एक या दो भव में सिद्ध हो जाते हैं।^{२६}

अध्याय में पूर्व वर्णित चक्रवर्तियों के १४ रत्नों और ९ निधियों के अतिरिक्त महापुराण में भरत चक्रवर्ती के ४९ विभूतियों के भी नाम गिनाये गये हैं। ये ४९ विभूतियाँ हैं^{२७}—
१. क्षितिसार नामक घर का कोट २. सर्वतोभद्र नामक गौशाला ३. नन्द्यावर्त्त-छावनी ४. वैजयन्त-ऋतुओं का महल ५. दिग्वसतिका-सभाभूमि ६. सुविधि-टहलने की लकड़ी ७. गिरिकूटक-दिशा-प्रेक्षण भवन ८. वर्धमानक-शीतगृह ९. गृहकूट-वर्षाऋतु निवास १०. पुष्करावती-निवासभवन ११. कुबेरकान्त-भण्डार गृह १२. बसुधारक-कोठार १३. जीमूत-स्नानगृह १४. अवर्तसिका-रत्नमाला १५. देवरम्या-चाँदनी १६. सिंहवाहिनी-शय्या १७. अनुपमान-चमर १८. सूर्यप्रभ-छत्र १९. विद्युत्प्रभ-कुण्डल २०. विषमोचिका-खड़ाऊँ २१. अभेद्य-कवच २२. अजितंजय-रथ २३. वज्रकाण्ड-धनुष २४. अमोघ-बाण २५. वज्रतुण्डा-शक्ति २६. सिंघाटक-माला २७. लौहवाहिनी-छुरी २८. मनोवेग-कणप (अस्त्र-विशेष) २९. सौनन्दक-तलवार ३०. भूतमुख-खेट (अस्त्र-विशेष) ३१. सुदर्शन-चक्र ३२. चण्डवेग-दण्ड ३३. चूड़ामणि-चिन्तामणि ३४. चिन्ताजननी-काकिणी (दीपिका) ३५. अयोध्य-सेनापति ३६. बुद्धिसागर-पुरोहित ३७. कामवृष्टि-गृहपति ३८. भद्रमुख-शिलावट (स्थपति) ३९. विजयगिरि-गज ४०. पवनंजय-अश्व ४१. सुभद्रा-स्त्री ४२. आनन्दिनी-भेरी ४३. गम्भीरावर्त ४४. वीरानन्द-कड़ा ४५. महाकल्याण-भोजन ४६. अमृतगर्भ-खाद्य-पदार्थ ४७. अमृत कल्प-स्वाद्य पदार्थ और ४८. अमृत-पेय पदार्थ।

दिग्विजय-जैन ग्रन्थों में चक्रवर्तियों के दिग्विजय का वर्णन लगभग एक जैसा ही है। इसका कारण मुख्य रूप से यह है कि इन चक्रवर्तियों के विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त नहीं है। जैन ग्रन्थों में चक्रवर्तियों के दिग्विजय का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है।^{२८}

आयुधशाला में चक्र की उत्पत्ति हो जाने पर चक्रवर्ती जिनेन्द्र-पूजनपूर्वक दिग्विजय

के लिए प्रयाण करते हैं। पहले पूर्व दिशा की ओर जाकर गंगा के किनारे-किनारे समुद्र पर्यन्त जाते हैं। रथ पर चढ़कर १२ योजन पर्यन्त समुद्र तट पर प्रवेश करके वहाँ से अमोघ नामक बाण फेंकते हैं। जिसे देखकर मगध नामक देव चक्रवर्ती की अधीनता स्वीकार कर लेता है। यहाँ से जम्बूद्वीप की वेदी के साथ-साथ उसके वैजयन्त नामक दक्षिण-द्वार पर पहुँचकर पूर्व की भाँति ही वहाँ रहनेवाले वरतनुदेव को वश में करते हैं। यहाँ से वह पश्चिम दिशा की ओर जाते हैं और सिंधु नदी के द्वार में स्थित प्रभासदेव को पूर्ववत् वश में करते हैं। तत्पश्चात् नदी के तट से उत्तरमुख होकर विजयार्ध पर्वत के रक्षक वैताढ्य नामक देव को वश में करते हैं। तब सेनापति दण्ड-रत्न से उस पर्वत की खण्ड प्रपात नामक पश्चिम गुफा को खोलते हैं। गुफा में से गर्म हवा निकलने के कारण वह पश्चिम के म्लेच्छ राजाओं को वश में करने चले जाते हैं। छह महीने में उन पर अधिकार कर जब वह अपने कटक में लौटते हैं तब तक उस गुफा की वायु भी शुद्ध हो चुकी होती है। अब सारी सेना को साथ लेकर वह गुफा में प्रवेश करते हैं, और काकिणी रत्न से गुफा के अंधकार को दूर करते हैं। स्थपति गुफा में स्थित उन्मग्नजला नदी पर पुल बाँधते हैं। इस पर से सारी सेना गुफा को पार कर जाती है। यहाँ पर सेना को ठहराकर पहले सेनापति पश्चिम खण्ड के म्लेच्छ राजाओं को जीतते हैं। तत्पश्चात् हिमवान पर्वत पर स्थित हिमवान देव से युद्ध करते हैं। देव द्वारा अतिघोर वृष्टि किये जाने पर छत्र-रत्न और चर्म-रत्न से सेना की रक्षा करते हुए वह उस देव को भी जीत लेते हैं। अब वृषभगिरि पर्वत के निकट आते हैं और दण्ड रत्न द्वारा अन्य चक्रवर्तियों का नाम मिटाकर वहाँ अपना नाम लिख देते हैं। यहाँ से पुनः पूर्व में गंगा नदी के तट पर आते हैं। जहाँ सेनापति पूर्ववत् दण्ड-रत्न द्वारा तमिस्रा गुफा के द्वार को खोलकर छह महीने में पूर्वखण्ड के म्लेच्छ राजाओं को जीतते हैं। विजयार्ध की उत्तर श्रेणी के साठ विद्याधरों को जीतने के पश्चात् पूर्ववत् गुफा द्वार से पर्वत को पार करते हैं। यहाँ से छह महीने में पूर्वखण्ड के म्लेच्छ राजाओं को जीतकर पुनः कटक में लौट आते हैं। इस प्रकार चक्रवर्ती छह खण्ड भरत क्षेत्र को जीतकर अपनी राजधानी में लौट आते हैं।

इस प्रकार चक्रवर्तियों के वैभव उनकी विशेषताओं आदि का वर्णन किया गया है।

(ग) बलदेव—जैन परम्परा की मान्यतानुसार बलदेव चक्रवर्ती से नीचे की श्रेणी है। एक बलदेव तीन खण्ड क्षेत्र का स्वामी होते हैं, जबकि चक्रवर्ती छह खण्ड का स्वामी होते हैं। बलदेव वासुदेव के बड़े भाई कहे गये हैं। बलदेव हल, मूसल और तीर (वाण) धारण करते हैं।^{१०९} इन सबका वर्ण सफेद होता है।^{११०} सभी बलदेव १०८ चमत्कारी चिन्ह धारण करते हैं और अति बलशाली होते हैं।^{१११} बलदेव कभी निम्न कुल में उत्पन्न नहीं होते हैं।^{११२} बलदेवों की माताएँ उनके गर्भकाल में १४ महास्वप्नों में से कोई चार स्वप्न देखती हैं।^{११३} जम्बूद्वीप में एक समय में कम से कम चार और अधिक से अधिक ३० बलदेव होते हैं।^{११४} प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल-चक्र के दुष्मा-सुष्मा आरे में नौ-नौ बलदेव होते हैं।^{११५} बलदेव पूर्व भव में कोई निदान नहीं बाँधते, सामान्यतः वे सभी मोक्ष गामी होते हैं।^{११६} बलदेव हरे रंग का वस्त्र धारण करते हैं।^{११७} भगवत् में वर्तमान अवसर्पिणी में उत्पन्न बलदेवों का परिचय इस प्रकार है—

१. **अचल**—वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र के प्रथम बलदेव अचल हैं। इनके पिता पोदनपुर के राजा प्रजापति और माता भद्रा थी। इनके पूर्वभव का नाम विश्वभूति एवं नगरी मथुरा थी।^{११८} अचल की ऊँचाई ८० धनुष और कुल आयु ८५ लाख वर्ष मानी गयी है।^{११९} तिलोयपण्णत्ति के अनुसार अचल दूसरे बलदेव हैं।^{१२०} ये त्रिपृष्ठ वासुदेव के बड़े भाई थे।^{१२१} इनका समय ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के तीर्थ में माना गया है। अचल उनके समकालीन थे।^{१२२}

२. **विजय**—विजय दूसरे बलदेव हैं। ये द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्म और उनकी रानी सुभद्रा की सन्तान तथा द्वितीय वासुदेव द्विपृष्ठ के भाई थे।^{१२३} ये बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य के समकालीन थे।^{१२४} इनकी ऊँचाई ७० धनुष और कुल आयु ७५ लाख वर्ष मानी गयी है।^{१२५} पूर्वभव में इनका नाग सुबन्धु और नगर कनकवस्तु था।^{१२६} तिलोयपण्णत्ति के अनुसार ये प्रथम बलदेव थे।^{१२७}

३. **भद्र**—वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र के तीसरे बलदेव भद्र थे। ये तीसरे वासुदेव स्वयंभू के भाई थे। द्वारावती के राजा रुद्र और उनकी रानी सुप्रभा की ये सन्तान थे।^{१२८} पूर्वभव में ये श्रावस्ती निवासी सागरदत्त थे।^{१२९} इनकी ऊँचाई ६० धनुष और आयु ६५ लाख वर्ष मानी गयी है तथा मृत्योपरान्त ये मोक्ष गये।^{१३०} ये तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ के समकालीन थे।^{१३१} तिलोयपण्णत्ति में तीसरे बलदेव का नाम सुधर्म कहा गया है।^{१३२}

४. **सुप्रभ**—चौथे बलदेव का नाम सुप्रभ था। ये चौथे वासुदेव पुरुषोत्तम के भाई थे। द्वारावती के राजा सोम और रानी सुदर्शन की ये सन्तान थे।^{१३३} ये चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ समकालीन थे।^{१३४} तीन खण्ड (अर्ध) भरत क्षेत्र का राज्य भोगकर पचपन लाख वर्ष की आयु में इन्हें मोक्ष मिला इनकी ऊँचाई ५० धनुष थी।^{१३५} पूर्वभव में ये पोदनपुर में दत्त नाम से थे।^{१३६}

५. **सुदर्शन**—पाँचवें पुरुषसिंह के भाई सुदर्शन पाँचवें बलदेव कहे गये हैं। ये अश्वपुर (खगपुर) के राजा शिव और उनकी रानी विजया की सन्तान थे।^{१३७} इनकी ऊँचाई ४५ धनुष और आयु सत्तर लाख वर्ष थी।^{१३८} पूर्वभव में ये राजगृह नगर में अशोकललित नामवाले थे।^{१३९} ये १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ के समकालीन थे।^{१४०}

६. **आनन्द**—वर्तमान अवसर्पिणी में भरत क्षेत्र के छठे बलदेव आनन्द थे। ये चक्रपुर के राजा महासिंह और उनकी रानी वैजयन्ती की सन्तान थे।^{१४१} ये छठे वासुदेव पुरुषपुण्डरीक के भाई थे। इनके काल में भरत क्षेत्र में कोई तीर्थंकर विद्यमान नहीं थे।^{१४२} ये अठारहवें तीर्थंकर अर और उन्नीसवें मल्लीनाथ के मध्य के कालखण्ड में थे। पूर्वभव में काकन्दी नगरी में बाराह नाम से जाने जाते थे।^{१४३} इनकी ऊँचाई २९ धनुष प्रमाण और आयु पच्चासी हजार वर्ष की थी।^{१४४} दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों के अनुसार छठे बलदेव का नाम नंदी है।^{१४५}

७. **नन्दन**—नन्दन वर्तमान अवसर्पिणी में भरत क्षेत्र के सातवें बलदेव थे।^{१४६} ये सातवें वासुदेव दत्त के भाई थे। इनके काल में भी भरत क्षेत्र में कोई तीर्थंकर नहीं थे। नन्दन बलदेव छठे आनन्द बलदेव और उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लीनाथ के बीच के कालखण्ड में

थे ११४० नंदन वाराणसी के राजा अग्निसिंह और उनकी रानी जयन्ती की सन्तान थे ११४८ पूर्वभव में इनका नाम धर्मसेन था और नगरी कौशाम्बी थी ११४९ इनकी ऊँचाई २६ धनुष और आयु ६५ हजार वर्ष थी ११५० दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इनका नाम नंदीमित्र, ऊँचाई २२ धनुष और आयु सैंतीस हजार वर्ष उल्लिखित है ११५१

८. पद्म—आठवें बलदेव पद्म के नाम पर भी मतभेद है। तित्थोगाली में इन्हें आठवाँ बलदेव कहा गया है ११५२ तिलोयपण्णत्ति में आठवें बलदेव के रूप में राम और नौवें में पद्म का नाम है ११५३ ऐसे सभी बलदेवों को सामान्यतया राम भी कहा जाता है ११५४ पद्म के पिता का नाम दशरथ और माता का नाम अपराजिता था ११५५ ये आठवें वासुदेव नारायण के भाई थे। इनका जन्म नगर राजगृह है ११५६ महापुराण में इनका जन्म नगर वाराणसी है ११५७ इनकी ऊँचाई १६ धनुष और आयु १५ हजार वर्ष थी ११५८ निशीथचूर्णि में इन्हें राम के रूप में माना गया है। ये सीता के पति ११५९, तथा लक्ष्मण के भाई थे ११६० तिलोयपण्णत्ति में आठवें बलदेव का नाम केवल राम है, पद्म नहीं ११६१ पूर्वभव में ये मिथिलापुरी के 'अपराजित' थे ११६२

९. राम—यद्यपि सभी बलदेवों के लिए 'राम' सामान्य नाम है। फिर भी इस नाम से नौवें बलदेव को जाना जाता है ११६३ ये नौवें वासुदेव कृष्ण के भाई माने गये हैं। इनका दूसरा नाम बलराम भी है। राम बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि के समकालीन थे ११६४ इनके पिता मथुरा के राजा वासुदेव और माता रोहिणी थीं ११६५ कृष्ण के भाई बलराम को ही यहाँ राम के रूप में चिन्हित किया गया है ११६६ पूर्वभव में ये हस्तिनापुर में राजललित थे ११६७ इनकी ऊँचाई दस धनुष और आयु बारह हजार वर्ष थी ११६८ सभी नौ बलदेवों में एकमात्र राम बलदेव ही मोक्ष प्राप्त न करके ब्रह्मलोक नामक स्वर्ग में उत्पन्न हुए ११६९ ये आगामी उत्सर्पिणी काल में कृष्ण के तीर्थ में मोक्ष प्राप्त करेंगे ११७० तिलोयपण्णत्ति में नौवें बलदेव के रूप में 'पद्म' का नाम है ११७१

(घ) वासुदेव-प्रतिवासुदेव—जैन साहित्य में 'वासुदेव' राजा का एक प्रकार है जो दूसरे प्रकार के राजा 'बलदेव' के भाई होते हैं और ये भी आधे भरत क्षेत्र के स्वामी होते हैं। वासुदेव की अधीनता में १६,००० राजा होते हैं। वासुदेवों का दूसरा नाम केशव और नारायण भी है ११७२ इनकी निधियों में शंख, चक्र, गदा, शक्ति, तलवार और खड्ग होता है ११७३ सभी वासुदेवों का वर्ण नीला होता है ११७४ सभी वासुदेव १०८ चमत्कारी चिह्नों को धारण करते हैं ११७५ वासुदेव कभी निम्न कुलों में या ब्राह्मण कुल में पैदा नहीं होते हैं ११७६ वासुदेवों के गर्भ में आने पर उनकी माताएँ चौदह महास्वप्नों में से कोई सात स्वप्न देखती हैं ११७७ सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में एक समय में कम-से-कम चार और अधिकतम ३० वासुदेव विद्यमान रहते हैं ११७८ भरत और ऐरावत क्षेत्रों में प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के दुषमा-सुषमा आरे में क्रमशः ९-९ वासुदेव उत्पन्न होते हैं ११७९ प्रत्येक वासुदेव का एक दुश्मन होता है जो प्रतिवासुदेव कहलाता है और वह युद्ध में वासुदेव के हाथों मारा जाता है। वासुदेव पूर्वभव में निदान बाँधे होते हैं, इन्हें इस भव में मोक्ष प्राप्त नहीं होता और ये सब मरकर नरक में जाते हैं ११८० वासुदेव पीले वस्त्र धारण करनेवाले होते हैं ११८१ यहाँ तित्थोगाली में वर्णित वर्तमान अवसर्पिणी के नौ वासुदेवों का वर्णन उनके प्रतिपक्षी

प्रतिवासुदेवों के साथ प्रस्तुत है। सभी प्रतिवासुदेवों की ऊँचाई, आयु एवं मृत्यु के बाद की गति तत्कालीन वासुदेवों के समान ही होती है।^{१८२} सभी वासुदेव निदान सहित होते हैं। ये सब अपने समय के बलदेव के छोटे भाई होते हैं। दो वासुदेवों, प्रतिवासुदेवों का कभी मिलन नहीं होता है एवं एक काल में एक क्षेत्र में एक ही वासुदेव होते हैं।^{१८३}

१. त्रिपृष्ठ प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव—प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ पोदनपुर के राजा प्रजापति और उनकी रानी मृगावती के पुत्र थे।^{१८४} ये प्रथम बलदेव अचल के छोटे भाई थे। इनकी ऊँचाई ८० धनुष और आयु ८४ लाख वर्ष मानी गयी है।^{१८५} इन्होंने प्रतिवासुदेव और अलका के राजा अश्वग्रीव को युद्ध में मारा।^{१८६} त्रिपृष्ठ ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के समकालीन और अंतिम तीर्थंकर महावीर के पूर्वभव के जीव थे।^{१८७} त्रिपृष्ठ अपने पूर्वभव में वसुभूति थे और मथुरा उनकी निवास नगरी थी। एक गाय उनके निदान बाँधने का कारण उस भव में बनी थी।^{१८८} मृत्यु के पश्चात् ये सातवें नरक में गये।^{१८९}

२. द्विपृष्ठ प्रतिवासुदेव तारक—वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में दूसरे वासुदेव त्रिपृष्ठ हुए। ये दूसरे बलदेव विजय के छोटे भाई थे। इनके पिता द्वारावती के राजा ब्रह्म और माता रानी उमा थी।^{१९०} इन्होंने युद्ध में अपने प्रतिशत्रु विजयपुर के राजा तारक को चक्र से मारा।^{१९१} ये बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य के समकालीन थे।^{१९२} इनकी ऊँचाई ७० धनुष और आयु ७२ लाख वर्ष थी।^{१९३} पूर्वभव में ये कनकवस्तु के राजा 'पर्वत' थे। मृत्यु के पश्चात् ये छठे नरक में गये।

३. स्वयंभू-प्रतिशत्रु मेरक—वर्तमान अवसर्पिणी के तीसरे वासुदेव स्वयंभू तीसरे बलदेव भद्र के छोटे भाई थे। इनके पिता द्वारावती के राजा रुद्र और माता रानी पृथ्वी थी।^{१९४} इनकी ऊँचाई साठ धनुष तथा आयु साठ लाख वर्ष की थी।^{१९५} इन्होंने युद्ध में अपने प्रतिवासुदेव नन्दनपुर के राजा मेरक का चक्र से मारा।^{१९६} मृत्यु के पश्चात् ये छठे नरक में गये। स्वयंभू तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ के समकालीन थे। ये पूर्व जन्म में श्रावस्ती के राजा धनमित्र थे।^{१९७} समवायांग में इनके पिता का नाम सोम उल्लिखित है।

४. पुरुषोत्तम-प्रतिवासुदेव मधुकैटभ—भरत क्षेत्र में चौथे वासुदेव पुरुषोत्तम थे। ये चतुर्थ बलदेव सुप्रभ के भाई तथा द्वारावती के राजा सोम और रानी सीता की सन्तान थे।^{१९८} पुरुषोत्तम चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ के समकालीन थे।^{१९९} पृथ्वीपुर (हरिवंश पुराण के अनुसार वाराणसी) के तत्कालीन राजा प्रतिवासुदेव मधुकैटभ (मधुसूदन महापुराण के अनुसार) पुरुषोत्तम के हाथों मारा गया।^{२००} इनकी ऊँचाई ५० धनुष तथा कुल आयु ५० लाख वर्ष थी।^{२०१} पूर्वभव में पुरुषोत्तम पोदनपुर के राजा समुद्रदत्त थे और मरकर छठे नरक में गये।^{२०२}

५. पुरुषसिंह-प्रतिवासुदेव निशुम्भ—पुरुषसिंह पाँचवें वासुदेव थे। ये पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ के समकालीन थे।^{२०३} पाँचवें बलदेव सुदर्शन इनके बड़े भाई थे। पूर्वभव में पुरुषसिंह राजगृह में सेवाल नाम के थे।^{२०४} पुरुष सिंह की ऊँचाई ४५ धनुष और आयु १० लाख वर्ष थी।^{२०५} इन्होंने तत्कालीन वासुदेव हस्तिनापुर के राजा निशुम्भ को अपने चक्र से मारा।^{२०६}

६. पुरुषपुण्डरीक-प्रतिवासुदेव बलि—वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में उत्पन्न छोटे वासुदेव पुरुषपुण्डरीक थे। ये छोटे बलदेव आनन्द के छोटे भाई थे। चक्रपुर के राजा महासिंह और उनकी रानी लच्छीमती इनके पिता-माता थे।^{२०७} पूर्वभव में पुरुषपुण्डरीक काकन्दी नगरी में प्रियमित्र नामकर्म वाले थे।^{२०८} इनकी ऊँचाई २९ धनुष प्रमाण और आयु ६५ हजार वर्ष की थी।^{२०९} इन्होंने युद्ध में अपने भाई आनन्द के साथ मिलकर सूर्यपुर के राजा प्रतिवासुदेव बलि को चक्र से मारा।^{२१०} मृत्योपरान्त प्रतिवासुदेव बलि और वासुदेव पुरुषपुण्डरीक दोनों छोटे नरक में गये।^{२११} ये अठाहरवें तीर्थकर अरनाथ और उन्नीसवें मल्लीनाथ के मध्य के कालखण्ड में उत्पन्न हुए थे।^{२१२} बलि का उल्लेख पुराणों में भी मिलता है जिन्हें विष्णु ने अपने वामन अवतार में पाताल लोक भेज दिया था।

७. दत्त-प्रतिवासुदेव हिरण्य—भरत क्षेत्र के सातवें वासुदेव दत्त थे।^{२१३} दत्त आठवें चक्रवर्ती सुभौम और छोटे वासुदेव पुरुषपुण्डरीक एवं उन्नीसवें तीर्थकर मल्लीनाथ के मध्यवर्ती कालखण्ड में हुए थे।^{२१४} दत्त सातवें बलदेव नन्दन के छोटे भाई थे। दत्त वाराणसी (पद्मपुराण के अनुसार मिथिला, २०/२२७) के राजा अग्निसिंह और उनकी रानी शेषवती की सन्तान थे।^{२१५} इनके पूर्वभव का नाम ललितमित्र और नगर कौशाम्बी था।^{२१६} इनकी ऊँचाई २६ धनुष और कुल आयु ५६ हजार वर्ष थी।^{२१७} तिलोयपण्णत्ति^{२१८} के अनुसार इनकी कुल आयु ३२००० हजार वर्ष और समवायांग^{२१९} के अनुसार इनकी ऊँचाई ३५ धनुष बतलायी गयी है। इन्होंने युद्ध में तत्कालीन प्रतिवासुदेव प्रहरण^{२२०}, (तित्थोगाली^{२२१} के अनुसार हिरण्य) को चक्र से मारा। मृत्योपरान्त वासुदेव और प्रतिवासुदेव दोनों ही पाँचवें नरक में उत्पन्न हुए।^{२२२}

८. नारायण-प्रतिवासुदेव रावण—वर्तमान अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र के आठवें वासुदेव नारायण कहे गये हैं। इनका दूसरा नाम लक्ष्मण है।^{२२३} इनका समय बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत और इक्कीसवें तीर्थकर नमि के बीच का कालखण्ड है।^{२२४} वासुदेव नारायण अयोध्या के राजा दशरथ और उनकी रानी कैकयी की सन्तान थे।^{२२५} ये आठवें बलदेव पद्म (राम) के छोटे भाई थे। आवश्यक निर्युक्ति^{२२६} के अनुसार नारायण का जन्म राजगृह में हुआ था। इन्होंने प्रतिवासुदेव लंका के राजा रावण को अपने चक्र से मारा।^{२२७} इनकी ऊँचाई १६ धनुष और आयु बारह हजार वर्ष थी।^{२२८} ये कश्यप गोत्री थे। इनके पूर्वभव का नामक पुनर्वसु एवं नगर मिथिलापुरी था।^{२२९} मृत्यु के बाद वासुदेव और प्रतिवासुदेव दोनों चौथे नरक में गये।^{२३०}

नारायण या लक्ष्मण का उल्लेख वैदिक परम्परा के ग्रन्थ रामायण और अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। अपने बड़े भाई राम के साथ रावण से इनकी लड़ाई हुई थी। परन्तु रामायण के अनुसार रावण का वध राम ने किया था। इसके अनुसार राम विष्णु के सातवें अवतार थे और लक्ष्मण शेषनाग के अवतार थे। आयु और ऊँचाई को छोड़कर शेष सूचनाएँ दोनों परम्परा में समान हैं। लगता है कि रामायण की कथा की भारतीय तनमानस में गहरी पैठ के कारण ही श्रमण परम्परा में भी इनके पात्रों के अवान्तर चरित्र के साथ स्वीकार कर लिया गया।

९. कृष्ण-प्रतिवासुदेव जरासंध—इस अवसर्पिणी काल में अंतिम वासुदेव कृष्ण माने गये हैं। ये मथुरा के राजा वसुदेव और उनकी रानी देवकी के पुत्र थे।^{२३१} अंतिम बलदेव राम (बलराम) इनके बड़े भाई थे। कृष्ण जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत के आधे भाग के स्वामी थे। द्वारावती इनकी राजधानी थी, यद्यपि इनका जन्म मथुरा में हुआ। कृष्ण अपनी बहादुरी के लिए प्रसिद्ध थे। इन्होंने मथुरा के राजा कंस और कंस के श्वसुर और तत्कालीन प्रतिवासुदेव राजगृह के राजा जरासंध का वध किया।^{२३२} कृष्ण महारथ के नाम से भी जाने जाते हैं।^{२३३} कृष्ण दयालु राजा थे।^{२३४} इनके अधीन समुद्रविजय आदि दस अतिसम्मानित राजा, बलदेव आदि पाँच महावीर तथा सम्ब आदि साठ हजार योद्धा थे। इनकी सोलह हजार पत्नियाँ मानी गयी हैं। इनमें से आठ प्रमुख थीं। ये हैं— पद्मावती, गौरी, गांधारी, लक्षणा, सुसीमा, जम्बावती, सत्यभामा और रुक्मिणी। रुक्मिणी इनमें भी प्रमुख थीं। गजसुकुमाल इनके सहोदर भाई थे।^{२३५} अमरकंका के राजा पद्मनाभ द्वारा पाँचों पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी का अपहरण कर लिये जाने पर उसे वापस लाने को कृष्ण अमरकंका गये और पद्मनाभ को पराजित कर द्रौपदी को वापस लाया।^{२३६} अमरकंका धातकीखण्ड का एक क्षेत्र है। अमरकंका से लौटते समय पाण्डवों ने मजाक में गंगा नदी के नाव को छुपा दिया। कृष्ण तैरकर गंगा पार कर गये। यह मजाक पता चलने पर कृष्ण पाण्डवों से काफी नाराज हुए और उन्होंने पाँचों पाण्डवों को राज्य से निष्कसित कर दिया।^{२३७} बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि ने कृष्ण के समक्ष ही द्वारावती के विनाश, कृष्ण की मृत्यु का समय, स्थान और मृत्यु का कारण, अगला भव बालुकाप्रभा नामक तृतीय पृथ्वी तथा उसके बाद अमम (पुंड) की राजधानी शतद्वार में कृष्ण का जन्म वं आगामी उत्सर्पिणी काल में उनके बारहवें तीर्थकर (समवायांग, समवाय १५९ के अनुसार तेरहवें तीर्थकर) होने की भविष्यवाणी की।^{२३८} कृष्ण की ऊँचाई १० धनुष और आयु एक हजार वर्ष की थी।^{२३९} पूर्वभव में ये हस्तिनापुर में गंगदत्त नामकर्म वाले थे।^{२४०} इनका दूसरा नाम वासुदेव भी है।^{२४१} आगामी उत्सर्पिणी काल में कृष्ण बारहवें तीर्थकर होंगे और वर्तमान काल के शेष वासुदेव तीर्थ में मोक्ष प्राप्त करेंगे।^{२४२}

कृष्ण की उपर्युक्त कथा भी वैदिक परम्परा में उपलब्ध कथा से मिलती-जुलती है। इसमें मात्र जैन मान्यतानुसार परिवर्तन कर दिया गया है। प्रचलित कथा के अनुसार जरासन्ध को कृष्ण ने नहीं भीम ने मारा था और कृष्ण विष्णु के आठवें अवतार थे।

इन सभी बलदेवों का बलदेवों से, वासुदेवों का वासुदेवों से और प्रतिवासुदेवों का किसी अन्य प्रतिवासुदेव से कभी मिलन नहीं होता। आश्चर्यजनक दस घटनाओं में से एक अपवादरूप में कृष्ण वासुदेव का धातकी खण्ड स्थित अमरकंका गमन का उल्लेख है, जहाँ धातकी खण्ड स्थित वासुदेव के ध्वज एवं शंखध्वनि की आवाज का साक्षात्कार दोनों वासुदेवों को हो पाया। सभी प्रतिवासुदेवों की ऊँचाई, आयु, मृत्योपरांत गति आदि सब तत्कालीन वासुदेव के समान ही होती है।

बलदेवों-वासुदेवों का वैभव—तित्थोगाली प्रकीर्णक में प्रथम बलदेव-वासुदेव अचल और त्रिपृष्ठ के वैभव का वर्णन विस्तार से इस प्रकार किया गया है।

अचल और त्रिपृष्ठ दोनों ने युद्ध में अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव को मारकर दक्षिण भरत के समस्त दक्षिणी भाग को जीत लिया। रत्न वैभव के उत्पन्न होने पर कोटि शिला (एक जैन तीर्थ) पर अपनी सेना को सजाकर उन्होंने अर्धभरत क्षेत्र का राज्य प्राप्त किया। उनके वैभवों में सुदर्शन नामक चक्र, पाञ्चजन्य नामक शंख, नन्दन तलवार, विचित्र रत्नों से शोभित रमणीय वैजयन्ती माला, जो वर्षाकाल में उदित इन्द्र-धनुष सदृश है तथा त्रिपृष्ठ के पास कौस्तुभ मणि तथा उत्तम रत्नों का खजाना है। बलदेवों के पास विशेष शेषनाग के फन के समान हल और युद्ध में योद्धाओं के जीवन का हरण करने वाला परसु है। सौनन्द नामक तलवार, वज्र के समान मूसल, कुबेर सदृश धन और अत्यन्त कोमल फूलों का उपवन हैं।^{२४३} इसी प्रकार अचल के पास देवताओं से रक्षित श्रेष्ठ रत्न प्राप्त होते हैं। अचल के अधीन सोलह हजार राजा, बयालीस लाख घोड़े-रथ-हाथी, अड़तालीस करोड़ पदाति सेना, आठ हजार देवताओं का समूह, पचास विद्याधर नगर तथा मध्यलोक के भवनपति देव, अनेकों ग्राम-नगर-मुहल्लों का समूह है। वह समस्त दक्षिण भरतखण्ड को जीतकर उस पर राज्य करते हैं।^{२४४} त्रिपृष्ठ की बत्तीस हजार पत्नियाँ एवं अचल की आठ हजार पत्नियाँ हैं जिनमें धारिणी प्रमुख है।^{२४५} इनके ध्वज को धारण करने वाली वसन्तसेना आदि ११ हजार गणिकाएँ थीं।^{२४६} तित्थोगाली के अलावा अन्य ग्रन्थों में भी बलदेव-वासुदेव के वैभवों का वर्णन प्राप्त होता है।

महापुराण के अनुसार रामचन्द्र जी बलदेव के ८००० रानियाँ १६,००० देश, १६,००० अधीनस्थ राजा, ७८५० द्रोणमुख, २५,००० पत्तन, खटक, ४८ करोड़ गाँव, २८ दीप, ४२ लाख हाथी, ४२ लाख रथ, ७ करोड़ घोड़े, ४२ करोड़ पदाति सेना एवं ८००० गणबद्ध देवता थे। इनकी रिद्धियों में अपराजिता नामक 'हलायुध', अमोघ नाम का तीक्ष्ण बाण, कौमुदी नामकी गदा और रत्नावर्तसिका नामकी 'माला'-ये चार महारत्न थे। इन सब रत्नों की रक्षा एक-हजार देवगण किया करते थे।^{२४७}

अपरिमित कांति के धारक नारायण की पृथ्वी सुन्दरी सहित लक्ष्मी के समान मनोहर सोलह हजार पतिव्रता रानियाँ थीं। इसी प्रकार सुदर्शन नामक चक्र, कौमुदी गदा, सौनन्द खड्ग, अमोघमुखी शक्ति, शार्ङ्ग धनुष, महाध्वनि करनेवाला पाँच मुख का पाञ्चजन्य शंख और अपनी कांति के भार से शोभायमान कौस्तुभ नामकी महामणि-ये सात रत्न थे तथा एक-एक हजार देवगण उन सातों की रक्षा करते थे।^{२४८}

अचल-त्रिपृष्ठ और रामचन्द्र, नारायण के उपर्युक्त वैभव सभी बलदेवों-वासुदेवों के पास पृथक्-पृथक् समान रूप से होते हैं।

नारायण की दिग्विजय—तित्थोगाली में नारायणों की दिग्विजय का कोई वर्णन उपलब्ध नहीं होता है, पर महापुराण में एक नारायण 'लक्ष्मण' की दिग्विजय का वर्णन है—लंका को जीतकर लक्ष्मण के कोटिशिला उठायी और वहाँ स्थित सुनन्द नामक देव को वश में किया। तत्पश्चात् गंगा के किनारे-किनारे जाकर गंगा द्वार के निकट सागर में स्थित मागध देव को केवल बाण फेंककर वश में किया। तदनन्तर समुद्र के किनारे-किनारे जाकर जम्बूद्वीप के दक्षिण वैजयन्त द्वारा के निकट समुद्र में स्थित 'वरतनुदेव' को वश

११० : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

में किया। तत्पश्चात् पश्चिम की ओर प्रयाण करते हुए सिन्धु नदी के द्वार के निकटवर्ती समुद्र में स्थित प्रभास नामक देव को वश में किया। फिर सिन्धु के पश्चिम तटवर्ती म्लेच्छ राजाओं को जीता। इसके पश्चात् पूर्व दिशा की ओर चले। मार्ग में विजयाब्द की दक्षिण श्रेणी के ५० विद्याधर राजाओं को वश में किया। फिर गंगा तट के पूर्ववर्ती म्लेच्छों को जीतकर तीन खण्ड अर्ध भरत क्षेत्र का राजत्व प्राप्त किया। यह दिग्विजय ४२ वर्षों में पूर्ण हुई।^{१२४९} इस प्रकार वह दक्षिण दिशा के अर्धभरत क्षेत्र के समस्त तीन खण्ड के स्वामी बने।^{१२५०}

तित्थोगाली प्रकीर्णक में आगामी उत्सर्पिणी काल में उत्पन्न होने वाले वासुदेव-बलदेव-प्रतिवासुदेवों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। आगामी उत्सर्पिणी काल में दुषमा-सुषमा आरे में उत्पन्न होने वाले-वासुदेव-१. नंदी २. नंदीमित्र ३. सुन्दरबाहु ४. महाबाहु ५. अतिबल ६. महाबल ७. भद्र ८. द्विपृष्ठ और ९ त्रिपृष्ठ।^{१२५१}

बदलेव-१. कृष्ण २. जयन्त ३. भद्र ४. सुप्रभ ५. सुदर्शन ६. आनन्द ७. नंदन ८. पदम् और ९. संकर्षण है।^{१२५२}

प्रतिवासुदेव-१. तिलक २. जंघलौ (लौहजंघ) ३. वज्रजंघ ४. केसरी ५. पहराय ६. अपराजित ७. भीम ८. महाभीम और ९. सुग्रीव हैं।^{१२५३}

उपर्युक्त वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन शलाकापुरुषों से सम्बन्धित ग्रन्थों के रचनाकाल तक वैदिक परम्परा के संस्कृत ग्रन्थों में कुछ चरित्रों से सम्बन्धित कथानक जनमानस में अतिलोकप्रिय हो चुके थे जैसे-राम और कृष्ण की कथा। वहाँ इन्हें सर्वोच्च शक्ति विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। परन्तु जैन परम्परा में सर्वोच्च आध्यात्मिक और पूज्य व्यक्तित्व तीर्थकरों का था, जिनके कारण इन्हें सर्वोच्च स्थान पर नहीं रखा जा सकता था और लोक प्रचलित होने के कारण इनका समावेश भी अपनी परम्परा में करना था। क्योंकि भारतीय जनमानस में कथा चरित्रों के बिना इन स्थापनाओं की स्वीकृति में कठिनाई आ सकती थी। अतएव द्वितीय, तृतीय स्थान के शलाकापुरुषों में इनके कथानक को जैन अवधारणा के अनुरूप ढालकर समाहित कर लिया गया।

संदर्भ ग्रंथ

१. सम०, पृ०-२२५, स्था०-७/६२
२. वही, स्था०-१०/१४३, १४
३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र-२८, ४०
४. भगवती, ५/५/ पृ०-४६०, स्था०पृ०-५९३, तित्थो०-८८-८९
५. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति, पत्र-१३३
६. आव०नि०-१५५, सम०, स्था०-७/६२, तित्थो०-७५, पृ०-२२५
७. प्राकृत प्रोपर नेम्स, पृ०-१९३
८. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र-२८, ४०
९. सम०, पृ०-२२५
१०. स्थानांग, १०/१४३

११. स्था०-७/६१, सम०-२२५
१२. वही,
१३. तित्थोगाली गा०-१००५
१४. स्थानांग-१०/१४४
१५. समवायांग, पृ०-२३८
१६. तित्थो०-१००७-८
१७. वही, १००९-१३
१८. स्था, तित्थो०-२९९, ५७६, ७/६७-६८
१९. तित्थो०-२९७-३०१
२०. वही, ३०३
२१. स्था०-७/६७-६८
२२. आव०चूणि प्रथम-पृ०-२०८ तित्थो-२९५-९६
२३. प्रश्न व्याकरण-१/४, पृ०-११९, उत्तरा० वृत्ति (शीलांक) पत्र-३५०, तित्थो०-२९६
२४. प्रश्न०- १/४, पृ०-११९ आ०चूर्णि प्रथम, पृ०-२०८
२५. भगवती-१६/६/१९
२६. कल्पसूत्र०-१७-१८
२७. भगवती-१६/६/१९
२८. कल्पसूत्र०-१७-१८
२९. जम्बूद्वीप सूत्र-१७३
३०. सम०, पृ०-२३२, तित्थो०-५७०७१
३१. समवायांग, पृ०-२४०, तित्थो०-११२५-११२६
३२. तित्थो०-२८३, सम०१५८
३३. वही, २८४
३४. वही, ३६९
३५. सम०-७७, जम्बू०सूत्र-७०, आव०चूर्णि प्रथम, पृ०-१६०
३६. जम्बू०-६३, आव०चू० प्रथम, पृ०-१८१
३७. जम्बू०-४५, ४९, ५०-६२
३८. वही, ६३
३९. वही, ६४
४०. वही, ६७
४१. विशेषावश्यक भाष्य-१७१५-१७१९, आवश्यक निर्युक्ति-३४९, आवश्यक चूर्णि, पत्र-२०९-२१०
४२. स्था-५१९, सम०-१२९, ८३, जम्बू०-७०, विशेषा०-१७५३
४३. समवा०-८४, तित्थो०-८४, तित्थो०-३८०
४४. जम्बू०-७०
४५. वही
४६. प्रा०प्रो०-नेम्स, पृ-५२२
४७. आव०नि०-३९७-९, पृ०-२३२
४८. सम०, पृ०-२३३
४९. तित्थो-३८०
५०. आवश्यक चूर्णि, पत्र-२२७
५१. तित्थो-५७२
५२. पद्मपु० पर्व-२०/१३१-१३३, महा०-९१-१०१

११२ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

५३. तिलोय०-४/१४१०, त्रिलोकसार-८२४
५४. तित्थो०-३६९, ३८०
५५. आवश्यक निर्युक्ति-४१६
५६. सम०, पृ-२३२-२३३
५७. मरणसमाधि-४१०
५८. तित्थो०-३८०
५९. समवायांग सूत्र-६३५, ६५२,
६०. वही, सूत्र-६३६
६१. वही, सूत्र-६४१, ६४३
६२. आव०नि०-२७३-३०४
६३. तित्थो०-४५२, ४६१
६४. ५ समवायांग, पृ-२३२, २३३, तित्थो०-४८८
६५. सम०
६६. वही, सूत्र-६३६
६७. वही, समवाय-३५, सूत्र-२०३, तित्थो-३७०
६८. सम०, सूत्र-६४१, आव०नि०-२२५, तित्थो०-३९२
६९. सम०सूत्र-६४३
७०. वही ९५/४३१
७१. सम०, पृ०-२३२-२३३, तित्थो०-३३०, ४८१, ३७०
७२. आ०नि०-२२५, २३९
७३. तित्थो०-४६०, ४८९३
७४. आ०नि०-३०५
७५. तित्थो०-४८२
७६. तित्थो०-३७०-३८१
७७. आव०चूर्णि प्रथम, पत्र-५२०-२२, आचा० चूर्णि पत्र-४९, ५५
७८. त्रि०सा०-८२,
७९. तित्थो०-३७०, ३८१
८०. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-४, शलाकापुरुष-२
८१. तित्थो०-१८१५
८२. २०/१८४
८३. ६०/२८६-२८७
८४. गा०-५७१
८५. आव०नि०-३९६-४००, ४१९
८६. तित्थो०-५७१
८७. समवा, सूत्र-६५३
८८. तित्थो०-३७०
८९. तित्थो०-३८१, उत्तरा-१८, ४२, आ०नि०-४२०
९०. महापुराण-२०/१२४-१९३
९१. समवा०सूत्र-६५०, ६५१, आ०नि०-३९५
९२. महापु०-पूर्ववत्
९३. आ०नि०-४१९, तित्थो-५७४
९४. तित्थो०-३७०, ३८१

९५. आ०नि०-४००/१७
९६. तिलोयपण्णत्ति-४/१२९७-१४१०
९७. आ०नि०-४१९, तित्थो-५७४
९८. आ०नि०-३९८-४००
९९. तित्थो०-३७०
१००. उत्तरा०निर्युक्ति पत्र-३७९
१०१. तित्थो०-३८१
१०२. तित्थो०-५७५
१०३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, शलाकापुरुष-५
१०४. तिलोयपण्णत्ति-४/१३७१
१०५. वही,
१०६. वही ४/१४७३
१०७. महापुराण-१४६-१८९-पर्व
१०८. तिलोयपण्णत्ति-४/१३०३-१३६६, हरिवंश पुराण-११/१-५६, महापुराण २६/३९, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिवृत्ति पत्र-२१३-२६८
१०९. प्रश्नव्याकरण-१/४, पृ०-१२५
११०. आ०नि०-४०२
१११. प्रश्न० वही, आ०नि०-७१/७३
११२. कल्पसूत्र-१७-१८, पृ०-२३६, सूत्र-१५८
११३. भगवती सूत्र १६/६/१९
११४. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति पैरा-१७३
११५. समवायांग, पृ०-२३६, सूत्र-६५८, तित्थो०-५७८
११६. आ०नि०-४१४, ४१६, विशेषा०-१७६४, तित्थो०-६१४, ६१६
११७. प्रश्न व्या०, उपर्युक्त
११८. तित्थो०-६०२, ६०४, ६०६, ६०९
११९. वही, ३७१, ३८२
१२०. ४/५१७
१२१. समवायांग, पृ०-२३५, स्था०, पृ०-६६६, सूत्र-२०, तित्थो०-५८०
१२२. वही ६१२, ६४
१२३. तित्थो०-६०२, ६०४
१२४. वही, ६१३
१२५. वही, ३७१, ३८२
१२६. आ०नि० ४०३-४१४, वही, ६०६, ६०९
१२७. तिलोय ४/५१७
१२८. तित्थो०-५७८
१२९. वही, ६१३
१३०. वही, ६०२, ६०४
१३१. वही, ६०६, ६०९
१३२. तित्थो०-६०२, ६०४,
१३३. वही ६१२
१३४. वही, ३७१, ३८२
१३५. वही, ६०६, ६०९

११४ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

१३६. ४/५१७
१३७. वही, ६०२, ६०४
१३८. वही, ६०६, ६०९
१३९. वही, ३७१, ३८२
१४०. वही, ६१२
१४१. ४/५१७
१४२. तित्थो०-६०२, ६०२, ६०४
१४३. वही, ६१२
१४४. वही, ३७१, ३८२
१४५. वही, ६०६, ६०९
१४६. वही, ६०२, ६०४
१४७. वही, ३७१, ३८२
१४८. वही, ६०६, ६०९
१४९. वही, ३१२
१५०. वही, ३७१, ३८२, ६१६
१५१. तिलोयपन्नति-४/५१७, १४१८ त्रिलोकसार-८२७, ८३१
१५२. तित्थो०-५७८
१५३. ४/५१७ एवं आगे
१५४. आ०नि०-४१४, ४१६, तित्थो०-६१६
१५५. तित्थो०-६०२-६०४
१५६. प्रा०प्रो० नेम्स प्रि०-४१३
१५७. ३६/७५-८२
१५८. तित्थो०-३७१-३८२
१५९. प्रथम पृ०-१०४
१६०. महानिशीथ, पृ०१३०
१६१. ४/५१७
१६२. तित्थो०-६०६, ६०९
१६३. वही, ५७८
१६४. वही, ६१३
१६५. वही, ६०२, ६०४
१६६. मरण समाधि-४९७
१६७. तित्थो०-६०६, ६०९
१६८. वही, ३७१, ३८२, आव०नि०-४०३
१६९. वही, ४१४, तित्थो०-६१६
१७०. तित्थो०-६१७
१७१. ४/५१७
१७२. तित्थो०-५९८, प्रश्न-१/४, पृ०-१२३
१७३. उत्तरा०-११/२१, प्रश्न व्या०-१/४, पृ०-१२५
१७४. आ०नि०-४०२
१७५. प्रश्न०-१/४, पृ०-१२५
१७६. कल्प-१७-१८, विशेषा०-१८२८-२९
१७७. भगवती-४२८, ५७८

१७८. जम्बूद्वीप प्रज्ञ० सूत्र-१७३
 १७९. जम्बूद्वीप प्र० सूत्र-४०, सम०, पृ०-२३७, तित्थो०-६११
 १८०. तित्थो०-६१४
 १८१. विशेषा०-१७४६, प्रश्न०-१/४/पृ०-१२५
 १८२. तित्थो०-६१४, ६११ सम०, पृ०-२३७
 १८३. तिलोय०-४/१४३६
 १८४. वही, ६०२, ६०४
 १८५. वही, ३७१, ३८२
 १८६. सम०, पृ०-२३६, २३७, आ०चू० प्रथम, पृ०-२१६
 १८७. तित्थो०-४८२
 १८८. सम०, सूत्र-६६२/६२
 १८९. तित्थो०-६१५
 १९०. आ०नि०-४०८-११, तित्थो०-६०२-३
 १९१. सम०, पृ०-२३६, २३७
 १९२. तित्थो०-४८३
 १९३. वही, ३७१-३८२
 १९४. वही, ६०२, ६०३
 १९५. वही, ३७१, ३८२
 १९६. महा०-५९/८८, ८९
 १९७. तित्थो०-६१५, ४८४, ६०५, ६०८
 १९८. तित्थो०-६०२, ६०३
 १९९. वही, ४८५
 २००. महा०-६०/७०, ८३
 २०१. तित्थो०-३७१, ३८२
 २०२. वही, ६०५, ६०९, ६१५
 २०३. वही, ४८६
 २०४. वही, ६०५, ६०९
 २०५. वही, ३७१, ३८२
 २०६. समवायांग, पृ०-२३६, २३७, तित्थो०-६११
 २०७. तित्थो०-६०२, ६०३
 २०८. वही, ६०५, ६०९
 २०९. वही, ३७१, ३८२
 २१०. महा०-५९/१४
 २११. आ०नि०-४०३, ४१३, तित्थो०-६१५
 २१२. तित्थो०-४८७
 २१३. तित्थो०-५७७
 २१४. तित्थो०-४८८
 २१५. महापुराण सेर्ग-६६ श्लोक-१०६-७, तित्थो०-६०२, ६०३
 २१६. तित्थो०-६०५, ६०९
 २१७. तित्थो०-३७१, ३८२
 २१८. ४/१४२२
 २१९. समवाय-३५

११६ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

२२०. महा०-६६/१०९-११
२२१. गा०-६१०
२२२. तित्थो०-६१५
२२३. सम०सूत्र-६५८
२२४. तित्थो०-४८८
२२५. वही, ६०२, ६०३
२२६. ४०८ गाथा
२२७. पद्मपुराण, २०/२४२-४३, महापुराण-६८/११-१३
२२८. तित्थो०-३७१, ३८२
२२९. वही, ६०५, ६०९
२३०. वही, ६१५
२३१. वही, ६०२, ६०३
२३२. अन्तकृद्दशा-१
२३३. स्थानांग-४६९
२३४. अन्तकृद्दशा, अध्याय-६
२३५. वही, १-६
२३६. ज्ञाताधर्मकथा-१२४-६
२३७. वही, १२६-७
२३८. अन्त०, अध्याय-९, ज्ञाता०-५३
२३९. तित्थो०-३७१-३८२
२४०. वही, ६०५-६०९
२४१. उत्तराध्ययन-२२/८
२४२. तित्थो०-६१७
२४३. तित्थो०-५८१-५९०
२४४. वही, ५९१-९७
२४५. वही, ५९९
२४६. वही, ६००
२४७. महापुराण-६८/६६७-७४, तिलोय-४/१४३५
२४८. महा०-६८/६६६, ६७५-७७, तिलोय-४/१४३४
२४९. महा०-६४३-५५
२५०. वही, ६२४-२५
२५१. तित्थो०-११४७
२५२. वही, ११४८
२५३. ११५०

पंचम अध्याय

ऐतिहासिक काल गणना और तित्थोगाली

प्राचीन भारतीय साहित्य में कल्की का उल्लेख आम तौर पर पाया जाता है। पुराणों में कल्की की अवधारणा विष्णु के दसवें अवतार के रूप में प्रतिपादित की गयी है। यहाँ पर कल्की कलियुग के अन्त में म्लेच्छों का संहार कर पृथ्वी को पापियों से रहित करते हैं।

जैन साहित्य में कल्की नाम के राजा का उल्लेख जैन साधुओं पर अत्याचार करने के संदर्भ में प्रसिद्ध है। इसके और इसके पिता के विभिन्न नाम आगम में उपलब्ध होते हैं और इनके समय का भी कई विवरण प्राप्त होता है। पर यह सब वर्णन लगभग गुप्तवंश के पश्चात् ही प्राप्त होता है। इतिहास पर नजर डालने से पता चलता है कि भारत में गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद एक बर्बर जंगली जाति का राज्य हुआ, जिसका नाम 'हूण' था। ई. सन् ४३१-५४६ के १२५ वर्ष के कालखण्ड में एक के बाद एक-चार राजा हुए। ये सभी अत्यन्त अत्याचारी थे।

(क) कल्कि विवेचन

तित्थोगाली प्रकीर्णक में कल्की राजा के वर्णन के पूर्व पालक, मौर्य, पुष्पमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, नभसेन, गर्दभ और शकवंश के राज्यकाल का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें पालक का राज्यकाल साठ वर्ष, नंदों का शासन एक सौ पचपन वर्ष, मौर्यों का एक सौ साठ वर्ष, पुष्पमित्र का तीस वर्ष, बलमित्र-भानुमित्र का साठ वर्ष, नभसेन का चालीस वर्ष तथा गर्दभ का राज्यकाल एक सौ वर्ष का उल्लिखित है। गर्दभ के पश्चात् शक वंश का उल्लेख है।^१ अगली गाथा में कहा गया है कि भगवान महावीर के परिनिर्वाण के छह सौ पाँच माह के बाद शक राजा उत्पन्न हुआ।^२ पालक का राज्याभिषेक उसी रात्रि को हुआ जिस रात्रि को भगवान महावीर का परिनिर्वाण हुआ था।^३ इस तरह महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष पश्चात् शक राजा होना चाहिए, परतु उपरोक्त शासन काल का योग करने पर ५५३ वर्ष ही होता है। इस प्रकार तित्थोगाली की ही दो गाथाओं में शक राजा के सम्बन्ध में ५२ वर्ष ७ माह (६०५ वर्ष ५ माह ५५३ वर्ष) का अंतर होता है।

दूसरी ओर दिगम्बर आचार्य जिनसेन द्वारा दी गयी वंशावली में समय और क्रम में कुछ अंतर प्राप्त होता है। यह वंशावली इण्डियन एन्टीक्वेरी, वाल्यूम XLVI में प्रकाशित हुई थी।^४ इस वंशावली के अनुसार—

पालक का राज्य काल

— ६० वर्ष

११८ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

विजेता राजा	—	१५५ वर्ष
पुरुधा वंश या मुरुण्डा वंश		
(सम्पूर्ण देश पर शासन संभवतः मौर्य वंश)	—	४० वर्ष
पुष्यमित्र	—	३० वर्ष
वसुमित्र और अग्निमित्र	—	६० वर्ष
रासभ (गद्रभिल्ल वंश) राजा	—	१०० वर्ष
नहवाहन	—	४२ वर्ष
		कुल ४८७ वर्ष

इसी पत्रिका में प्रकाशित एक अन्य पट्टावली में उल्लिखित वंशावली में भी उपर्युक्त समय से अंतर प्राप्त होता है। इस पट्टावली के अनुसार^५

पालक का राज्य काल	—	६० वर्ष
नंदवंश (अवन्ती)	—	१५५ वर्ष
मौर्य वंश	—	१०८ वर्ष
पुष्यमित्र	—	३० वर्ष
बलमित्र-भानुमित्र	—	६० वर्ष
नहवाहन	—	४० वर्ष
गर्दीभिल्ल	—	१३ वर्ष
शक	—	४ वर्ष
विक्रमादित्य के राज्याभिषेक के पूर्व रिक्त समय	—	१८ वर्ष
		कुल-४८८ वर्ष

उपर्युक्त पट्टावली को डॉ. जायसवाल ने कहाँ से उद्धृत किया, इसका उल्लेख लेख में नहीं है। जहाँ तक प्रारम्भ में उन्होंने जिस प्राकृत गाथा का उल्लेख किया है वहाँ तित्थोगाली प्रकीर्णक का ही उद्धरण है।^६ परंतु तित्थोगाली में उपलब्ध वंशावली और समय का जो उल्लेख प्राप्त होता है, उससे डॉ. जायसवाल के उद्धरण का तालमेल नहीं है।^७ इसके अतिरिक्त तित्थोगाली में उपलब्ध मरुतों (मौर्यों) के शासन काल (१०८ वर्ष) से जिनसेन की वंशावली में प्राप्त मुरुण्ड (मौर्य) वंश का राज्यकाल (४० वर्ष) काफी कम है। इस प्रकार यह पट्टावली विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

मुनि कल्याण विजय जी ने अपने ग्रन्थ “वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना” में उपर्युक्त गाथा का अलग पाठ उद्धृत किया है। जहाँ पाठ इस प्रकार है—

“पालगरणो सट्ट, पुण पणसयं वियाणि नंदाणं ।
 मुरियाणं सट्टीसयं, पणतीसा पूसमित्ताणं ॥
 बलमित्त-भानुमित्ता, सट्टा चत्ताय होंति नहसेणे ।
 गद्दभ सयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया ।”

अर्थात् पालक के ६० वर्ष, नदों के १५० वर्ष, मौर्यों के १६० वर्ष, पुष्यमित्र के ३५

वर्ष, बलमित्र-भानुमित्र के ६० वर्ष नभःसेन के ४० वर्ष एवं गर्दभिल्लों के १०० वर्ष इस प्रकार कुल मिलाकर ६०५ वर्ष हो जाता है। इस पाठ को सही माना जा सकता है।^{१९}

दुष्टबुद्धि (कल्की) राजा की उत्पत्ति के क्रम में कहा गया है कि शकवंश के तेरह सौ तेईस वर्ष व्यतीत हो जाने पर कुसुमपुर (पटना) में दुष्टबुद्धि राजा का जन्म हुआ।^{२०} पट्टावलियों में शक राजा का राज्यकाल ४ वर्ष दिया हुआ है। इस प्रकार महावीर निर्वाण के (६०५+४+१३२३ = १८३२) वर्ष बीतने पर कल्की की उत्पत्ति उल्लिखित है। इसका दूसरा नाम चतुर्मुख भी है। परंतु यह एक कल्पना ही हो सकती है। जैन ग्रन्थों में तत्कालीन या पूर्ववर्ती घटना को भविष्यवाणी के तौर पर दर्शाया गया है। यदि कल्की की घटना को तित्थोगाली की पूर्ववर्ती घटना मानें तो यह कल्की के पुष्यमित्र होने के पक्ष में सबल तर्क है। मुनि कल्याण विजय जी ने भी पुष्यमित्र को ही कल्की राजा के रूप में स्वीकार किया है। कल्की राजा के अत्याचार एवं राज्य व्यवस्था आदि का वर्णन तित्थोगाली प्रकीर्णक^{२१} में निम्न रूप में प्राप्त होता है—'कल्की राजा के जन्म होने पर बलराम और कृष्ण की जन्म नगरी मथुरा में विष्णु के उत्थान (देवोत्थान की कार्तिक शुक्ला एकादशी) के दिन घोर धन-जन की हानि होगी और भवन भूमिसात् होंगे। उस समय बहुत प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ उत्पन्न होते हैं व्रत क्षीण होते हैं, चोरों के द्वारा जनपद को लूटा जाता है। इस समय ग्राम केवल अनुगमन करने लायक रहता है। यहाँ के मध्य देश में मनुष्य एवं पशु-पक्षियों की संख्या अत्यल्प रहेगी। इस काल में चोरों और राजकुल का भय व्याप्त रहेगा। अनावृष्टि तथा दुर्भिक्षों से लोगों में चिन्ता व्याप्त होगी। उस दुष्टबुद्धि (कल्की) के काल में राजद्रोह, भय आदि व्याप्त हो जाएगा। वह राजा पाटलिपुत्र में जन्म लेगा और वह अशिष्टता का पर्याय होगा तथा दूसरे राजाओं को तृण समान समझेगा। उस समय नगर में भ्रमण करते हुए वह पाँच स्तूपों को देखकर लोगों से इसके विषय में पूछेगा। लोग कहेंगे इस पाटलिपुत्र नगर में अत्यन्त धनवान, रूपवान और यशस्वी राजा नंद राज्य करता था। उसने लोगों से कर लेकर उस धन को यहाँ स्थापित किया है। उसके जैसा आजकल कोई पराक्रमी राजा नहीं हुआ। यह सुनकर वह चतुर्मुख उन स्तूपों को खुदवा डालेगा। इसके बाद दूसरे राजाओं को तृणवत् समझते हुए अहंकार में आकर वह पूरे नगर को चारों तरफ से खुदवा डालेगा। उस खुदाई में पत्थर की गाय के रूप में लोण देवी निकलेगी। वह गाय राजमार्ग पर आकर भिक्षा के लिए आते-जाते साधुओं को देखकर सुसुयाएगी और मारने दौड़ेगी। श्रमणों का भिक्षाटन असंभव हो जाएगा। तब महत्तर (साधुओं के प्रमुख आचार्य) कहेंगे—श्रमणो ! यह अनागत दोष की अग्रसूचना है। इसे भगवान वर्द्धमान स्वामी ने अपने दिव्य ज्ञान से पहले ही देख लिया था। साधुओं ! यह गौ वास्तव में अपनी हितचिन्तिका है। यह भावी संकट की सूचना दे रही है। इसलिए हमलोग यहाँ से चलें। हमलोगों को दूसरे देश में चले जाना चाहिए। गौ के उपसर्ग को जिन्होंने जिन-वचन से होने का प्रमाण माना वे पाटलिपुत्र छोड़कर अन्य देशों में चले गये। पर बहुत श्रमण नहीं गये—'हमें यथेच्छ भिक्षा मिल रही है, फिर हमें भागने की क्या जरूरत है?—यह बोलते हुए साधु वहीं रह गये। तब बाद में वह दुर्मुख और अधर्ममुख राजा चर्तुमुख (कल्की) उन साधुओं को इकट्ठा कर उनसे कर देने को कहेगा और न देने पर वह श्रमण स...

साधुओं को कैद करवा लेना । तब अन्य मतावलम्बी साधु अपने पास से परिग्रह किये हुए सोना चाँदी आदि कर रूप में देकर छूट जाएंगे । कल्की अन्य सब पाखण्डियों से बलपूर्वक उनका वेष उतरवा लेगा और अतीव तीव्र लोभ से अभिभूत होकर वह श्रमणों को भी घोर संताप देगा । तब साधुओं का मुखिया कहेगा—‘हे राजन ! हम अकिंचन हैं, हमारे पास क्या चीज है जो तुझे कर स्वरूप दी जाए ? इस पर भी कल्की उन्हें नहीं छोड़ेगा और श्रमण-संघ कई दिनों तक वैसे ही रोका हुआ रहेगा । तब नगर देवता आकर कहेगा—अये निर्दय राजन् ! तू श्रमण-संघ को परेशान करके क्यों मरने की जल्दी तैयारी करता है, जरा सबर कर । तेरी इस नीति का आखिरी परिणाम तैयार है । नगर देवता की इस धमकी से कल्की घबरा जाएगा और श्रमण-संघ के पैरों में गिरकर कहेगा हे भगवन् ! कोप देख लिया अब प्रसाद चाहता हूँ ।’ इस प्रकार कल्की का उत्पात मिट जाने पर भी अधिकतर साधु वहाँ रहना नहीं चाहेंगे, क्योंकि उन्हें मालूम हो जाएगा कि यहाँ पर निरन्तर घोर वृष्टि से जलप्रलय होनेवाला है ।

तब वहाँ नगर के नाश की सूचना करने वाले दिव्य अंतरिक्ष और भौम उत्पात होने शुरू होंगे, जिनसे साधु-साध्वियों को पीड़ा होगी । इन उत्पातों से और अतिशायी ज्ञान से यह जानकर कि—‘सांवत्सरिक पारणा के दिन भयंकर उपद्रव होनेवाला है’—साधु वहाँ बिहार कर चले जाएंगे । पर उपकरण, मकानों और श्रावकों का मोह रखनेवाले तथा भविष्य पर आश्वस्त साधु नहीं जाएंगे । तब सत्रह रात-दिन तक निरन्तर दृष्टि होगी, जिससे गंगा और शोण में बाढ़ आएगी । गंगा की बाढ़ और शोण के दुर्धर वेग से रमणीय पाटलिपुत्र नगर चारों ओर से बह जाएगा । साधु जो धीरे होंगे वे आलोचना प्रायश्चित्त करते हुए और जो श्रावक तथा वसति के मोह में फँसे हुए होंगे, वे सकरुण दृष्टि से देखते हुए मकानों के साथ ही गंगा के प्रवाह में बह जाएंगे । जल में बहते हुए वे कहेंगे—‘हे स्वामी सनत्कुमार! तू श्रमण संघ के शरण हो, यह वैयावृत्य करने का समय है ।’ इसी प्रकार साध्वियाँ भी सनतकुमार की सहायता माँगती हुई मकानों के साथ बह जाएंगी । इनमें कोई-कोई आचार्य और साधु-साध्वियाँ फलक आदि के सहारे तैरते हुए गंगा के दूसरे तट पर उतर जाएंगे । यही दशा नागरिकों की भी होगी । जिनको नाव फलक आदि की मदद मिलेगी, वे बच जाएंगे, बाकी मर जाएंगे । राजा का खजाना, आचार्य और कल्की राजा आदि किसी तरह बचेंगे । अन्य दर्शन के साधु भी इस प्रलय में बहकर मर जाएंगे । बहुत कम मनुष्य ही इस प्रलय में बच पाएंगे ।

इस प्रकार पाटलिपुत्र के वह जाने पर धन और कीर्ति का लोभी कल्की दूसरा नगर बसाएगा और बाग-बगीचे लगवाकर उसे देवनगर-तुल्य रमणीय बना देगा । फिर वहाँ देवमन्दिर बनेंगे और साधुओं का विहार शुरू होगा । अनुकूल वृष्टि होगी और अनाज वगैरह इतना उपजेगा कि उसे खरीदनेवाला नहीं मिलेगा । इस प्रकार ५० वर्ष सुभिक्ष से प्रजा अमन चैन में रहेगी ।

इसके बाद फिर कल्की उत्पात मचाएगा, पाखण्डियों के वेश छिनवा लेगा और श्रमणों पर भी अत्याचार करेगा । उस समय कल्प व्यवहारधारी तपस्वी युग प्रधान आचार्य,

पाडिवत तथा दूसरे साधु दुःख की निवृत्ति के लिए "छट्ट-अट्टम" का तप करेंगे। तब कुछ समय के बाद नगर देवता कल्की से कहेगा— अये निर्दयी! तू श्रमण संघ को तकलीफ देकर क्यों मरने की तैयारी कर रहा है? जरा सबर कर, तेरे पापों का घड़ा भर गया है।' नगर देवता की इस धमकी का कुछ भी परवाह न करता हुआ वह साधुओं से भिक्षा का षष्ठांश वसूल करने के लिए उन्हें बाड़े में कैद करेगा। साधुगण सहायतार्थ इन्द्र का ध्यान करेंगे तब अंबा और यक्ष कल्की को चेताएंगे, पर वह किसी की नहीं सुनेगा। अंत में संघ के कार्योत्सर्ग ध्यान के प्रभाव से इन्द्र का आसन काँपेगा और वह ज्ञान से संघ का उपसर्ग देखकर जल्दी वहाँ आएंगे। धर्म की बुद्धिवाला और अधर्म का विरोधी वह दक्षिण लोकपति (इन्द्र) जिन-प्रवचन के विरोधी कल्की का तत्काल नाश करेंगे।

उग्रकर्मा कल्की उग्र नीति से राज करके ८६ वर्ष की उमर में वीर निर्वाण में २००० वर्ष बीतने पर इन्द्र के हाथ से मृत्यु पाएगा। तब इन्द्र कल्की के पुत्र दत्त को हित शिक्षा दे श्रमण-संघ की पूजा करके अपने स्थान पर चले जाएँगे।

अन्य जैन ग्रन्थों में भी कल्की के जन्म काल से सम्बन्धित वर्णन प्राप्त होते हैं।— दीपालिका कल्प में जिनसुन्दर सूरि लिखते हैं—'निर्वाण से २००० वर्ष पूरे होंगे तब भाद्रपद शुदि ८ के दिन इन्द्र के चपेट प्रहार से ८६ वर्ष की आयु में मरकर कल्की नरक में जाएगा।' महानिशीय सूत्र में कल्की के सम्बन्ध में गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर का सार इस प्रकार है^{१२}—

गौतम—'भगवन्! श्रीप्रभ नामक अनगार किस समय होगा?'

महावीर—'हे गौतम! जिस वक्र निकृष्ट लक्षणवाला, अष्टद्रव्य, रौद्र, उग्र और क्रोधी प्रकृतिवाला, उग्र दंड देने वाला, मर्यादा और दयाहीन, अतिक्रूर और पाप बुद्धिवाला, अनार्य, मिथ्यादृष्टि ऐसा कल्की नाम का राजा होगा, जो पापी श्री श्रमणसंघ की भिक्षा और सत्ववंत, तपस्वी साधु होंगे उनकी ऐरावतगामी वज्रपाणि इन्द्र आकर सहायता करेगा। उस समय श्रीप्रभ नाम का अनगार होगा।'

तिलोयसार में कहा गया है—'वीर निर्वाण से ६०५ वर्ष ५ मास बीत जाने पर 'शक राजा' होगा और उसके बाद ३९५ वर्ष ७ मास में अर्थात् वीर निर्वाण के संवत् १००० में कल्की होगा।'

कल्की के अत्याचार और राज्य व्यवस्था के बारे में बौद्ध ग्रन्थों और पुराणों में भी वर्णन प्राप्त होता है। महायानिक बौद्ध के 'दिव्यावदान' ग्रन्थ के २९वें अवदान में लिखा है कि पुष्यधर्मा के पुत्र पुष्यमित्र ने अपने मंत्रियों से पूछा—ऐसा कौन उपाय है, जिससे हमारा नाम हो? मंत्रियों ने कहा—महाराज! आपके पहले राजा अशोक हुए, जिन्होंने ८४,००० धर्मराजिका स्थापित करके अपनी कीर्ति अचल की जो, जहाँ तक भगवान का शासन रहेगा, वहाँ तक रहेगी। आप भी ऐसा कीजिए ताकि आपका नाम अमर हो जाए। पुष्यमित्र ने कहा—राजा अशोक तो बड़ा था। हमारे लिए कोई दूसरा उपाय है? यह सुनकर उसके एक अश्रद्धावान ब्राह्मण ने कहा—देव! दो कारणों से नाम अमर होगा। राजा पुष्यमित्र चतुरंग सेना को सज्जित करके भगवच्छासन का नाश करने की बुद्धि से कुर्कुटाराम की ओर गया।

पर द्वार पर जाते ही घोर सिंहनाद हुआ, जिससे भयभीत होकर राजा वापस पाटलिपुत्र को चला आया। दूसरी और तीसरी बार भी वही बात हुई आखिर में राजा ने भिक्षु और संघ को अपने निकट बुलाकर कहा—“मैं बुद्ध शासन का नाश करूँगा। तुम क्या चाहते हो, स्तूप या संघाराम? भिक्षुओं ने (स्तूपों को?) ग्रहण किया। पुष्यमित्र संघाराम और भिक्षुओं का नाश करता हुआ शाकल तक पहुँच गया। उसने वह घोषणा कर दी कि जो मुझे श्रमण का मस्तक देगा, उसको मैं सोने की सौ मुहर दूँगा। बड़ी संख्या में सिर देना आरम्भ किया, सुनकर वह अर्हत (प्रतिमा?) का घात करने लगा। पर वहाँ उसका कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। सब प्रयत्न छोड़कर वह कोष्टक में गया। उस समय दंष्ट्राविनाशी यक्ष सोचता है कि यह भगवच्छासन का नाश हो रहा है, पर मैंने यह शिक्षा ग्रहण की हुई है कि ‘मैं किसी का अप्रिय नहीं करूँगा।’ उस यक्ष की पुत्री की कृमीसेन नाम यक्ष याचना करता था पर उसे पापी समझकर वह उसे अपनी पुत्री को नहीं देता था। पर उस समय उसने भगवच्छासन की रक्षा के निमित्त अपनी पुत्री कृमीसेन को दे दिया।

पुष्यमित्र को एक बड़े यक्ष की मदद थी, जिससे वह किसी से मारा नहीं जाता था। दंष्ट्राविनाशी यक्ष पुष्यमित्र के यक्ष को लेकर पहाड़ों में फिरने को चला गया। उधर कृमीसेन यक्ष ने एक बड़ा पहाड़ लाकर सेना सहित पुष्यमित्र को रोक लिया। उस (पुष्यमित्र) का नाम ‘मुनिहत’ पड़ा। जब पुष्यमित्र मारा गया तब उसके वंश का अंत हुआ।^{१३} बौद्धों के इस लेख से ज्ञात होता है कि धर्माध पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र से साकल (स्यालकोट पंजाब) तक के बौद्ध-विहारों का नाश कर दिया था और बौद्ध भिक्षुओं को मरवाया था।

कल्की के सम्बन्ध में पुराणों में इस प्रकार वर्णन है—‘जब कलियुग पूरा होने लगेगा तब धर्मरक्षण के लिए शंभल ग्राम के मुखिया विष्णुयश ब्राह्मण के यहाँ भगवान विष्णु कल्की रूप में अवतार लेंगे।^{१४}

‘कल्की देवदत्त नामक तेज घोड़े पर सवार होकर खड्ग से दुष्टों और राजवेश में रहते हुए सब लुटेरों का नाश करेंगे, जो म्लेच्छ हैं, जो अधार्मिक और पाखंडी हैं, वे सब कल्की के हाथों नष्ट किए जाएंगे। यद्यपि कल्पना पर आधारित होने के कारण पुराणों के साक्ष्य प्रामाणिक नहीं माने जा सकते हैं फिर भी इनमें ऐतिहासिकता के तथ्य खोजे जा सकते हैं।

ऊपर के जैन, बौद्ध और पौराणिक साक्ष्यों के आधार पर मुनि कल्याण विजय जी ने पुष्यमित्र को ही कल्की के रूप में चिह्नित किया है। इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि अन्तिम मौर्य राजा की हत्या कर उसका मंत्री पुष्यमित्र शुंग मगध की गद्दी पर बैठा। वह कट्टर ब्राह्मण था। हो सकता है इसी ने मौर्यों के तत्कालीन बौद्ध धर्म और पूर्व के जैन धर्म से सम्बन्धित प्रतीकों, स्तूपों एवं श्रमणों पर अत्याचार किया हो। इसलिए इसकी अधिक सम्भावना लगती है कि भारत में प्राचीन काल में इतिहास को व्यवस्थित रखने की गम्भीरता नहीं थी और इसलिए यह कालक्रम सम्बन्धी भूल हो गयी हो। बौद्ध धर्म की प्रगति को अवरूद्ध कर ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करने के कारण ही वह जैन-बौद्ध अनुयायियों में दुष्ट बुद्धि राजा के रूप में कुख्यात हुआ, तथा ब्राह्मण परम्परा में उसे विष्णु

का अवतार मान लिया गया ।

उपरोक्त साक्ष्यों की ऐतिहासिकता की दृष्टि से समालोचना करने पर कल्की विषयक वर्णन की कितनी सत्यता है, यह देखते हैं ।

पुराणकार प्रद्योतों के समय से ही धार्मिकता की अपेक्षा से राजाओं की शिकायत करते मालूम होते हैं । प्रद्योत के लिए तो वे स्पष्ट कहते हैं कि—‘वह सामंतों से पूजित होगा, धर्म से नहीं ।’ ‘‘स वै प्रणतसामन्तो भविष्यो न धर्मतः।^{१५}’’ शैशुनाग वंश के मगधराजाओं को भी पुराणकार ‘क्षत्रबंधु’ अर्थात् पतित क्षत्रिय कहते हैं ।^{१६} वायुपुराण में शिशुनागों के अतिरिक्त दूसरे राजाओं को भी पतित क्षत्रिय कहा गया है ।^{१७} शिशुनागों के बाद मगध पर नंदवंश का अधिकार हुआ। नंदों को पुराणकार शूद्रा का पुत्र कहते ही हैं, परन्तु इसके साथ ही वे भविष्य के राजाओं की जाति का भी खुलासा कर देते हैं कि ‘तब से शूद्र राजा होंगे’ ?

पुराणों के इन उल्लेखों का यदि कोई कारण हो सकता है, तो यही कि प्रद्योत, शिशुनाग, नंद और मौर्यों के समय में ब्राह्मणों को राज्याश्रय नहीं मिलता था । प्रद्योत और शिशुनाग राजा जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और लगभग यही बात नंद और मौर्यों के सम्बन्ध में भी थी । इस कारण से ब्राह्मण साम्राज्य कमजोर हो चला था । ठीक इसी समय में पुष्यमित्र शुंग ने मगध की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया और चिरकाल से राज्याश्रय से वंचित वैदिक धर्म की उन्नति करने के लिए उसने अपनी राजशक्ति का यथाशक्य प्रयोग किया । बौद्धों के मठ-मन्दिर को तोड़े । बौद्ध, जैन और अन्यधर्मी साधुओं के वेष छीन कर उन्हें ब्राह्मण धर्म में जोड़ा । जिन्होंने नहीं माना, उनके सिर उड़ाए और अश्वमेधादि यज्ञ करके कुछ समय से विस्मृत हुई वैदिक क्रियाओं का पुनरुद्धार किया ।

पुष्यमित्र के उक्त कामों ने ब्राह्मण समाज को संतुष्ट कर दिया । इतना ही नहीं, बल्कि उनके मन में ऐसी भावना का बीज बो दिया जो आगे चलकर अवतार की कल्पना के रूप में प्रकट हुआ । सचमुच ही कल्की का वर्णन एक सत्य घटना का कल्पना-मिश्र इतिहास है । जैन वर्णनों में तो कतिपय बातें प्रकटतया इस घटना की ऐतिहासिकता के प्रमाण हैं ।

गंगा और शोण की बाढ़ों से पाटलिपुत्र के बह जाने की बात सत्य घटना हो सकती है । चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज की पुस्तक ‘दी इंडिका’ में दिए हुए पाटलिपुत्र के वर्णन और वर्तमान समय में उसके कथनानुसार पाटलिपुत्र के प्राचीन अवशेषों के मिलने से यही अनुमान होता है कि मेगास्थनीज वर्णित पाटलिपुत्र किसी विशेष घटना के परिणामस्वरूप भूमिशाया हो गया था, जो खोदने पर अब प्रकट हो रहा है । अनुमान है कि चन्द्रगुप्त के पाटलिपुत्र को नष्ट करने वाली यदि कोई घटना हो सकती है तो वह कल्की के समय में होने वाला जल-प्रलय ही है ।

कल्की सम्बन्धी जैन वर्णनों में ध्यान खींचने वाली दूसरी बात यह है कि कल्की नंद द्वारा स्थापित स्तूपों को देखता है और उसके लोग नंद की समृद्धि का उसके सामने बयान करते हैं ।^{१८} इससे हमें यह मान लेने में कुछ भी अनुचित नहीं है कि कल्कि वाली घटना

नंदों के पीछे परन्तु उसकी बनवायी स्तूपों की मौजूदगी में हो गयी थी। यह घटना-काल यदि वीर निर्वाण से ३७५ वर्ष पीछे मान लिया जाए तो वह समय पुष्यमित्र का हो सकता है।

पुराणों में स्पष्ट उल्लेख है कि कल्की पाखंडियों का (अन्य दार्शनिक साधुओं) का नाश करेगा। जैन ग्रन्थों में भी उल्लेख है कि कल्की जबरदस्ती साधुओं के वेष छिनेगा और उनको पीड़ा देगा एवं बौद्ध भी यही पुकारते हैं कि पुष्यमित्र ने बौद्ध धर्म को नष्ट करने का संकल्प करके बौद्ध मठों और भिक्षुओं का नाश किया। इन तीनों मतों के भिन्न-भिन्न परन्तु एक ही विषय-वस्तु का प्रतिपादन करने वाले वर्णनों को देखकर यही कहा जा सकता है कि पौराणिकों का 'कल्की अवतार' जैनों का 'कल्की राजा' और बौद्धों का 'पुष्यमित्र' ये तीनों एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब पौराणिक और जैन ग्रन्थकारों का वर्णन भी पुष्यमित्र को ही लक्ष्य कर रहा है तो वह पुष्यमित्र के ही नाम से क्यों न किया गया? अथवा क्या कल्की और पुष्यमित्र शब्द एकार्थिक है? उत्तर यह है कि 'कल्की' और 'पुष्यमित्र' शब्द एकार्थिक तो नहीं है, पर 'कल्की' नाम पुष्य मित्र का विशेषण हो सकता है। दोनों सम्प्रदाय वाले कल्की का वाहन घोड़ा बताते हैं। पौराणिक उसे 'देवदत्त' और 'आशुग' कहते हैं। जिनसुन्दर सूरि आदि जैन लेखक कल्की के घोड़े को 'अदंत तुरग' कहते हैं। सम्भव है कल्की का यह घोड़ा 'कर्क' (श्वेत) होगा (सिता कर्कों, रथ्यो वोढा रथस्य यः-अमरकोष, २ कांड, क्षत्रिय वर्ग-८) और कर्क वाहन से उसका सवार कर्की कहलाता होगा। कर्की को प्राकृत में 'कक्की' लिखा होगा, और बाद में 'कक्की' का संस्कृत भाषा में 'कल्की' हो गया होगा। इस प्रकार धीरे-धीरे विशेष नाम 'पुष्यमित्र' का स्थान 'कर्की' अथवा 'कल्की' ने ले लिया हो तो कुछ आश्चर्य नहीं है।

खारवेल के हाथीगुंफा अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने दो बार मगध पर चढ़ाई की थी। कल्की भी दो बार धार्मिक विप्लव मचाता है और साधुओं को सताता है। कहने की जरूरत नहीं है कि पुष्यमित्र जैन धर्म का परम विरोधी था और खारवेल परम पोषक इसलिए कल्की-पुष्यमित्र के दोनों उत्पातों के समय खारवेल ने मगध पर चढ़ाई करके जैन श्रमणों का रक्षण किया था। जैन लेखकों का यह कथन कि 'दक्षिण लोक के स्वामी इन्द्र ने आकर कल्की को सजा दी, खारवेल की ओर ही संकेत करता है। उस समय खारवेल जैन शासन में देव की योग्यता प्राप्त कर चुका था। हाथीगुंफा के अभिलेख से ज्ञात होता है 'महामेघवाहन' यह खारवेल की उपाधि थी। 'महामेघवाहन' और 'महेन्द्र' पर्यायवाची शब्द ही हैं। लेखकों ने इन्द्र को 'दक्षिण लोकाधिपति' ऐसा विशेषण दिया है, वह भी खारवेल पर ही बैठता है। क्योंकि, मगध की अपेक्षा कलिंग दक्षिण दिशा में होने से खारवेल दक्षिण लोक का स्वामी कहा जाता होगा। कल्की को सजा देने वाले इन्द्र को ऐरावतगामी कहा गया है और खारवेल भी हाथी सेनाके साथ मगध पर चढ़ाई करके आया था, ऐसा उसके लेख से ज्ञात होता है। कल्की के समय में मथुरा में बलदेव और कृष्ण के मन्दिर टूटने का, 'तित्थोगाली' में उल्लेख मिलता है, खारवेल ने भी मथुरा पर चढ़ाई करके उत्तरापथ के राजाओं को भयभीत किया था, यह बात हाथीगुंफा के लेख से ज्ञात होती है।

इन सादृश्यों से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जैनों का 'कल्की' वास्तव में पुष्यमित्र था, जिसने जैन श्रमणों की तकलीफ दी थी और उसको सजा देने के लिए आने वाला 'इन्द्र' कलिंग नरेश 'खारवेल श्री' ही था।

तित्थोगाली आदि ग्रन्थों में 'पाडिवय' आचार्य को कल्की का समकालीन लिखा है, तथा महानिशीथ में 'श्रीप्रभ' अनगार को कल्की के समय का प्रमुख स्थविर बताया है। दूसरी ओर व्यवहार सूत्र के छठे उद्देशक की चूर्णि में निम्नलिखित पाठ उपलब्ध है—“मुड्डिवंतो आयरितो सुहज्जाणो तस्स पुसमित्तेणं ज्ञाण विग्घं कतं।” अर्थात् मुड्डिवंत नाम के शुभध्यानी आचार्य थे। उनके ध्यान को पुष्यमित्र को ने भंग किया। यदि मुड्डिवंत आचार्य को तित्थोगालीवाला 'पाडिवय' आचार्य मान लिया जाए और 'पुष्यमित्र' को पाटलिपुत्र का राजा माना जाए तो पूर्वोक्त मान्यता सिद्ध हो सकती है। दूसरी संभावना यह है कि 'श्रीप्रभ' 'मुड्डिवंत' और 'पाडिवय' ये तीनों ही भिन्न-भिन्न स्थविर रहे होंगे, जिनको कल्की-पुष्यमित्र ने सताया होगा।^{१९}

फिर यहाँ तित्थोगाली में उपलब्ध विवरण के बारे में स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। जिसमें वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् शकों का राज्य तथा शकों के १३२३ वर्ष पश्चात् कल्की के राज्य का वर्णन किया गया है।^{२०} इसके बारे में यही कहा जा सकता है कि प्रस्तुत गाथा प्रामाणिक नहीं है क्योंकि यह किसी एक ही स्थान के राजाओं की वंशावली नहीं है, किन्तु अनेक राजाओं के राजत्व काल का सम्मिश्रण है। प्रस्तुत विवरण में पुष्यमित्र का उल्लेख वीर निर्वाण के ३७० वर्ष पश्चात् ही है। तित्थोगाली की रचना ईसा के ५वीं सदी के आसपास सिद्ध होती है जो वीर निर्वाण के लगभग ९०० वर्ष बाद आता है। जबकि इसमें कल्की का उल्लेख वीर निर्वाण के १९२८ वर्ष आता है। इससे अनुमान होता है कि पुष्यमित्र द्वारा जैनों-बौद्धों के उत्पीड़न के इतिहास को स्मरण कर जैन लेखकों ने इसके भविष्य में होने की कल्पना कर डाली। इसका भी एक कारण यह हो सकता है कि पंचम दुषमा के अन्त में दुराचार की पराकाष्ठा को चित्रित करना आवश्यक था। कल्की की कल्पना यहाँ से जाने से यह शर्त पूरी हो जाती थी।

जहाँ तक तित्थोगाली में ८ वंशों का उल्लेख है। वे सत्य हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस पद्धति में अन्यान्य स्थानीय राजाओं का राजस्व काल जोड़ा हुआ है। इस कारण इस परम्परा को 'राज्यवंशावली' अथवा 'राज्य पट्टावली' न कहकर 'राजत्वकालगणना' कहा जा सकता है।

जिस रात में भगवान महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात (या दिन) अवन्ति में पालक का राज्याभिषेक हुआ।^{२१} पालक वंश के राज्य-काल के साठ वर्ष पूरा होते ही उदायी का मरण हुआ। इसके साथ ही मगध के प्रख्यात शिशुनाग वंश का अंत हुआ। मगध के सिंहासन पर नंद का राज्याभिषेक हुआ और नौ पीढ़ी तक नंद के वंशजों ने १५० वर्ष पर्यन्त मगध का साम्राज्य भोगा। वीर निर्वाण के २१० वर्ष पूरे हुए ही थे कि चाणक्य ने अंतिम नंद पदच्युत करके चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का सम्राट बना दिया। मगध और आसपास के प्रदेशों में विचरते हुए जैनाचार्य इस मौर्य साम्राज्य काल को स्मरण रखते गये और मौर्य

काल के १६० वर्षों से अपनी गणना करते हुए वीर निर्वाण के ३७० वर्ष तक आ पहुँचे ।

अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मारकर उसके सेनानी पुष्यमित्र ने मगध की राज्यधुरा अपने कंधे पर ले ली । पुष्यमित्र केवल वैदिक धर्मानुयायी ही नहीं, बल्कि अपने इष्ट धर्म की वृद्धि के लिए अन्य धर्म-नाशक धर्मांध राजा था । नंद और मौर्य वंश के राजाओं की तरह अपने मान्य धर्म के पोषण के साथ-साथ अन्य धर्मों का उचित सत्कार करने की जगह उनका विनाश करना ही इसने ठीक समझा । अशोक और संप्रति सरीखे राजाओं की छत्रछाया में फूले-फले बौद्ध और जैन धर्मारामों के लिए पुष्यमित्र प्रचण्ड दावानल साबित हुआ । नंदकालीन कीमती जैन-स्तूपों और बौद्ध संघारामों का नाश कर हजारों बौद्ध भिक्षुओं और जैन निर्ग्रन्थ के वेश इसने जबरदस्ती उतरवा लिये ।^{२२} इसकी पुष्टि के लिए जैन-बौद्ध और वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त उद्धरणों पर ऊहापोह इसके पूर्व ही विस्तार से किया गया है । पुष्यमित्र की इस धर्मांधता के कारण कलिंग सम्राट खारवेल को दो बार मगध पर चढ़ाई करनी पड़ी । पहली चढ़ाई उसने मथुरा से लौटकर की । पुष्यमित्र को योग्य शिक्षा देकर वह लौट गया । मगध की इस पहली चढ़ाई के विषय में खारवेल के हाथीगुंफावाले लेख में इस प्रकार उल्लेख है—‘अठमे च बसे महता सेना....गोरधगिरिं घातापयिता राजगहं उपपीडापयति (१) एतिनं च कंमापदान-संनादेन सवित-सेनवाहनो विपमुंचितु मधुरं अपयातो यवनराज डिमित..... अर्थात् (अपने शासन के) आठवें वर्ष खारवेल बड़ी सेना के साथ मगध पर चढ़ गया और गोरधगिरि नाम किले को तोड़कर राजगृह को घेर लिया । इस हाल को सुनकर यवनराज डिमित मथुरा को छोड़कर अपनी सेना के साथ पीछे हट गया । पर मुनि कल्याण विजय जी इस लेखांश को इस प्रकार पढ़ते हैं—‘अठमे च बसे मोरियं राजानं धमगुतं धातापेति पुशमितो घातापयिता राजगहं उपपीडापयति एतिना व कंमपदान-पनादेन संवीतसेनवाहिनिं विपमुंचिता मधुरं अपयातो येव बहसदि मितं ।’ अर्थात् “राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में मौर्यराजा धर्मगुप्त को मरवा कर पुष्यमित्र राजगृह में आतंक मचा रहा है, यह बात सुनकर सेना से घिरी हुई मथुरा को छोड़कर (खारवेल) बृहस्पति मित्र को (शिक्षा देने के लिए राजगृह पर चढ़ आया) ” इसमें जो मौर्य राजा का नाम धर्मगुप्त है वह मौर्यराज बृहद्रथ का नामांतर हो सकता है और ‘बृहस्पति मित्र’ यह ‘पुष्यमित्र’ का नामांतर है, यह बात विद्वानों की मानी हुई है ।^{२३}

पुष्यमित्र के चार वर्ष बाद दुबारा पाटलिपुत्र में धार्मिक विप्लव मचाया । वह साधुओं से कर वसूल करने और कर देने से इनकार करनेवाले साधुओं को कैद करके भूखों मारने लगा । जैन संघ ने किसी तरह इस उत्पाद के समाचार खारवेल को कलिंग पहुँचाए । तब खारवेल पुनः पुष्यमित्र पर चढ़ आया और अपार हस्तिसेना से कलिंग राजा ने पाटलिपुत्र को घेर लिया । पुष्यमित्र विवश हो खारवेल से सन्धि करने को तैयार हुआ । खारवेल ने इस जैन-द्वेषी राजा को चरणों में वंदन करवा कर बहुसंख्य धन रत्न लेकर छोड़ दिया और पुनः ऐसा उत्पात होने पर पदच्युत करने की धमकी देकर नंदों के द्वारा लायी हुई जिन-मूर्तियों को लेकर वह अपने देश लौट गया ।^{२४} खारवेल की इस दूसरी चढ़ाई के सम्बन्ध में हाथी गुंफा वाले लेख में इस प्रकार उल्लेख है—“वारसमे च वसे.....सहसे छि

वितासयति उत्तरापथ राजानो.....मगधानं च विपुलं भयं जनेतो हत्थी सुगंगीय पाययति (१) मागधं च राजानं बहसदिमितं पादे वंदापयति नंदराजनीतं कलिंगजिनं सनिवेसं.....गहरतनान पडिहारे हि अंगमागधवसु च नेयाति (१)'' अर्थात् बारहवें वर्ष मेंउत्तरापथ के हजारों राजाओं को भयभीत किया और मगधवासियों को भयभीत करता हुआ वह अपने हाथी को सुगांगेय (प्रासाद) तक ले गया और मगधराज बृहस्पतिमित्र को पैरों में गिराया, तथा राजा नंद द्वारा ले जायी गयी कलिंग की जिन मूर्तियों कोऔर गृहरत्नों को लेकर प्रतिहारों द्वारा अंग-मगध की सम्पत्ति ले आया।^{२५}

जैन ग्रन्थों से और पौराणिक उल्लेखों से पता चलता है कि पुष्यमित्र ने मगध पर ३५-३६ वर्ष तक राज्य किया। यदि खारवेल का प्रथम आक्रमण उसके शासन के पहले वर्ष में हुआ तो दूसरा आक्रमण पुष्यमित्र के शासन के चौथे वर्ष में हुआ। इस प्रकार दूसरे आक्रमण के बाद भी पुष्यमित्र ३० वर्ष तक राज्य करता रहा। इस बीच खारवेल की मृत्यु (शायद) हो गयी। क्योंकि हाथीगुंफा अभिलेख में उसके १३ वर्ष के शासन के बाद का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे विद्वानों का यह अनुमान है कि इसके बाद खारवेल जीवित नहीं रहा। इसके बाद पुष्यमित्र पुनः निरंकुश होकर जैनों-बौद्धों पर अत्याचार करने लगा। परिणामस्वरूप हजारों जैन साधु मगध की अतिपरिचित भूमि का परित्याग करके चारों ओर विचरने लगे। इससे जैनों का सम्बन्ध मगध के राजवंश के साथ कम होने लगा। मौर्य सम्प्रति के समय में मध्य और पश्चिम भारत में जैन-श्रमणों का जमाव होने लगा था। इस घटना के बाद मगध के साधु भी वही जाने लगे। परन्तु पुष्यमित्र के ३५ वर्षों के राज्यकाल को ये साधु भूले नहीं थे। सम्भवतः मगध पर पुष्यमित्र के शासन का अन्तिम वर्ष ही था कि उधर लाट देश की राजधानी भरुकक्ष (भरौंच) में बलमित्र का राज्याभिषेक हुआ। इधर जैनाचार्यों ने मगध में पुष्यमित्र के शासन के ३५ वर्षों की गणना को अपनी शृंखला में शामिल कर आगे बलमित्र के राज्यकाल को शामिल कर लिया।

बलमित्र-भानुमित्र के शासन काल के ४७वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गयी। वहाँ के गर्दभिल्लवंशीय राजा दर्पण ने कालकसूरि नामक जैनाचार्य की बहन साध्वी सरस्वती का अपहरण कर लिया। आचार्य कालक ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया। उज्जयिनी के जैन संघ ने भी साध्वी को छोड़ देने के लिए विविध प्रार्थनाएँ की, पर राजा ने एक भी न सुनी। कालकसूरि ने निरुपाय हो राजसत्ता की मदद लेनी चाही पर उज्जयिनी के गर्दभिल्ल दर्पण से लोहा लेनेवाला कोई भी राज्य उस समय नहीं था। भरौंच के बलमित्र-भानुमित्र कालक और सरस्वती के भानजे थे पर वे भी दर्पण से युद्ध करने का साहस नहीं कर सके। अंत में कालक ने अन्यत्र किसी राजसत्ता को सहायता लेने की ठानी और वे पारिसकुल जा पहुँचे।

पारिसकुल जाकर कालक ने एक शकवंश्य शाह (मंडलीक राजा) के दरबार में जाना शुरू किया। निमित्त ज्ञान के बल से थोड़े ही दिनों में कालक ने शाह के मन को अपने वश में किया और मौका पाकर वे उसे और दूसरे अनेक शाहों को समुद्र-मार्ग से भारत ले आये। रास्ते में लाट देश के राजा बलमित्र-भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गये।

निशीथ चूर्ण आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने इस वंश को 'संग' और उपाधि से 'साहि' लिखा है। इनका मुखिया 'साहानुसाही' कहलाता था। संस्कृत ग्रन्थकार आचार्य हेमचन्द्र सूरि आदि ने 'साहि' का अनुवाद 'शाखि' किया है। ये साहि अथवा शक सीथियन जाति के लोग थे और इनका निवास स्थान ईरान अथवा बलख था। आचार्य कालक ९७ साहियों को लेकर काठियावाड़ में उतरे और वहाँ वर्षाऋतु बिताकर लाट के राजा बलमित्र-भानुमित्र को भी साथ लेकर उज्जयिनी पर चढ़ाई कर दी। इसका उल्लेख कथावली में भी प्राप्त होता है।^{२६} इन सभी ९६ शक मांडलिक और लाट के राजा बलमित्र की संयुक्त सेना ने उज्जयिनी को जा घेरा। घमासान लड़ाई के बाद शक शाहों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और गर्दभिल्ल को कैद करके साध्वी सरस्वती को छोड़ा। कालक सूरि की सलाह के अनुसार गर्दभिल्ल को पदच्युत करके जीवित छोड़ दिया गया और उज्जयिनी की गद्दी पर उस शाह को बिठलाया गया, जिसके यहाँ कालक ठहरे थे।^{२७}

उक्त घटना बलमित्र के ४८वें वर्ष के अन्त में घटी। यह समय वीर निर्माण का ४५३वाँ वर्ष था। चार वर्षों तक शकों का अधिकार रहने के बाद बलमित्र-भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया^{२८} और आठ वर्ष तक वहाँ राज्य किया। इस प्रकार भरोच में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, कुल ६० वर्ष तक बलमित्र-भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र बाद में 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।^{२९} बलमित्र-भानुमित्र के बाद उज्जयिनी की गद्दी पर नभःसेन बैठा। नभःसेन के पाँचवें वर्ष में शकों ने फिर मालवा पर आक्रमण किया, जिसका मालव सेना ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पायी। इस शानदार जीत की यादगार में मालव प्रजा ने 'मालव संवत्' नामक एक संवत्सर भी चलाया जो बाद में 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस 'मालव संवत्' का नामांतर 'कृतसंवत्' भी है। यह संवत् किस कारण से प्रचलित हुआ इसका स्पष्ट खुलासा नहीं हुआ है, किन्तु इसका कारण विदेशियों को जीत पर मालवगण की स्वतंत्रता-प्राप्ति के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता।^{३०} यह मालव संवत् बलमित्र के उज्जैन पर अधिकार करने के तेरह वर्ष बाद प्रारम्भ हुआ। बलमित्र ने निर्वाणाब्द के ४५७वें वर्ष में प्रचलित हुआ।^{३१} बलमित्र-भानुमित्र उज्जयिनी पर अधिकार के बाद वहाँ ८ वर्ष तक ही शासन कर पाये। इसके बाद ही नभःसेन का शासन उज्जयिनी पर हुआ जो ४० वर्षों तक रहा। इस प्रकार वीर निर्माण के ५०५ वर्ष बाद तक उज्जयिनी पर नभःसेन का शासन रहा।

इसके बाद उज्जयिनी में पूरी एक शताब्दी तक गर्दभिल्लीय राजवंश का शासन रहा। इस प्रकार वीर निर्माण के ६०५ वर्ष पूरे हुए। इसी समय में मालवा पर पुनः शकों का आक्रमण हुआ। इस बार गर्दभिल्ल साम्राज्य का अन्त करके शकों ने मालवा पर पूर्ण अधिकार कर लिया और इस विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने एक संवत् चलाया जो आज तक 'शक संवत्' या शालिवाहन शाका के नाम से जाना जाता है।^{३२} इस दूसरी बार के आक्रमण के समय शकों का नेता कौन था यह बात निश्चित नहीं है। तो भी सम्भवतः सत्रप चष्टन इस समय नेता हो सकता है। चष्टन के शक संवत् ४६-७२ तक के सिक्कों

से ज्ञात होता है कि उसने काठियावाड़ के उपरान्त मालवा पर भी अपना अधिकार जमाया था और उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया था, जो अंत तक इसके वंशजों की भी राजधानी रही। सम्भव है कि चष्टन के इस विजय के उपलब्ध में ही 'शंक संवत्' चलाया गया हो।^{३३}

इस प्रकार तित्थोगाली में वर्णित 'वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह पश्चात् शकों का राज्य केन्द्र होता है। परन्तु शकों के १३२३ वर्ष बाद कल्कि राजा की उत्पत्ति परम्परागत मान्यता के आधार पर कल्पित ही है। वास्तव में कल्की की अवधारणा पुष्यमित्र शुंग पर ही आधारित है जिसका विश्लेषण पूर्व में किया गया है।

तित्थोगाली में दुष्टबुद्धि राजा को दक्षिण लोकपति इन्द्र द्वारा मारे जाने के बाद उसके पुत्र दत्त के राज्यारोहण का वर्णन है। उसने जिन शासन की पुनः स्थापना की तथा धर्म पूर्वक राज्य करने लगा। श्रमणों की पूजा सभी उन्नीस हजार नगरों और गाँवों में होने लगी। दत्त का पुत्र जितशत्रु तथा उसका पुत्र मेघघोष हुआ तथा विमलगहन राजा के पहले अन्यान्य और भी राजा हुए।^{३४}

(ख) महावीर के बाद स्थूलभद्र पर्यन्त पट्ट-परम्परा

तित्थोगाली में भगवान महावीर के पश्चात् आचार्य स्थूलभद्र तक को पट्टासीन आचार्यों की परम्परा को क्रमबद्ध किया है। यह इस प्रकार है—“चौथे आरे में पचहत्तर वर्ष साढ़े आठ महीना शेष रहने पर वर्द्धमान महावीर का जन्म हुआ। इसी आरे में तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष रहने पर महावीर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। महावीर के बाद के पट्टाचार्यों की जो परम्परा तित्थोगाली में गाथा रूप में निबद्ध है, वह इस प्रकार है—“भगवान महावीर के पश्चात् ज्ञान में श्रेष्ठ, धर्म में श्रेष्ठ, धर्म का उपदेश जनसामान्य में करने में श्रेष्ठ, आचार धर्म का पालन करने वाले श्रेष्ठ धार्मिक सुधर्मा नामक शिष्य थे। उनके जम्बू नामक शिष्य थे, जम्बू के प्रभव तथा प्रभव के शिष्य शय्यंभव हुए। शय्यंभव के यशोभद्र नामक शिष्य गुणों की खान थे। उनके भी शिष्य सुन्दर कुल में उत्पन्न संभूत थे। उनके शिष्य थे सत्ववान, स्थिर बाहूवाले, घुटने के मध्य तक सुप्रतिष्ठित, सुन्दर भुजावाले, नाम से भद्रबाहु जो हिंसा आदि से विरत होने के कारण धर्मबाहु भी कहे जाते थे। वे चौदह पूर्वों के धारक थे तथा बारह वर्षों तक व्रत का पालन कर अध्ययन को अर्थ से निबद्ध किया। उस समय मध्य देश में बाढ़ और अनावृष्टि थी। दुर्भिक्ष से पीड़ित साधु दूसरे जनपदों में चले गये। कितने साधु व्रतों के खंडन के भय से तथा क्रमों के बंधन से अत्यधिक डरे हुए संक्लेश युक्त आहार का प्रत्याख्यान करने लगे। वे सब पर्वत की कंदराओं में, नदियों तथा अनन्त समुद्र के तटों पर तथा वहीं जनपद में इस लोक से अनाविष्ट होकर यत्नपूर्वक रहने लगे। इस तरह सुकाल के आने तक शेष साधु स्वर्गवासी हो गये तथा बहुत वर्षों तक मगध में वे (साधु) अप्राप्य हो गये। मृत्यु को प्राप्त होने बचे हुए प्रत्येक साधु एक-दूसरे को चिरकाल बाद मिले और एक-दूसरे को देखकर अपने को परलोक गमन से वापस आया हुआ मानते हैं। उस समय वे प्रत्येक से पूछते हैं कि कौन कितना स्वाध्याय धारण करता है? इस दुष्काल में हमारा स्वाध्याय

नष्ट हो गया है। इस तरह जितना जिसको याद था, उसने उतना सबको याद करा दिया। इस प्रकार उस समय एकादश अंग एकत्रित हो गये। तब सबने सोचा कि सभी अंगों का सार दृष्टिवाद का ज्ञाता कोई नहीं है। कैसे बिना पूर्वधर के प्रवचन के सार को धारण किया जाएगा। एक भद्रबाहु ही हैं, जिन्हें चौदह पूर्वों का ज्ञान है। उनके पास पूर्व श्रुत की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु वे इस वक्त नेपाल में बारह वर्ष का योग धारण किये हुए हैं, इस कारण से वाचना देंगे या नहीं, इसमें संशय है। इसके बाद श्रमण संघ ने भद्रबाहु के पास जाकर वाचना देने का निवेदन किया। इस पर भद्रबाहु अनिष्ट वचन बोलकर वाचना देने से इनकार कर गये। इस पर सभी साधु क्रोधित हो गये और कहने लगे कि हमारे पूछने पर तुम्हारे द्वारा इनकार किये जाने पर आपको क्या दंड होगा, इसे आप जानते हैं? भद्रबाहु ने कहा—मैं जानता हूँ कि संघ इस प्रकार वचन बोलने वाले का बहिष्कार कर सकता है। स्थविर बोले आप यह जानते हुए भी संघ की प्रार्थना का अनादर कर रहे हैं। हम आपको संघ में शामिल कैसे रख सकते हैं? क्षमाश्रमण! हम आपसे प्रार्थना करते हैं पर आप वाचना देने को तैयार नहीं। इसलिए श्रमण संघ आज से आपके साथ बारहों प्रकार का व्यवहार बंद करता है। यशस्वी भद्रबाहु अपयश के डर से जल्दी संभल कर बोले—श्रमणो! एक शर्त पर मैं वाचना दे सकता हूँ। शर्त यह है कि “न वाचना लेने वाला मुझे कुछ पूछे और न मैं उनके पूछूँ।” यदि यह शर्त हो सकती है तो मैं कायोत्सर्ग ध्यान पूरा करने के बाद, भोजन के समय में और बाहर जाते-आते वाचना दूँगा। भद्रबाहु की शर्त को मंजूर करते हुए श्रमणसंघ ने कहा—क्षमाश्रमण! जैसा आप कहेंगे हम वैसा ही करेंगे। इस विषय में आप कुछ भी चिन्ता न करें।

इसके बाद बुद्धिशाली और ग्रहण-धारण में समर्थ ५०० साधु और प्रत्येक की वैयावृत्य के लिए दो दो, इस प्रकार कुल १५०० साधु भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद के अध्ययन के निर्मित भेजे गये। इन साधुओं को भद्रबाहु के पास अनुकूलता नहीं मिली। उन्हें संतोषजनक वाचना नहीं मिलती थी। इस कारण वे वाचना-प्रतीक्षक धीरे-धीरे वहाँ से चले गये। केवल स्थूलभद्र शेष बचे। उन्हें पद, आधा पद जो कुछ मिला, उसे ही पढ़ते रहे पर भद्रबाहु का पीछा नहीं छोड़ा। इस प्रकार रहते हुए स्थूलभद्र को आठ वर्ष हुए, तब तक उन्होंने आठ पूर्व का अध्ययन पूरा किया। अब तक भद्रबाहु की योगसाधना भी पूरी हो चुकी थी। उन्होंने पहली बार स्थूलभद्र से पूछा “क्यों मुनि! तुझे भिक्षा और स्वाध्याय योग में कुछ तकलीफ तो नहीं है? स्थूलभद्र बोल—नहीं भगवन्! मुझे कोई तकलीफ नहीं है, पर मैं आपसे एक प्रश्न करता हूँ कि अब तक मैंने कितना सीखा है और कितना शेष है? भद्रबाहु ने कहा—स्थूलप्रभ! अभी तक तुमने सरसों के दाने भर सीखा है और मेरु पर्वत जितना शेष है। भद्रबाहु के इस वचन से बिल्कुल ही निरुत्साह नहीं होते हुए भद्रबाहु बोले—पूज्य! अध्ययन से नहीं थका हूँ पर सिर्फ एक विचार अवश्य मुझे चिन्तित करता है कि अपने इस अल्प जीवन में यह मेरुतुल्य श्रुतज्ञान मैं कैसे प्राप्त कर सकूँगा? स्थूलभद्र की बात सुनकर भद्रबाहु बोले वीर स्थूलभद्र! अब तू इस विषय में कुछ भी फिकर मत कर! अब मेरा ध्यान समाप्त हो गया है और तू बुद्धिमान है, रात-दिन मैं तुम्हें वाचना देता रहूँगा, जिससे अब तू इस दृष्टिवाद को जल्दी ही सीख जाएगा। स्थूलभद्र प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने लगे और उन्होंने दशपूर्व सांगोपांग सीख लिए।

एक दिन स्थूलभद्र एकान्त स्थल में बैठकर ग्यारहवाँ पूर्व याद कर रहे थे, उसी समय उनकी सात बहने भद्रबाहु के पास वंदनार्थ आयीं। वहाँ भाई को न देखकर उन्होंने भद्रबाहु से पूछा। भद्रबाहु ने स्थूलभद्र का स्थान बताया। वे साध्वियाँ भाई के दर्शनार्थ उस तरफ चलीं। लब्धिधारी स्थूलभद्र ने अपनी शक्ति का परिचय बहनों को कराने के इरादे से निज रूप बदलकर सिंह का रूप धारण कर लिया। साध्वियाँ वहाँ पहुँचते ही सिंह को देखकर भयभीत होकर भद्रबाहु के पास भाग आयीं और भयातुर स्वर से कहने लगी—क्षमाश्रमण ! आपके निर्दिष्ट स्थान पर मेरा भाई नहीं, एक विकराल सिंह बैठा है। न जाने स्थूलभद्र का क्या हुआ! भद्रबाहु ने कहा—आर्याओ ! वह सिंह और कोई नहीं तुम्हारा भाई स्थूलभद्र ही है। आचार्य के वचन सुनकर वे फिर उस स्थान पर गयीं, तब उन्हें स्थूलभद्र का दर्शन हुआ। आचार्य का अनुभव करती हुई साध्वियाँ उनको वंदन करके बोलीं—तुम्हें सिंह रूप में देखकर हम बहुत भयभीत हो गयी थीं। स्थूलभद्र ने उत्तर दिया—वह मैंने श्रुतज्ञान की ऋद्धि दिखलाई थी।

बहनों को विदा करके स्थूलभद्र के पास वाचना लेने को गए तब भद्रबाहु ने कहा—‘हे अनगार! जो तूने पढ़ा है, वही बहुत है, अब तुझे पढ़ने की कोई जरूरत नहीं है।’ गुरु की इस बात से स्थूलभद्र को अपनी भूल का ख्याल आया। वे बहुत पश्चाताप करने लगे और गुरु के चरणों में वंदन करके अपने अपराध की क्षमायाचना करते हुए कहने लगे—पूज्य क्षमाश्रमण ! यह मेरी पहली ही भूल है, कृपया क्षमा कीजिए, यद्यपि शेष पूर्व अब स्वयं विच्छिन्न होने को हैं, फिर भी भविष्य के महत्तर स्थविर कहेंगे कि—‘स्थूलभद्र ने श्रुतमद किया, इससे शेष पूर्वो का नाश हुआ।’ गच्छ के साधुओं ने भी हाथ जोड़कर भद्रबाहु से प्रार्थना की कि अब आप इनको वाचना देने की कृपा करें, ये फिर अपराध न करने की प्रतिज्ञा के साथ आपसे क्षमा माँगते हैं। स्थूलभद्र और शेष श्रमणों की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भद्रबाहु ने कहा श्रमणो ! तुम अब इस विषय में ज्यादा आग्रह मत करो, मैं वाचना देने से इन्कार क्यों करता हूँ, इसका कारण सुनो। मैं स्थूलभद्र के अपराध के कारण नहीं, पर भविष्य पर विचार करके शेष पूर्वो का प्रचार बन्द करता हूँ। देखो राजकुल जैसे शकटाल मंत्री के वंश में पैदा हुआ स्थूलभद्र जैसा गम्भीर पुरुष, जिसने बारह वर्ष की सांगिनी कोशा के प्रेम का क्षण भर में त्याग कर दिया और नन्द राजा द्वारा दिये जाते मंत्री पद को तुकराकर विरक्त भाव से दीक्षा ग्रहण की। यह भी इस श्रुतज्ञान का दुरुपयोग करने में तत्पर हो गया तो दूसरों की बात ही क्या की जाए। श्रमणो! दिन-दिन समय नाजुक आ रहा है, मनुष्यों की मानसिक शक्तियों का प्रतिसमय हास हो रहा है, उनकी क्षमता और गम्भीरता नष्ट होती जा रही है। इस दशा में अब शेष पूर्वो का प्रचार करने में मैं कुशल नहीं देखता। आचार्य का यह अन्तिम उत्तर सुनकर स्थूलभद्र दीनतापूर्वक कहने लगे—भगवन् अब कभी पररूप नहीं बनाऊँगा। आप कहें उन शक्तों पर चलकर भी मैं चार पूर्व जानना चाहता हूँ। अति आग्रह के वश होकर भद्रबाहु ने कहा—स्थूलभद्र तू इतना आग्रह करता है तो तुझे चार पूर्व बता दूँगा, पर उसकी अनुज्ञा (दूसरों को पढ़ाने की आज्ञा) नहीं दूँगा। केवल उस पूर्वो की अनुज्ञा मिलेगी। बाकी के चार पूर्व तेरे साथ ही नष्ट हो जाएंगे।

उपर्युक्त कथा तित्थोगाली प्रकीर्णक में गाथा ७१४ से ८०२ तक निबद्ध है। इस प्रकार भगवान महावीर से लेकर स्थूलभद्र तक की पट्ट परम्परा का विवरण तित्थोगाली में प्राप्त होता है।

जैन साहित्य के अन्य ग्रन्थों में भी महावीर के बाद की पट्ट परम्परा का उल्लेख प्राप्त होता है।

वर्तमान में दो तरह की ऐसी स्थविरावली (पट्टावलि) प्राप्त होती है। पहली माथुरी-जो नंदीसूत्र में दी गयी है, तथा दूसरी वल्लभी-जो युगप्रधान पट्टावलि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त दशाश्रुतस्कन्ध में भी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की गुरुपरम्परा की गुर्वावली प्राप्त होती है। हम इन तीनों में से केवल स्थूलभद्र तक की आचार्य परम्परा की समीक्षा करेंगे क्योंकि तित्थोगाली में स्थूलभद्र पर्यन्त पट्ट परम्परा का ही उल्लेख है।

(१) दशाश्रुतस्कन्ध में उल्लिखित गुर्वावलि

भगवान महावीर-१. आर्य सुधर्मा २. आर्य जंबू ३. आर्य प्रभव ४. आर्य शय्यंभव ५. आर्य यशोभद्र ६. आर्य संभूत विजय-भद्रबाहु ७. आर्य स्थूलभद्र

(२) माथुरी युगप्रधान पट्टावलि

भगवान महावीर-१. आर्य सुधर्मा २. आर्य जम्बू ३. आर्य प्रभव ४. आर्य शय्यंभव ५. आर्य यशोभद्र ६. संभूत विजय ७. आर्य स्थूलभद्र।

वल्लभी युगप्रधान पट्टावली

भगवान महावीर-१. आर्य सुधर्मा २० वर्ष २. आर्य जम्बू ४४ वर्ष ३. आर्य प्रभव ११ वर्ष ४. आर्य शय्यंभव २३ वर्ष ५. आर्य यशोभद्र ५० वर्ष ६. आर्य संभूतविजय- ८ वर्ष ७. आर्य भद्रबाहु-१४ वर्ष ८. आर्य स्थूलभद्र- ४६ वर्ष।

इस प्रकार इन तीनों में से दो पट्टावलियों में आर्य स्थूलभद्र भगवान महावीर के बाद ८वें पट्टप्रधान आचार्य हैं जबकि दशाश्रुतस्कन्ध की गुर्वावलि में उनका स्थान सातवाँ है। इसका कारण यह है कि दशाश्रुतस्कन्ध में संभूतविजय और भद्रबाहु को एक मान लिया गया है।

संदर्भ ग्रंथ

१. तित्थोगाली-६२१-६२२
२. वही, ६२३
३. वही, ६२०
४. आइंडेण्टिफिकेशन ऑफ कल्कि डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल, इण्डियन ऐन्टेक्वेरी, वाल्यूम XLVI
५. वही,
६. वही, पृ०-१५१, उद्धरण-५४
७. तित्थो० गा०-६२१-६२२
८. वही,

९. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ० ३०-३१
१०. तित्थो०-६२४
११. तित्था०-६२८-६८९
१२. अध्ययन-५ सूत्र, १६, पृ०-१२०
१३. दिव्यावदान, अशोकवदानम्-२९, पृ०-२८३,
१४. श्रीमद्भागवत-१२, स्कन्ध, अ०-२ पृ०-३०९, श्लोक-१८ ब्रह्माण्ड पुराण
१५. मत्स्य पुराण अ०-२७२
१६. वही, श्लोक-१२
१७. वायु पुराण, उ०अ०-३७
१८. तित्थो०-६३६-६३७
१९. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना-श्री मुनि कल्याण विजय पृ०-४७-४८
२०. तित्थो०-६२३-६२४
२१. वही, ६२०
२२. वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल गणना, पृ०-३४
२३. वही, पृ०-५०
२४. वही, पृ०-५०
२५. खारवेल शिलालेख, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०-२५२
२६. कथावली-२, २८५
२७. कालकाचार्य कथा संग्रह, पृ०-१०-११, निशीथ चूर्णि-१०, उ० पत्र-२३६
२८. कालकाचार्य कथा संग्रह, पृ०-१२, व्यवहार चूर्णि, उद्देशक-१०, पत्र-१७९
२९. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ०-५८
३०. वही,
३१. वही-६०
३२. वही,
३३. वही,
३४. तित्थोगाली गा०-६९०, ६९६

षष्ठ अध्याय तित्थोगाली में संस्कृति और समाज

साहित्य समाज का दर्पण है। किसी भी साहित्य में तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक मूल्यबोध की झलक अनिवार्य रूप से मिलती है। तित्थोगाली प्रकीर्णक भी इसका अपवाद नहीं है। इस ग्रन्थ में तत्कालीन मान्यताएँ, परम्परागत अवधारणा, रस्म-रिवाज और मानव मन की कलापूर्ण अभिव्यक्ति का दिग्दर्शन होता है। विभिन्न प्रसंगों, पूजा, जन्मोत्सव, युग-वर्णन, स्वप्न विचार आदि घटनाओं की अलौकिकता और चमत्कारी स्वरूप, अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ, युद्धकला, शिल्प आदि के साथ-साथ तत्कालीन उदात्त कलात्मक भावनाओं और सांस्कृतिक बोध का प्रतिबिम्बन प्रस्तुत ग्रन्थ में जाने-अनजाने अपने आप होता जाता है। उपर्युक्त प्रसंगों में से अधिकांश का वर्णन तित्थोगाली में विस्तार से हुआ है तो कुछ का केवल संकेत मात्र कर दिया गया है। इस संक्षिप्त विषय वस्तु का विस्तृत वर्णन अन्य सहधर्मी ग्रन्थों में प्राप्त होता है। यहाँ नगर, ग्राम, चौक, बगीचा, मन्दिर, भवन, पूजा-पद्धति, उत्सव, नृत्यगान आदि का रुचिपूर्ण और मनोहर वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में इन सांस्कृतिक-सामाजिक सामग्रियों को संगठित करने का प्रयास किया गया है। इसे क्रमबद्ध यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

रहन-सहन-तित्थोगाली प्रकीर्णक में प्रथम सुषमा-सुषमा आरा के भावों का प्ररूपण करते हुए उस समय के भूमि, नगर, लोग, उनके रहन-सहन आदि सांस्कृतिक पक्ष को उजागर किया गया है। इस आरे में भरत और ऐरावत क्षेत्रों के भू-भाग मणियों एवं स्वर्णों से विभूषित होते हैं और सर्वत्र पाँच प्रकार के रत्नों से जटित मनोहर भित्ति-चित्र सुशोभित रहते हैं। इन भूमियों में स्थान-स्थान पर सर्वत्र नयनाभिराम मनोहर दृश्यों से संकुल शैय्या-आसनों आदि से सुसज्जित वापियाँ, पुष्करिणियाँ एवं दीर्घिकाएँ होती हैं।^१

उन पुष्करिणियों, वापियों एवं दीर्घिकाओं की सजावट और उनकी विशेषताओं का वर्णन बड़े ही आकर्षक ढंग से किया गया है। इनका वर्णन करते हुए कहा गया है—“इन वापियों, पुष्करिणियों आदि के जल शहद, घृत, इक्षुरस, द्राक्षा, क्षीर, आसव और उत्तम वारुणि के समान सुस्वादु एवं स्वच्छ तथा स्फटिक मणि के समान स्वच्छ और प्राकृतिक है। इन सबकी सीढ़ियाँ वैडूर्य रत्नों से निर्मित, अतिसुरम्य, सुखपूर्वक विचरण करने योग्य तथा जल तम्ररसकमल, कुवलय और नीलोत्पल से सुशोभित हैं। इनके चारों ओर अतिसुन्दर प्राकृतिक आदि रत्नों से जटिल इन्द्रियों को सुख देनेवाली होती है।^२

मण्डप, भित्तिचित्र आदि का वर्णन इस प्रकार है—“उस समय स्थान-स्थान पर नयनाभिराम लताओं से निर्मित केलि-कुंज और केतकी मण्डप होते हैं। उन निकुञ्जों और केलि-गृहों में अनेक प्रकार के रत्नमय चित्रों से सुशोभित अति कमनीय मणिशिलाएँ और कनकशिलाएँ यथास्थान लगी हैं।^३

(क) लोक व्यवहार

उस काल में ग्राम, नगर, प्रासाद, पिता-पुत्र का पारस्परिक कर्तव्य और रोग, शोक, जरा, दुःख आदि का अभाव बताया गया है। इसके साथ ही वहाँ असि (तलवार युद्ध आदि), (लेखन) कृषि, वाणिज्य, आदान-प्रदान, शासक-शासित, प्रेषक-प्रेष्य आदि के व्यवहार का भी अभाव रहता है।^{१४}

(ख) मनुष्य प्रकृति

मनुष्यों के स्वभाव, शरीर, उनकी इच्छा, व्यवहार आदि का वर्णन करते हुए तो सांस्कृतिक उत्कृष्टता और परम अवनति के दृश्य को साक्षात् कर दिया गया है। उत्कृष्ट उवस्था का विवेचन करते हुए कहा गया है कि सुषमा काल में भरत ऐरावत क्षेत्र के मानव कमल पुष्प की भीनी मादक सुगन्ध के समान श्वासोच्छ्वास वाले, विशिष्ट सुन्दर शरीरधारी पूर्ण निर्भय, छल-छद्म द्वेषादि से निर्लिप्त, वक्र-टेढे श्वेत केश आदि शारीरिक दोषों से रहित एवं सर्वथा सुखी होते हैं।^{१५} वे सब घनरवगम्भीर गुंजायमान स्वर, मात्सर्य मुक्त स्वभाव, वायु के समान अप्रतिहत यथेच्छ वेग और अपरिमित पराक्रम और तेज से सम्पन्न होते हैं।^{१६} वे सभी मानव युगल सबके प्रति अभियोग रहित समान रूप से 'अहमिन्द्र की भावनावाले, वज्रऋषभनाराच संहननवाले, सुडौल देहधारी, सुगठित एवं सुन्दर अंगोपांग युक्त होते हैं। वे नर-नारी गण परम सुन्दर, सुभग, सुखभाजन, सुवासित, मनमोहक सुगन्ध, सिंह के समान पराक्रमी और मदोन्मत्त श्रेष्ठ गजराज की गति सदृश गमन करनेवाले होते हैं। वे सब स्वभावतः क्षीणकषायी, स्वल्पेच्छ निधि एवं संचयविहीन शान्त, ३२ लक्षणों से युक्त और पृथ्वी और फल-फूल का आहार करनेवाले होते हैं।^{१७} उस समय के फल-फूलों के स्वाद और रस का वर्णन करते हुए उल्लेख किया गया है कि—'उस समय में पृथ्वी का स्वाद मिश्री अथवा शक्कर के समान मधुर पुष्पों का रस नितान्त परमोत्कृष्ट और सुवादु फलों का रस इतना स्वादिष्ट होता है कि उसके स्वाद का वर्णन करने के लिए संसार में कोई उपमा नहीं है।^{१८} इन मनुष्यों की ऊँचाई तीन कोस और आयु तीन पल्लोपर कही गयी है।^{१९} वहीं दूसरी ओर इन सभी सुख-सुविधाओं और लोगों के व्यक्तित्व में निरंतर हास दर्शाया गया है। चौथे और दुषमा-सुषमा में तो यह भोगभूमि से कर्मभूमि में परिवर्तित हो जाती है और लोगों को अपने उपभोग और आवश्यकता की सामग्री के लिए परिश्रम करना पड़ता है। इनकी आयु और ऊँचाई प्रत्येक आरे में कम होते-होते छठे आरे में आयु १६ से २० वर्ष और ऊँचाई २ मुण्ड हाथ और फिर एक मुण्ड हाथ रह जाती है।^{२०}

(ग) राजनैतिक व्यवस्था

शासन-व्यवस्था—तित्थोगाली प्रकीर्णक में शासन व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है। जैन मान्यतानुसार तीसरे सुषमा-दुषमा नामक आरे के अन्त में कुलकरों की उत्पत्ति होती है। फिर ऋषभदेव का जन्म हुआ। इस समय तक भोगकाल समाप्त हो जाता है। इस समय तक न कोई राजा न, कोई राज्य और न दण्ड, दण्ड-विधान का कर्ता आदि था। यह ऐसी राज्य व्यवस्था थी जहाँ सभी लोग अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए सदाचार

और आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करते थे। इसलिए उनमें किसी प्रकार का वैमनस्य अथवा लड़ाई-झगड़ा नहीं था। लेकिन तीसरे आरे के अन्त में, जब लोग धर्म से भ्रष्ट हुए और कल्पवृक्षों का प्रभाव घटा तथा युगल-सन्तान की उत्पत्ति होने पर संतान को लेकर प्रजा में विवाद होने लगा और समाज में अव्यवस्था फैलने लगी, तो लोग एकत्र होकर ऋषभदेव के पास पहुँचे और उनसे कहा—“राजा दण्ड का विधान करता है, हमें भी एक राजा चाहिए”। ऋषभदेव ने कहा जाकर कुलकर से कहा, तब कहने पर कुलकर नाभि ने ऋषभ को राजा बना दिया। इस प्रकार ऋषभदेव प्रथम राजा हुए।^{११} ऋषभदेव ने सर्वप्रथम शिल्प-शिक्षा^{१२} आदि तथा दण्ड-व्यवस्था का विधान किया। इसके पूर्व कुलकरों के समय में तीन प्रकार के दण्ड-हक्कार, मक्कार और धिक्कार की व्यवस्था थी।^{१३} जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ऋषभदेव और भरत के काल में सात प्रकार के दण्ड-विधान का उल्लेख है—इनमें उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त परिभाषण (क्रोध प्रदर्शन द्वारा ताड़ना), परिमण्डल बन्ध (जेल) एवं छविच्छेद (हाथ, पैर, कान, नाक काट देना) भरत के काल में जोड़े गये।^{१४} तित्थोगाली में ऐतिहासिक राज वंशों का भी वर्णन है। इनमें पालक राजा, नन्दवंश, मौर्यवंश, शुंगवंश, बलमित्र-भानुमित्र, नहसेन, गर्दभवंश, शकवंश और दुष्टबुद्धि राजाओं के वंशों का उल्लेख है।^{१५} इनका वर्णन पंचम अध्याय में विस्तार से किया गया है।

राजा का उत्तराधिकारी—राजा का उत्तराधिकारी वंशानुगत ही होता था। ऋषभदेव ने विनीता नगरी की स्थापना के साथ कुल १०० नगरों की स्थापना की और सम्पूर्ण राज्य अपने १०० पुत्रों में बाँट दिया।^{१६} दुष्टबुद्धि राजा (कल्कि) को मारकर देवराज इन्द्र ने उसके पुत्र दत्त को राज्यसिंहासन पर बैठाया।^{१७} दत्त का पुत्र जितशत्रु, जितशत्रु का पुत्र मेघघोष था।^{१८} पंचम आरे के अंत होने पर राजा, मंत्री, राज्य-व्यवस्था, दण्डधर आदि का भी नाश हो जाता है।^{१९} उसके बाद पूरी तरह अराजकता छा जाती है। अंतिम राजा विमलवाहन नामका बताया गया है। अंतिम मंत्री सुमुख नामका होगा।^{२०}

राजा के प्रकार—तित्थोगाली में कई प्रकार के राजाओं का उल्लेख है—इनमें चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, माण्डलिक आदि हैं।

राज्याभिषेक—तित्थोगाली प्रकीर्णक में राजा के राज्याभिषेक का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम राजा ऋषभदेव के राज्याभिषेक के लिए शक्र वहाँ उपस्थित हुआ। देवराज ने भगवान् ऋषभदेव को नरेन्द्रों के योग्य मुकुटादि सभी अलंकारों से विभूषित कर उनका राज्याभिषेक किया।^{२१} यौगलिक पुरुष भगवान् ऋषभदेव के राज्याभिषेक के लिए नलिनी पत्रों में पानी लेकर आये पर उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत देखकर केवल उनके चरणकमलों पर पानी डाल कर अपनी ओर से अभिषेक की प्रक्रिया को सम्पन्न किया।^{२२} इसी प्रकार कल्कि के पुत्र का राज्याभिषेक शक्र ने किया था।^{२३} जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भरत-चक्रवर्ती के अभिषेक का विस्तृत वर्णन किया गया है।^{२४}

राजभवन प्रासाद—राजा के निवास स्थान को राजभवन और देवों के निवास स्थान को प्रासाद कहा गया है।^{२५} तित्थोगाली में नन्द राजा के राजभवन के अन्तःपुर का उल्लेख आया है। नन्द राजा द्वारा मंत्रीपद ग्रहण करने हेतु बुलाए जाने पर स्थूलभद्र राजा के अन्तःपुर

में गये थे।^{१२६} इसमें देवताओं के निवास स्थानों तथा दिशाकुमारियों के परिचय-क्रम में उनके निवास स्थानों का उल्लेख है। परंतु कोई विशेष वर्णन नहीं किया गया है।^{१२७} ऋषभ आदि तीर्थकरों के विभिन्न स्वर्ग विमानों से च्यवन कर माताओं के गर्भ में आने का उल्लेख किया गया है।^{१२८} ये सब देवविमान होते हैं। इसके अतिरिक्त, प्रथम सुषमा-सुषमा आरे में विभिन्न क्षेत्रों में देवताओं के घर जैसा वातावरण^{१२९} और केलि-लताघर, केतकीगृह आदि का उल्लेख आया है।^{१३०} इस प्रकार के कल्प वृक्षों में से एक पक्ष नामक कल्पवृक्ष मण्डपाकार होता है। यह प्रासाद ही है। यह कल्पवृक्ष जालीझरोखों से सुशोभित अनुपम कलाकृतिपूर्ण अतिसुन्दर सुविशाल प्रासादों के समान होते हैं। वे मणिरत्नमय सुन्दर भित्तिचित्रों से अलंकृत और रत्ननिर्मित गगनचुम्बी शिखरों से शोभायमान होते हैं। इस प्रकार प्रासाद की कल्पना की गयी है।^{१३१} अन्तःपुर में राजा की पत्नियाँ रहती थी। भरत चक्रवर्ती के अन्तःपुर में चौसठ हजार^{१३२}, त्रिपृष्ठ वासुदेव के अन्तःपुर में बत्तीस हजार और अचल बलदेव के अन्तःपुर में आठ हजार श्रेष्ठ अंगनाएँ थीं।^{१३३}

अन्य जैन आगमों में राजभवनों आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रासाद की ऊँचाई की अपेक्षा दुगुनी और भवन की ऊँचाई चौड़ाई की अपेक्षा कम होती है। भवन ईंट के बने होते हैं। प्राचीन सूत्रों में आठ तलवाले प्रासादों का उल्लेख है, वे प्रासाद सुन्दर शिखरों से युक्त तथा ध्वजा, पताका, छत्र और मालाओं से सुशोभित और इनके फर्शों में भाँति-भाँति के मणि-मुक्ता जड़े रहते हैं।^{१३४}

अपराध और दण्ड—तित्थोगाली के अनुसार तीसरे सुषमा-दुषमा आरे के अंत में लोग अपराध करने लगे, अपराध बहुत साधारण किस्म के थे। इसलिए उस काल में हक्कार, मक्कार और धिक्कार दंडनीति की व्यवस्था की गयी।^{१३५} पाटलिपुत्र में ग्यारह पूर्वो की वाचना पूर्ण होने पर बारहवें दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करने हेतु संघ भद्रबाहु के पास गया, पर उन्होंने वाचना देने इन्कार कर दिया, जिस अपराध के लिए श्रमण संघ ने उन्हें संघ से निष्काषित कर देने का दण्ड देने की धमकी दी थी।^{१३६} तित्थोगाली में यह उल्लेख आया है कि श्रमण संघ को अत्यधिक कष्ट पहुँचाने के अपराध में इन्द्र ने कल्कि राजा का वध कर दिया।^{१३७} अपराध में चोरी, तस्करी, मार-पीट आदि का वर्णन है। दुषमा आरा और दुषमा-दुषमा आरा में सम्पूर्ण देश में चारों ओर ठगों तस्करों का आतंक रहता है। नौकर ही राजा को मारता है।^{१३८}

जेल—तित्थोगाली में यों तो जेल का कोई विशेष वर्णन नहीं है, पर दुष्टबुद्धि राजा ने कर न दिये जाने के कारण श्रमणसंघ को गाय के बाड़े में कई दिनों का निरुद्ध कर रखा था।^{१३९}

सैन्य-व्यवस्था—तित्थोगाली में सैन्य-व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है। उस काल में राजा अपने साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध किया करते थे। ऋषभदेव ने राजा बनने के बाद राज्य के निमित्त हाथी-घोड़े आदि का संग्रह किया था।^{१४०} तथा उग्र, भोग और राजन्य कुल के क्षत्रियों का संग्रह किया था।^{१४१} ये सब उस समय के युद्ध के साधन थे। तित्थोगाली में भरत चक्रवर्ती की निधियों और रत्नों में सेना के विभिन्न अंगों का वर्णन प्राप्त होता है। इनमें भरत के चक्र रत्न तथा ३२ हजार राजाओं का समूह प्रमुख है। भरत

की सेना में सर्वगुणसम्पन्न घोड़ों, हाथियों और रथों में से प्रत्येक की संख्या चौरासी-चौरासी लाख थी।^{४२} इनकी पदाति सेना की संख्या छियानवे करोड़ थी। उनके युद्धक साजो सामान (अस्त्र-शस्त्र में) में चक्र, खड्ग, दण्ड, चर्मरत्न, सेनापति रत्न और हस्तिरत्न थे।^{४३} भरत ने सम्पूर्ण छह खण्ड भरत क्षेत्र को जीतकर चक्रवर्ती राजा का पद ग्रहण किया। इसी प्रकार बलदेव-वासुदेवों ने भी सेना की व्यवस्था की और युद्ध कर, उसमें अपने प्रतिशत्रुओं को मारकर अर्द्धभरत क्षेत्र पर अधिकार किया। वासुदेव के पास सुदर्शन चक्र, पाञ्चजन्य शंख, नन्दक नामकी तलवार और भयंकर सार्डंग (धनुष) युद्ध में अजेय थे।^{४४} बलदेव के पास (अचल के) पाँच जिह्वाओं एवं वज्र की तीखी चउओं से युक्त भयंकर हल, नन्दित नामक मूसल था।^{४५} इन दोनों की सेवा में धीर, मुकुटबद्ध और नागराज के समान १६,००० प्रचण्ड राजागण रहते थे।^{४६} उनकी सेना में आवश्यक सज्जाओं से सजे हुए बयालीस लाख घोड़े, उतने ही रथ तथा उतने ही श्रेष्ठ गजराज थे।^{४७} इनकी पदाति सेना में ४८ करोड़ रणकुशल सैनिक थे।^{४८}

भरत चक्रवर्ती ने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था, तथा बलदेव-वासुदेव ने भी दिग्विजय कर अर्द्धभरत क्षेत्र पर आधिपत्य किया था। इनका वर्णन चतुर्थ अध्याय में विस्तार में किया गया है। जैन ग्रन्थों में चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के क्रम में भरत का उनके भाई बाहुबली से घोर युद्ध का उल्लेख हुआ है जिसमें दोनों के बीच द्वन्द्व युद्ध में दृष्टियुद्ध, वाक्युद्ध, बाहुयुद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्ड युद्ध का उल्लेख है।^{४९} कल्की राजा ने अठारह वर्षों तक युद्ध किया था।^{५०}

राजकर—राज्य द्वारा तरह-तरह के कर लगाये जाते थे। कभी-कभी क्रूर राजाओं के द्वारा निर्दयतापूर्वक कर वसूला जाता था। साधुओं से सामान्यतया कर नहीं लिया जाता था। पर क्रूर राजा द्वारा उनसे भी कर मांगा जाता था। तित्थोगाली में दुष्टबुद्धि राजा (कल्की) द्वारा सभी साधु समूहों से कर मांगा जाता है।^{५१} अन्य साधु तो कर रूप में अपने पास संग्रहित सोना-चाँदी आदि दे देते हैं।^{५२} पर श्रमण संघ अकिंचन और अपरिग्रही होने के कारण कुछ भी नहीं दे पाता। इस पर राजा उन्हें बाड़े में बन्द करवा देता है।^{५३}

अठारह प्रकार के कर—जैन सूत्रों में अठारह प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है—गोकर (गाय बेचकर दिया जाने वाला कर), महिषकर, उष्ट्रकर, पशुकर, छगलीकर, अंगारकर, सीताकर (हल पर लिया जाने वाला कर), उंबरकर^{५४} (प्रत्येक घर पर लगा कर) जंघाकर (चारागाह कर), बली-वर्द कर (बैल), घट कर, चर्म कर, चुल्लग कर (भोजन) और अपनी इच्छा से दिया जाने वाला कर।^{५५} ये कर गाँवों में ही वसूल किये जाते थे और नगर (न + कर) इनसे मुक्त रहते थे।^{५६} इसके अलावे अन्य अनैतिक तरह से भी सम्पत्ति का उपार्जन राजा द्वारा किया जाता था। कल्की राजा ने नन्दों द्वारा रत्न आदि से भरकर स्थापित किये पाटलिपुत्र के पाँच स्तूपों को खुदवा दिया और सारी सम्पत्ति अपने पास रख ली।^{५७} उसने साधुओं के चिह्न आदि भी जबरदस्ती छिनवा लिये थे।^{५८}

(घ) आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक साधन प्राचीन काल से संसार के इतिहास में मुख्यतया पथ-प्रदर्शक का

जरिया रहा है। दुर्भाग्य से भारतीय साहित्य में आर्थिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराने वाली सामग्री बहुत अल्प है, जिससे प्राचीन भारत के निवासियों की दशा से सम्बन्धित प्रत्येक तथ्य का व्यवस्थित लेखा-जोखा प्रस्तुत करना असम्भव सा है। तित्थोगाली भी इसका अपवाद नहीं है। विशेषकर वैसी स्थिति में जब इसमें धर्म के उदय और अवसान से सम्बन्धित मिथक वर्णन ही भरे परे हैं। फिर भी इसमें कुछ मिथकीय आर्थिक स्थिति का भी विवरण प्राप्त हो जाता है। इसके अनुसार प्रथम सुषमा-सुषमा आरा में यौगलिक मानवों में असि, मसि, कृषि आदि का व्यवहार नहीं होता है, अर्थात् उस समय व्यापार, खेती-बारी, पढ़ाई-लिखाई आदि का कार्य नहीं होता था^{५९} और लोग कल्पवृक्षों से भोगोपभोग की इच्छित वस्तुएं प्राप्त कर लेते थे।^{६०} उस काल में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की आपूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से अलग-अलग होती थी। ये दस कल्पवृक्ष और उनसे प्राप्त होने वाली सामग्री है^{६१}- १. मत्तंग- अहर्निश सुखानुभूति में मग्न रखने वाला पेय २. भृंग- भाजनपात्रादि की प्राप्ति ३. त्रुटितांग- तुरहा आदि विविध प्रकार के वाद्य-यन्त्र ४. दीपशिखा- सुखद प्रकाश ५. ज्योति- सुखद प्रकाश ६. चित्तांग- माला हार आदि मनोज्ञ प्रसाधन ७. चित्ररस- भोजन-सामग्री ८. मणिअंग- श्रेष्ठ आभूषण ९. गेहाकार- प्रासाद और १०. अनग्नक- भाँति-भाँति के परिधान-वस्त्र आदि। द्वितीय सुषमा नामक आरे में निम्न दस प्रकार के कल्पवृक्ष लोगों की इच्छाओं की पूर्ति करते हैं^{६२}- १. अनग्नक- वस्त्र २. दीपशिखा- प्रकाश ३. त्रुटितांग- वाद्य-संगीत ४. भृंग- विविध प्रकार के पास ५. कोपीन- विविध प्रकार के आभरण ६. उरुसुह- प्रसाधन सामग्री ७. आमोद- सुख-सागर में मग्न रखने वाला पेय ८. प्रमोद- हार, माला आदि आभूषण ९. चित्ररस-नानाविध भोज्योपभोज्य और १० पक्ष- मण्डप के समान (इससे भवन की प्राप्ति होती है)।

इस समय में लोग अनेक प्रकार के अभीष्ट सुगन्ध और रसों से युक्त निर्मल मूल, फल एवं कन्दों का उपभोग करनेवाले, रोग एवं आतंक से रहित होते हैं। ये सब लोग यथेच्छ वनविहारी होते हैं और उनके कल्पवृक्षों में विविध मणियों एवं रत्नों से जटिल शय्याएं एवं आसन होते हैं जिन पर वे सदा प्रमुदित रहनेवाले नर-नारी-युगल सुखपूर्वक रहते एवं सोते-बैठते हैं।^{६३} इस प्रकार आदि समय की आर्थिक स्थिति का वर्णन तित्थोगाली में है। चतुर्थ आरे की आर्थिक स्थिति के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। क्योंकि इनमें तीर्थकरों एवं अन्य शलाकापुरुषों एवं उनके ही वैभवों का वर्णन है, आम जनता एवं समाज का नहीं। पंचम, षष्ठ आरे में पुनः लोगों की दयनीय अवस्था का वर्णन किया गया है। समाज की आर्थिक दशा इतनी खराब हो जाती है कि लोग चोरी आदि कुकृत्यों पर उतर आते हैं और जनपद को लूटना शुरू कर देते हैं।^{६४} यहाँ पर पालतू जानवर-हाथी, घोड़े गायें, भैंसों आदि बहुत कम होंगे।^{६५} अनावृष्टि तथा दुर्भिक्षों के पड़ने से लोग चिन्तित रहेंगे।^{६६} राजा भी धन के अभाव में लोगों पर अनैतिक ढंग से तरह-तरह के कर लगाएगा और निर्दयतापूर्वक वसूल करेगा। लोगों के खाने के लिए भी कछ नहीं रहेगा। वे नदियों से मछली पकड़कर उसी से अपना भोजन चलाएँगे।^{६७} इस प्रकार इस ग्रन्थ में आर्थिक स्थिति का कुछ संकेत मात्र प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में प्रथम राजा

ऋषभदेव द्वारा पाँच प्रकार के शिल्प का वर्णन आया है। इनमें १. घट शिल्प २. लौह शिल्प ३. चित्र शिल्प ४. गंत (वस्त्र-बुनाई) शिल्प और ५. कर्षण (कृषि कर्म) शिल्प हैं। इनमें से प्रत्येक के बीस-बीस भेद होकर १०० प्रकार के शिल्प कर्म हुए। आभूषणों में तरह-तरह के स्वर्ण-मणि जटित आभूषणों का उल्लेख पाया जाता है। तित्थोगाली में मगध में बारह वर्षों के दुष्काल का वर्णन है जिसमें श्रमण संघ छिन्न-भिन्न हो गया। बारह वर्ष पश्चात् पुनः पाटलिपुत्र आने पर उन्होंने ग्यारह अंगों का संकलन किया था। यह दुष्काल महावीर के सातवें पट्टधर भद्रबाहु के समय में हुआ था।^{६८}

उद्यान—तित्थोगाली में उद्यानों का उल्लेख प्रचुर हुआ है। सभी २४ तीर्थंकर गृहस्थावास छोड़ अपने-अपने नगर के उद्यान में जाकर स्वयं दीक्षा ग्रहण करते हैं और उसी उद्यान में से सब निष्क्रमित होते हैं। उनमें से २२ तीर्थंकरों को केवलज्ञान भी उद्यान में ही प्राप्त होता है।^{६९}

वृक्ष—वृक्षों के नाम भी तित्थोगाली में प्राप्त होते हैं। इनमें १०-१० कल्पवृक्ष प्रथम दो आरों में होते हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है। इसके अतिरिक्त सभी तीर्थंकरों के अपने-अपने चैत्यवृक्ष माने गये हैं। इन चैत्यवृक्षों के नीचे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। ये वृक्ष हैं—१. न्यग्रोध २. सप्तपर्ण ३. शाल ४. प्रियाल ५. प्रियंगु (जामुन) ६. छत्राभ ७. शिरीष ८. नाग ९. मालू १०. पिलड्खु ११. तिन्दुक १२. पाटली १३. जम्बू १४. अश्वत्थ १५. दधिपर्ण १६. नन्दी १७. तिल १८. आम्र १९. अशोक २०. चम्पक २१. बकुश २२. वेतस २३. और २४. शाल तेजक वृक्ष।^{७०}

पशु-पालन—पशुपालन में तित्थोगाली में एक स्थान पर गाय-पालन का संकेत मिलता है जब कल्की राजा श्रमणों से 'कर' लेने में सफल नहीं हो सका तो उसने श्रमण संघ को गाय के बाड़े में बन्द करवा दिया।^{७१} इससे स्पष्ट है गायों का पालन बड़ी संख्या में होता था।

वस्त्र, आभूषण और रत्न—तित्थोगाली में आभूषण रत्न आदि का भी वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के जन्म के समय पृथ्वी पर अनेक प्रकार के रत्नों से प्रकाशवान विचित्र वर्षा हुई।^{७२} देव-देवियों के आभूषण पहनने का उल्लेख भी आया है। तीर्थंकरों के जन्म के समय देव-देवियों के आगमन के कारण उनके ओज, तेज, आभूषणों और विमान की प्रभा से वह रात्रि भी दिन के समान प्रकाशवान हो गयी।^{७३} माता सहित उन तीर्थंकरों को दिशाकुमारियाँ पूर्व दिशा की चतुःशला में ले जाकर वहाँ बीच में रखे सिंहासन पर सुखासीन कर अमूल्य मणियों, स्वर्ण और रत्नों से निर्मित सुगन्धित झीरोदक से दसों जिनमाताओं को विधिपूर्वक नहलाकर उन्हें शृंगार चातुरी के साथ दिव्य वस्त्राभूषण से अलंकृत करती हैं। वे छोटे-छोटे दिव्य आभरणों से सद्य प्रसूत तीर्थंकरों को भी विभूषित करती हैं।^{७४} रत्नों में चन्द्राकार कुमुद पुष्प का उल्लेख भी आया है।^{७५} जिनों को देवों ने भी जन्माभिषेक कर दिव्य वस्त्राभूषण से अलंकृत किया।^{७६} इस समय देवगण अनेक प्रकार के चूर्णों, वस्त्रों और रत्नों की वर्षा करते हैं। शक्र ने उन तीर्थंकरों को इसी समय एक-एक कुण्डल की जोड़ी, और एक-एक श्रीदाम भेंट किया।^{७७} शक्र की पटरानियों

ने भी सभी जिनमाताओं को एड़ी से चोटी तक धारण करने योग्य सभी प्रकार के दिव्य वस्त्र और अलंकार भेंट किये।^{१७८}

सुगन्धित द्रव्य-तेल- इसमें शतपाक और सहस्रपाक तेल, सुरभिपूर्व गन्धोदक का उल्लेख प्राप्त होता है जिनसे दिशाकुमारी जिनमाताओं का अभ्यंगन-मर्दन तथा उद्वर्तन करती है।^{१७९}

दास-नौकर- ऐसे तित्थोगाली में प्रत्यक्ष रूप से दासों-नौकरों का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। पर यदा-कदा सेवा-वृत्ति और दासों का उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में सुषमा-सुषमा आरे में समाज में दास आदि वृत्ति नहीं रहती है।^{१८०} आगे भरत और ऐरावत क्षेत्रों में दासों प्रथम तीर्थकर के जन्म के समय विभिन्न कूटों पर रहनेवाली दिशाकुमारियाँ और अन्य देव-देवियाँ उनकी सेवा-सुश्रुषा में लगी रहती हैं।^{१८१} इन सेवकों में रक्षकों का भी उल्लेख है।^{१८२} पंचम, षष्ठ आरे में होनेवाले अनिष्ट और दुराचार का वर्णन करते हुए कहा गया है-राजा नौकरों को तंग करेगा, नौकर जनपद को तंग करेगा।^{१८३} बाद में राजा को क्रुद्ध अध्यवसाय वाले नौकर मारेंगे।^{१८४}

खाद्य पदार्थ-खाद्य पदार्थों में बहुव्यंजन का उल्लेख आया है। प्रथम आरे के यौगलिक लोग पृथ्वी एवं फल आदि का आहार करने वाले होते हैं। उस समय की पृथ्वी का स्वाद मिश्री के समान मधुर, पुष्पों का रस नितान्त परमोत्कृष्ट और सुस्वादु फलों का रस इतना स्वादिष्ट होता है कि उसके स्वाद का वर्णन करने के लिए संसार में कोई उपमा नहीं है।^{१८५} उन लोगों का भोजन उपर्युक्त कल्पवृक्षों से भी प्राप्त हो जाता है। दुषमा और दुषमा-दुषमा नामक आरे में लोगों के खाद्य पदार्थ में कीचड़, सड़ी-गली मछली और अन्य निकृष्ट चीजों का वर्णन तित्थोगाली में प्राप्त होता है।^{१८६} ऐसे समकालीन अन्य जैन साहित्य को देखा जाए तो उनमें मांस भक्षण का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। उपासकदशा के आठवें अध्याय में राजगृह के श्रमणोपासक महाशतक की पत्नी रेवती के मांस भक्षण का उल्लेख है। वह अपने पीहर के गोकुल से रोज प्रातःकाल दो बछड़े मार कर लाने का आदेश अपने नौकर को देती। इसी तरह उत्तराध्ययन सूत्र (२२-१४) में अरिष्टनेमि की कथा आती है, जब वे अपनी बारात लेकर राजा उग्रसेन की कन्या राजीमती को व्याहने जा रहे थे तो रास्ते में पशुओं का करुण शब्द सुनकर अपने सारथी से इसके बारे में पूछा। सारथी के यह कहने पर, कि ये सब जानवर आपके बारातियों को खिलाने के लिए मारे जाने वाले हैं, उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया और संसार का त्याग कर उन्होंने श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। यद्यपि जैन साधुओं के लिए मांस भक्षण का निषेध किया गया है। परन्तु आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध की टीका (११.४.२४७) में साधुओं को दिये जाने वाले भिक्षापिंड में दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, तिल और मधु के साथ मद्य और मांस का भी उल्लेख है। टीकाकार ने लिखा है कि इसकी व्याख्या छेदसूत्र की अपेक्षा करनी चाहिये, अथवा हो सकता है कि कोई लोलुप साधु प्रमाद के कारण मद्य-मांस का भक्षण करना चाहे, अतएव भिक्षा पिंड में इन्हें भी सम्मिलित किया गया है।^{१८७} आचारांग टीका द्वितीय श्रुतस्कन्ध (उपर्युक्त एवं १.९.२७४) में ही कहा गया है कि मांस या मछली को पकता देखकर साधुओं को उसकी याचना का विधान नहीं है पर रोग आदि में यह लागू नहीं

होता। ऐसी हालत में यदि कोई भिक्षा पात्र में बहुत हड्डीवाला मांस डाल दे तो उसे केवल मांस लेना चाहिए हड्डी नहीं। यदि इस पर भी कोई हड्डी डाल दे तो उसे एकान्त में ले जाकर मांस खाकर हड्डी को फेंक देना चाहिए। यह विधान किसी अच्छे वैद्य के उपदेश से लूता आदि रोग को शांत करने के लिए किया हुआ ही समझना चाहिए। चोरपल्ली आदि से जाते हुए साधुओं के लिए मांस भक्षण का विधान कहा गया है। इसके अतिरिक्त कतिपय देश में मांस भक्षण का रिवाज था, जैसे सिंधु देश में। वहाँ देश-काल की अपेक्षा ही उक्त विधान को समझना चाहिए।^{१८८} ऐसा लगता है कि इन्हीं विधानों के कारण साधुओं के और लोगों में तित्थोगाली के रचनाकाल तक काफी शिथिलाचार व्याप्त हो गया होगा और कुछ साधु एवं श्रावक मांस आदि का भक्षण करने लगे होंगे, जिसके प्रतिक्रियास्वरूप तित्थोगाली के कर्ता ने उपर्युक्त प्रसंग जोड़ा होगा।

(ड) सामाजिक-व्यवस्था

भारतीय सामाजिक सिद्धांत के अनुसार जीवन एक लम्बी यात्रा है जो मृत्यु के बाद भी अनन्त और अविचल है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है। यद्यपि उसकी अभिरुचियाँ समाज की अभिरुचियों के विरुद्ध नहीं जाती। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा अपनाया हुआ मार्ग पृथक् हो सकता है, लेकिन सबका उद्देश्य है—“अधिकांश लोगों का अधिकतम सुख।”

जाति—जैन ग्रन्थों में आर्यों की नौ जातियाँ बतायी गयी हैं—क्षेत्र आर्य, जाति-आर्य, कुल-आर्य, कर्म-आर्य, शिल्प-आर्य, भाषा-आर्य, ज्ञान-आर्य, दर्शन-आर्य और चरित्र-आर्य।^{१८९}

तित्थोगाली प्रकीर्णक में कुल आर्यों का उल्लेख आया है। इनमें ऋषभ देव द्वारा स्थापित, उग्र-कुल, भोग-कुल, राजन्य कुल और क्षत्रिय कुल हैं।^{१९०} इन्द्र ने ऋषभदेव के कुल का नाम इक्ष्वाकु-कुल रखा था।^{१९१} बाद में दशार्ह-कुल^{१९२}, हरिवंश^{१९३}, कुरुकुल^{१९४} आदि का वर्णन प्रसंगवश आया है।

वर्ण—तित्थोगाली में वर्ण-विभाजन का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यहाँ केवल दो ही वर्ण क्षत्रिय और वणिक^{१९५} का उल्लेख मिलता है। पंचम आरे में भी एक श्रेष्ठी के होने का वर्णन है। भरत चक्रवर्ती के १४ रत्नों में श्रेष्ठीरत्न का उल्लेख है।^{१९६}

पारिवारिक जीवन—सामान्यतया परिवार में बालक, स्त्री, माता, पिता, छोटे भाई-बहन और विधवा स्त्रियों का समावेश होता है।^{१९७} परिवार के सब लोग एक ही स्थान पर रहते, एक ही जगह पकाया हुआ भोजन करते तथा सर्व-सामान्य जमीन-जायदाद का उपभोग करते।^{१९८} तित्थोगाली में भी पारिवारिक जीवन का वर्णन प्राप्त होता है। जैन मतानुसार इसमें भी विभिन्न आरों में विकास-ह्रास का वर्णन प्राप्त होता है। इसके अनुसार सुषमा-सुषमा, सुषमा और सुषमा-दुषमा नामक आरे में परिवार की अवधारणा बिल्कुल नहीं रहती। इस काल को यौगलिक युग भी कहा जाता है क्योंकि इस काल में माता-पिता के युगल बच्चे (एक पुत्र और एक पुत्री) पैदा होते हैं। माता-पिता कुछ आयु शेष रहने पर युगल बच्चों को जन्म देकर कुछ समय बाद मरकर देवलोक में चले जाते हैं।^{१९९} कुछ दिन पश्चात् वे युगल आपस में पति-पत्नी रूप में रहने लगते हैं। उन्हें उस काल में न

घर की चिन्ता होती है न भोजन-वस्त्र की। ये सब चीजे उन्हें कल्पवृक्षों से स्वतः मात्र इच्छा करने पर प्राप्त हो जाती हैं।^{१००} उपर्युक्त तीनों आरों में यही स्थिति रहती है।^{१०१} सुषमा-दुषमा आरे के अंतिम काल में कुलकरों की उत्पत्ति होती है और तब कुलों की स्थापना होती है।^{१०२} सप्तम कुलकर के पुत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म हुआ। उसी समय एक अन्य युगल में एक (लड़के) की मृत्यु ताड़फल से हो गयी। उसकी बहन को कुलकर नाभि ने पालन-पोषण करने हेतु ग्रहण किया।^{१०३} युवा होने पर इस लड़की का विवाह ऋषभ से हुआ यह प्रथम विवाह था। इसमें वर पक्ष के सभी कर्म इन्द्र ने और वधुकर्म की रस्म इन्द्र की पत्नी ने सम्पन्न किया।^{१०४} पुनः ऋषभ के १०० पुत्र और दो पुत्री हुईं, तब से परिवार की अवधारणा प्रारम्भ हुई। अंतिम दो आरे में परिवार की बड़ी ही दयनीय अवस्था का चित्रण किया गया है। इस समय लोग मित्रों और स्वजनों से सदा विरोध रखने वाले, बड़े क्रोधी दुष्टतापूर्ण कार्यों में प्रवृत्त और लज्जारहित हो जाएंगे। इस समय पुत्र अपने माता-पिता का तिरस्कार करेंगे और उन्हें कटु वचन कहेंगे। पुत्रवधु जंत्री के समान और सास काली नागिन के समान होगी। बाल्यकाल में धूलि में साथ खेले हुए समवयस्क युवकों के साथ उस समय की कुल वधुएँ प्रगाढ़-स्नेह में आबद्ध रहेंगी। युवक भी अपने मित्र की पत्नी की मधुर मुस्कान से उन पर लुब्ध रहेंगे। उस समय की कुलवधुएँ निर्लज्ज हो हास्य, प्रेमालाप, भ्रूभंग और सविलास कटाक्ष आदि वेश्याओं के बहुत से लक्षणों को सीखेंगी।^{१०५} चतुर्विध संघ के एक अंग श्रावक-श्राविका वर्ग में दान, शील, तप और भावनाओं की निरंतर हानि होगी।^{१०६} छोटे दुषमा-दुषमा आरे में स्त्रियाँ विकराल कालिका या पिशाचिनी तुल्य वीभत्स, लज्जाविहीन और क्लेशों से आबद्ध होगी।^{१०७} उस काल के लोगों की अधिकतम आयु १३ से २० वर्ष तक होगी। आज के समय में जिस प्रकार महिलाएँ अपने पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कहती हैं—‘सौ बरसों तक जीओ’, उस प्रकार उस काल की माताएँ अपने पुत्रों को आशीर्वाद देती हुई कहेंगी—“सोलह वर्षों तक जीते रहो।” सोलह वर्ष की पूर्ण आयु भोगकर मरते समय उस समय के लोग पौत्र-दौहित्रों का भी मुख देख लेंगे। छह वर्ष से कुछ कम आयु में ही महिलाएँ पुत्र-पुत्रियों को जन्म देंगी। नर-नारी नग्न रहेंगे और उनमें संभोग आदि क्रिया पशुवत् होगी।^{१०८} वे सब लोग भरे-पूरे परिवारवाले और नितान्त निर्लज्ज और अविनीत होंगे।^{१०९} इस प्रकार से परिवार के निकृष्टतम रूप का वर्णन किया गया है।

स्त्रियों की दशा—तित्थोगाली प्रकीर्णक में उल्लिखित वर्णन से स्त्रियों की उन्नत अवस्था का अनुमान नहीं किया जा सकता। बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन था और अन्तःपुर में सैकड़ों स्त्रियाँ रखने का रिवाज था। ऋषभदेव की दो पत्नियाँ थीं^{११०} तो चक्रवर्ती भरत के अन्तःपुर में ६४ हजार स्त्रियों का उल्लेख है।^{१११} त्रिपृष्ठ वासुदेव के बत्तीस हजार पत्नियाँ थी तथा अचल वासुदेव की आठ हजार पत्नियाँ थी।^{११२} यदि उपर्युक्त उल्लेखों को लाक्षणिक और अतिशयोक्ति पूर्ण भी मान लिया जाये तो भी इतना निश्चित हो जाता है कि अपनी प्रभुता और ऋद्धि का प्रदर्शन करने में बहुपत्नियाँ भी एक साधन थी और इसे बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से देखा जाता था।

गणिका—जैन और बौद्ध काल में वेश्याएँ नगर की शोभा मानी जाती थीं। राजा उन्हें

आदर की दृष्टि से देखते थे और उन्हें अपनी राजधानी का रत्न समझते थे।^{११३} भारत में वेश्यावृत्ति प्रारम्भ से ही एक संस्था रूप में मान्य थी। ऋग्वेद में 'नृतु' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ नर्तकी होता है।^{११४} वैदिक साहित्य में इन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता था तथा इन्हें पंचमी जाति का कहा जाता था।^{११५} परंतु चाणक्य के अर्थशास्त्र के अनुसार वेश्याएँ सम्मानपूर्वक देखी जाती थीं, और वे राजा द्वारा प्रदत्त छत्र, चामर और सुवर्ण घट को धारण करती थीं। वात्स्यायन के कामसूत्र में वेश्याओं पर छह अध्याय लिखे गये हैं। वेश्याओं को यहाँ कुंभदासी, परिचारिका, कुलटा, स्वैरिणी, नटी, शिल्पकारिका, प्रकाश-विनष्टा, रूपाजीवा और गणिका इन नौ वर्गों में विभाजित किया गया है। इनमें सबसे अधिक सम्मान योग्य वे वेश्याएँ होतीं जो राजा द्वारा पुरस्कृत की जातीं तथा बुद्धिमान व्यक्ति जिनकी सराहना करते।^{११६} गणिका गण की सदस्य मानी जाती थी, तथा उसका रूप-लावण्य आर्थिक अथवा राजनीतिक गणों से सम्बन्धित व्यक्तियों की सर्वसाधारण सम्पत्ति थी।^{११७} प्राचीन भारत में सामान्य लोगों द्वारा गणिका आदरणीय मानी जाती थी। वात्स्यायन के अनुसार वह सुशिक्षित और सुसंस्कृत होती तथा विविध कलाओं में पारंगत होती थी।^{११८} गणिका को गणिकाओं के आचार-व्यवहार की शिक्षा दी जाती थी।^{११९}

गणिकाओं की उत्पत्ति—गणिकाओं की उत्पत्ति के बारे में एक कथा है कि एक बार भरत चक्रवर्ती के पास सामंत राजाओं ने उपहारस्वरूप अपनी-अपनी कन्याएँ भेजीं। राजा और रानी-दोनों ने उनका निरीक्षण किया। रानी ने पूछा—“यह किसका स्कंधावार है?” भरत ने उत्तर दिया—“सामन्त राजाओं ने इन्हें मेरे लिए भेजा है।” रानी ने सोचा—“अनागत की ही चिकित्सा करना ठीक है। कौन जाने राजा पर ये जादू न कर दें?” यह सोचकर रानी ने प्रासाद से गिरकर मरने की धमकी दी। भरत ने कहा—“यदि यही तुम्हारा निश्चय है तो ये मेरे घर के अंदर प्रवेश न कर सकेंगी।” इसके पश्चात् उन कन्याओं को भरत ने गण-राजाओं को सौंप दिया।^{१२०} यही आगे गणिका कहलायी।

तित्थोगाली में कोशा वेश्या का प्रसंगवश उल्लेख किया गया है। कोशा पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या थी। वह स्थूलभद्र से प्रेम करती थी। स्थूलभद्र ने कोशा के साथ उसके ही घर बारह वर्ष व्यतीत किये। कोशा भी स्थूलभद्र को छोड़कर अन्य पुरुष को नहीं चाहती थी। इसी समय नन्द राजा ने स्थूलभद्र के पिता मंत्री के मृत्यु के बाद उन्हें मंत्री पद ग्रहण के लिए संदेश भेजकर राजदरबार में बुलवाया। स्थूलभद्र कोशा के घर से निकलकर राजदरबार में पहुँचे पर मंत्रीपद ग्रहण करने के बदले वे मुनि बन गये और घोर तप करने लगे।^{१२१} लेकिन एक बार वे अभिग्रह ग्रहण कर वे पुनः कोशा के घर लौटे। कोशा ने समझा कि तप से पराजित होकर वे उसके साथ रहने आये हैं। अपने उद्यान-गृह में रहने के लिए उसने उन्हें स्थान दे दिया। तत्पश्चात् वह रात्रि के समय सर्वालंकार विभूषित होकर स्थूलभद्र के पास आयी, लेकिन स्थूलभद्र वहाँ चार महीने रहकर भी विचलित नहीं हुए। उल्टे उन्होंने कोशा को उपदेश दिया और उपदेश से ही वह किसी पुरुष के साथ सहवास करेगी, अन्यथा ब्रह्मचारिणी रहेगी।^{१२२}

शिक्षा-व्यवस्था—भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति का उद्देश्य था चरित्र का संगठन,

व्यक्तित्व का निर्माण, प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों को सम्पन्न करने के लिए उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण।^{१२३} उस काल में अध्यापक बहुत ही आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। आचार्य और विद्यार्थियों के सम्बन्ध बड़े ही प्रेमपूर्ण होते थे, और विद्यार्थी अपने गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। अच्छे शिष्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह गुरु के पढ़ाये हुए विषय को हमेशा ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है, प्रश्नोत्तर सुनता है, उसका अर्थ ग्रहण करता है, उस पर चिन्तन करता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करता है, उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है।^{१२४} कोई सुयोग्य शिष्य अपने अध्यापक के प्रति कभी अशिष्टता का व्यवहार नहीं करता, कभी मिथ्या भाषण नहीं करता, तथा एक जातिमंत अश्व की तरह उनकी आज्ञा का पालन करता है। यदि उसे पता लग जाए कि उसके आचार्य कुपित हो गये हैं तो प्रिय वचनों से उन्हें प्रसन्न करता है, हाथ जोड़कर उन्हें शान्त करता है और अपने प्रमादपूर्ण आचरण की क्षमा मांगता हुआ भविष्य में वैसा न करने का वचन देता है। वह न कभी आचार्य के बराबर में न उनके सामने और न उनके पीछे की तरफ बैठता है। कभी आसन या शय्या पर बैठकर वह प्रश्न नहीं पूछता, बल्कि यदि कुछ पूछना हो तो अपने आसन से उठकर, पास में आकर, हाथ जोड़कर पूछता है। यदि कभी आचार्य कठोर वचनों द्वारा शिष्य को अनुशासन में रखना चाहे तो वह क्रोध न करके शांतिपूर्वक व्यवहार करता है और सोचता है कि इससे उसका लाभ भी होनेवाला है। जैसे किसी अविनीत घोड़े को चलाने के लिए बार-बार कोड़ा मारने की आवश्यकता होती है, वैसे ही विद्यार्थी को अपने गुरु से बार-बार कर्कश वचन सुनने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि जैसे कोई विनीत घोड़ा अपने मालिक का कोड़ा देखते ही दौड़ने लगता है, वैसे ही आचार्य का इशारा पाकर सुयोग्य शिष्य सत्कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। वास्तव में वही विनीत कहा जाता है जो अपने गुरु की आज्ञा का पालन करता है, उनके समीप रहता है और उनका इशारा पाते ही काम में लग जाता है।^{१२५} लेकिन अविनीत विद्यार्थी भी होते थे। अध्यापक उन्हें अनुशासन में लाने के लिए खड्ग और चपत (चधेडा) मारते, दण्ड आदि से प्रहार करते और आक्रोश वचन कहते।^{१२६} दुर्विनीत शिष्य अपने आचार्यों पर भी हाथ उठा देते थे। वे अपने आचार्य की बात नहीं सुनते और अपने मन की बात किया करते।

गुरु-शिष्य—तित्थोगाली प्रकीर्णक में विनीत-दुर्विनीत शिष्य तथा अच्छे-बुरे आचार्य का भी उल्लेख आया है। इसमें आगामी उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे दुषमा-सुषमा काल में तीर्थकर विमलवाहन के तीर्थ में चरित्र और आचार व्यवहार की उत्कृष्टता को रेखांकित करते हुए कहा गया है—आचार्य चन्द्रमा के समान शीतल होंगे तथा उपाध्यायगण क्षीर समुद्र सदृश होंगे। उस समय के लोग धर्माधर्म का विचार करनेवाले होंगे, वे सब सत्य-शौच आदि धर्मों से युक्त तथा गुरु-साधु का आदर-सत्कार करनेवाले होंगे। इस समय विद्वान् पुरुषों का सम्मान होगा तथा स्वाध्याय की वृद्धि होगी।^{१२७}

दुर्विनीत शिष्य और आचारहीन गुरु का वर्णन पंचम दुषमा आरे के वर्णन क्रम में किया गया है। “उस समय के साधु (शिष्य) गुरुकुलवास (गुरु की आज्ञा में रहने) एवं श्रमण

धर्म के पालन में मन्दरुचि तथा मन्दबुद्धि होंगे। यह वह काल होगा, जिसमें मुण्डितों की संख्या अधिक पर सच्चे साधुओं की संख्या अति अल्प होगी।^{१२८} दुषमा काल के प्रभाव के कारण शिष्य अपने आचार्यों का सम्मान-सत्कार आदि से पूजा नहीं देते।^{१२९} अन्य जैन आगमों में भी दुर्विनीत शिष्यों का वर्णन प्रचुरता से किया गया है।

।^{१३३} इस समय आचार्यों के तीन प्रकार थे—कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य।^{१३०} तित्थोगाली में लेखाचार्य का उल्लेख आया है। आगामी उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर भगवान महापद्म जब आठ वर्ष के होंगे, तब उनके माता-पिता उन्हें लेखाचार्य के पास लेखशाला में भेजेंगे। उस समय उन्हें विविध कौतुक अलंकारों से सज्जित किया जाएगा और देवराज शक्र लेखाचार्य के समक्ष ही उन्हें उच्च आसन पर आसीन कर उनसे शब्द का स्वरूप पूछेंगे। तीन ज्ञान के धारक बालक महापद्म इन्द्र को शब्द के लक्षण, अवयव आदि की विस्तारपूर्वक व्याख्या कर व्याकरण के गूढ़ रहस्य बताएंगे।^{१३१} इस प्रसंग से शिष्यों के आदर-सत्कार करने का संकेत भी प्राप्त होता है।

गणित और ज्योतिष—जैन आचार्यों ने ज्योतिष और गणित विद्या में काफी प्रगति की थी। जैन आगमों के अन्तर्गत उपांगों में सूर्यप्रज्ञप्ति इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। तित्थोगाली प्रकीर्णक में गणित का प्रयोग मिलता है। विभिन्न तीर्थकरों, चक्रवर्तियों और बलदेवों-वासुदेवों के शरीर की ऊँचाई, उनकी आयु, उनके बीच का अंतर वर्ष आदि का वर्णन, गणित शास्त्र के माध्यम से किया गया है। इन पुरुषों की लम्बाई धनुष प्रमाण में, आयु, सागरोपम, पल्योपम, पूर्व और वर्ष में तथा अन्य वस्तुओं की माप योजन प्रमाण में की गयी है।^{१३२} समय, वर्ष आदि का प्ररूपण इस शोध प्रबंध के द्वितीय अध्याय—“काल-चक्र विवेचन” में किया गया है। तीर्थकरों आदि के माप, आयु का वर्णन तृतीय अध्याय—“तित्थोगाली में तीर्थकर” में प्रस्तुत है। इसके साथ ही काल-चक्र का प्रमाण और संचरण, उसके विभिन्न आरों का वर्णन भी सागरोपम आदि गणितीय प्रमाण के द्वारा किया गया है। जो द्वितीय अध्याय में ही प्रस्तुत किया गया है। ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रह, नक्षत्र, जन्म-नक्षत्र तथा जन्म के समय ग्रहों आदि की स्थिति का वर्णन तित्थोगाली में प्राप्त होता है। सभी चौबीस तीर्थकरों का गर्भावतरण, जन्म, निष्क्रमण, दीक्षा, केवल ज्ञान प्राप्ति तथा निर्वाण का जो समय, नक्षत्र, दिन आदि था उन सबका वर्णन किया है जो तृतीय अध्याय में उन-उन तीर्थकरों के परिचय क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इसमें वर्तमान में प्रचलित सभी २८ नक्षत्रों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। पंचम दुषमा आरे के प्रारम्भ में दुष्टबुद्धि कल्कि राजा के जन्म के समय के ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति का उल्लेख तित्थोगाली में इस प्रकार किया गया है—इसका जन्म पाटलिपुत्र में भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग २००० वर्ष बाद हुआ बताया गया है।^{१३३} इसका जन्म चैत्र शुक्ल अष्टमी के दिन चन्द्र के रौद्र योग में आने पर वृष्टिकरण में सूर्य के उदय के समय पत्र कुल में हुआ।^{१३४} जन्म स्थान में सूर्य के विष्णुदेवता में शनिश्चर के योग के साथ शुक्र का भौम (बुध) द्वारा और बृहस्पति का चन्द्र द्वारा प्रहत होने पर एक ही तिथि और एक ही पक्ष में चन्द्र और सूर्य-दोनों के अस्तमान के समागम में सप्तर्षि मण्डल के धूम्र धूमकेतु द्वारा प्रमर्दित किया गया।^{१३५} इस प्रकार तित्थोगाली प्रकीर्णक का जैन परम्परागत गणित और ज्योतिष के क्षेत्र में भी योगदान परिलक्षित होता है।

गेय, नाट्य और वाद्य—संगीत और नाट्यशास्त्र में वाद्य, गेय, नाट्य और अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। गेय के चार प्रकार बताये गये हैं—उक्खित्त (उत्क्षिप्त), पत्तय (पादात्त), मंदय (मंदक) और रोविंद अथवा रोइयावसाण (रोचितावसान)।^{१३६} नाट्य के अंचिय (अंचित), रिभिय (रिभित), आरभड (आरभट) और भसोल—ये चार प्रकार बताये गये हैं। नाट्यविधि में अभिनय का होना आवश्यक है, इसलिए दिट्टितिय (दाष्टान्तिक), पांडुसुत, सामंतोवायणिय (सामंतोपयातनिक) और लोगमज्जावसित (लोकमध्यावसित) नाम के चार अभिनयों का उल्लेख जैन सूत्रों में किया गया है।^{१३७}

तित्थोगाली प्रकीर्णक में विभिन्न प्रकार के वाद्यों, गेय और नाट्यविधि का उल्लेख हुआ है। वाद्यों में तुरही^{१३८}, श्रेष्ठ पटह, भेरि, झल्लरि, दुंदुभी, रांख आदि का वर्णन है।^{१३९} ऋषभदेव तीर्थकर के जन्म के समय जन्मोत्सव मनाती हुई दिशाकुमारियों के बहुप्रकार से गीत गाने के उल्लेख^{१४०} के साथ-साथ विभिन्न प्रकार हाथ-पैरों और आँखों की भाव-भंगिमाओं से कौतुक करने^{१४१} तथा जन्मोत्सव में नाटक का मनोरंजन करने का उल्लेख है।^{१४२} इसमें ऋषभदेव द्वारा विभिन्न शिल्पों के साथ चित्रशिल्प का प्रवर्तन करने का भी उल्लेख किया गया है।^{१४३}

चैत्य-स्तूप—चैत्य और स्तूप श्रमण परम्परा में काफी प्रचलित रहे हैं। प्रत्येक तीर्थकर को एक वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। इसका उल्लेख पूर्व में कर दिया गया है। इन वृक्षों को चैत्य वृक्ष कहा गया है।^{१४४} इसी तरह पंचम आरे के दो हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर कल्कि राजा जब अपनी राजधानी (पाटलिपुत्र) में घूमता है तो उसे पाँच स्तूप दिखायी देते हैं। लोगों से पूछने पर पता चलता है कि इन्हें नंद राजा ने बनवाकर इसमें अकूत सोना-चाँदी रत्न आदि गाड़ रखा है।^{१४५} इससे पता चलता है कि स्तूपों में धन सम्पत्ति भी रखी जाती थी। यों स्तूप मृतक के स्थान पर भी निर्मित किये जाते थे।^{१४६}

मंत्र-तंत्र, ऋद्धि, वशीकरण आदि—तित्थोगाली में मंत्रों-तंत्रों आदि का वर्णन भी आया पर इन्हें बहुत ही हेय दृष्टि से देखा गया है। जो जैन साधु तंत्र-मंत्र आदि का प्रयोग करता है, उसे निकृष्ट माना गया है। पंचम एवं षष्ठ आरा दुषमा और दुषमा-दुषमा के भाव का प्ररूपण करते हुए तित्थोगाली में कहा गया है कि—“उस समय पाखण्डी साधु होंगे जो मंत्र, यंत्र, इन्द्रजाल आदि कौतुक विद्या एवं मण्डल मुद्रायोग आदि के द्वारा वशीकरण, उच्चाटन आदि हीन क्रियाओं में अहर्निश तत्पर रहेंगे।^{१४७} वशीकरण आदि विद्या की हानि होगी।^{१४८} इसमें रोहिणी सहित सोलह विद्याओं का संकेत मात्र है। उनके नाम नहीं गिनाये गये हैं।^{१४९} ऋद्धियों की चर्चा भी तित्थोगाली में है। जैन सूत्रों में कई प्रकार की ऋद्धियों का उल्लेख मिलता है। स्थूलभद्र मुनि जब भद्रबाहु के पास चतुर्दश पूर्वों के अध्ययन के निमित्त वहाँ थे, उसी समय ग्यारहवें पूर्व के अध्ययन क्रम में उनकी सातों साध्वी बहनें उनके दर्शनार्थ आयीं। उस समय स्थूलभद्र ने अपनी गारवश्रुतऋद्धि से अपना रूप सिंह का बना लिया था। यह पूर्वों से उन्होंने सीखा था।^{१५०} इन्द्र द्वारा अपनी ऋद्धि से पाँच वैक्रिय शरीर बनाने का भी उल्लेख है।^{१५१}

स्वप्न और उसके शुभाशुभ फल—भारतीय समाज में स्वप्न और उसके फल पर विचार और उन पर विश्वास करने की प्राचीन परम्परा रही है। विभिन्न प्रकार के स्वप्न और उनके देखने के समय के अनुसार उनके फल भी अलग-अलग निश्चित किये गये हैं। जैन परम्परा में स्वप्नों पर विस्तृत रूप से विचार गया है। तीर्थकरों; चक्रवर्तियों, बलदेवों और वासुदेवों के गर्भ में आने के बाद उनकी माताओं द्वारा अलग-अलग संख्या में स्वप्न देखने का उल्लेख जैन सूत्रों में प्राप्त होता है। दिगम्बर परम्परानुसार तीर्थकरों की माताएँ १६ स्वप्न देखती हैं और श्वेताम्बर मान्यतानुसार १४ स्वप्न। भारतीय स्वप्न शास्त्रों में मुख्य स्वप्नों की कुल संख्या ७२ बतलायी गयी है। इनमें से तीस महास्वप्न कहे गये हैं।

तित्थोगाली प्रकीर्णक में तीर्थकरों की माताओं के १४ स्वप्न देखने का उल्लेख किया गया है।^{१५२} इसका वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जिन माताएँ निम्न १४ स्वप्न देखती हैं—१ शंख, चन्द्र और मोगरे के फूल सदृश गौरवर्ण के उभरे और पेशल स्कन्धोंवाले, सुन्दर तथा तीखे सींगोवाले देदीप्यमान वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते हुए। २. ऐरावत के समान सँड को ऊपर उठाये हुए, शुभ्र श्वेत दाँतों एवं श्रेष्ठ सप्तांग वाले सुन्दर गजराज को सामने ३. कंधे पर फैलाकर शोभायमान केसर, मधु के समान पिंगल वर्ण की आँखों, सुन्दर लम्बी पूँछ और तीखे नखोंवाले मृगारि सिंह को अपने सम्मुख ४. गजराजों में श्रेष्ठ चार-चार दाँतों वाले श्वेत हाँथियों द्वारा लक्ष्मी का अभिषेक ५. अनेक प्रकार के रत्नों के साथ गूँथी हुई, उसमें पिरोये गये अनेक प्रकार के कमलोत्पलादि में विकसित पुष्पों से मनमोहक सुगन्धवाली और भ्रमरों के झुण्डों द्वारा सेवित अतिकमनीय अपूर्व माला ६. उदयाचल के उच्चतम शिखर पर स्थित उज्ज्वल सूर्यमण्डल को जो समस्त संसार को प्रकाशित कर रहा है, अपने सामने ७. विविध दिव्य रत्नों से जटित, परम रम्य, महांशुक (अनुपम वस्त्र विशेष) से निर्मित, उत्तम वज्र की सारभूत, बिजली की झलक के समान उज्ज्वल प्रकाशमान चंचल पताका से युक्त मानों आकाश को मापने के लिए उत्तुंग गगन के उपरितन छोर को स्पर्श करते हुए, ८. पृथ्वीतल पर प्रतिष्ठित महान विशालकाय महेन्द्र ध्वज को अपने सम्मुख स्थित हुआ ९. हेमन्त ऋतु के उदीयमान सूर्य के समान नयनाभिराम प्रभावाले, सुगन्धित जल से परिपूर्ण, पद्म के पिधान से ढके हुए दिव्य कंचन कलश १०. स्फटिक रत्न के समान स्वच्छ जल से परिपूर्ण, भाँति-भाँति के पक्षी समूहों से सेवित और विकसित पद्मसरोवर ११. प्रचुर सहस्रों लहरों से शोभायमान, अनेक प्रकार के मत्स्यों एवं कच्छपों से संकुलित और गंभीर गर्जन करते हुए क्षीरसमुद्र, १२. वज्र की किरणों के कवच को छोड़ते हुए, पताकाओं की पक्तियों से भरे हुए, गगनचुम्बी विशाल सुरम्य प्रासाद १३. मंदराचल की गुफा के समान गहन गम्भीर, प्रमोद बढ़ानेवाला, क्रीड़ा योग्य, अत्यन्त मनोरम और अक्ष श्रीसम्पन्न महान् नागभवन और १४. धूम रहित ईंधन से प्रज्वलित, अग्नि की तरह सभी दिशाओं को अपने ऐश्वर्यपूर्ण किरणों से रंजित करनेवाले रयणोच्चय, वह रयणोच्चय अग्नि में जलते हुए प्रचुर आहुति की हवा के झोकों से धूमरहित होने पर कुसुम परिणत होकर प्रदक्षिणा करता हुआ जान पड़ता है।

इन चौदह स्वप्नों को देखकर वे माताएँ अपने पतियों से इनका फल पूछतीं हैं। स्वप्नों

को सुनकर वे कुलकर स्वप्न का फल इस प्रकार कहते हैं—“तुम्हारे महापराक्रमी तथा कीर्तिवान पुत्र होंगे। वे मुझसे भी अधिक पराक्रमी और सत्वशाली होंगे इसमें कोई संदेह नहीं है। वे मुझसे भी अतिविशिष्ट स्थान को प्राप्त करेंगे।^{१५३} इसके पश्चात् प्रभात होने पर उन माताओं के पास शक्रेन्द्र और ईसानेन्द्र पहुँचे। इन दम्पतियों द्वारा स्वप्न का फल पूछे जाने पर दोनों इन्द्रों ने स्वप्न का फल इस प्रकार बतलाया—“आपने जो ये अतिशय और कल्याण-दर्शनयुक्त स्वप्न देखे हैं, इसके फलस्वरूप आपके उत्तम ज्ञान से युक्त पुत्र उत्पन्न होंगे। वे अपने क्षेत्रों में पृथ्वी का पालन करनेवाले महापराक्रमी होंगे। वे सौ शिल्पों तथा बहत्तर कलाओं की शिक्षा देंगे। वे सब उत्तम भोगों को भोगकर, राज्य पर शासन कर, दान देकर और श्रामण्य का पालन कर अजर-अमर स्थान (सिद्धलोक) को प्राप्त करेंगे।^{१५४} अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थों-भगवती^{१५५} ज्ञाताधर्मकथा^{१५६} और कल्पसूत्र^{१५७} में भी इन्हीं चौदह स्वप्नों का वर्णन है।

दिगम्बर परम्परा में ‘जिन माताओं’ द्वारा देखें गये स्वप्नों की संख्या १६ मानी गयी है। महापुराण में ये सोलह स्वप्न और उनके फल निम्न प्रकार हैं^{१५८}—

स्वप्न	—	स्वप्न फल
१. हाथी	—	उत्तम पुत्र
२. उत्तम बैल	—	समस्त लोक में श्रेष्ठ
३. सिंह	—	अनन्त बल से युक्त
४. माला	—	समीचीन धर्म प्रवर्तक
५. लक्ष्मी	—	सुमेरु पर्वत के मस्तक पर देवों द्वारा अभिषिक्त
६. पूर्ण चन्द्रमा	—	लोगों को आनन्द देने वाला
७. सूर्य	—	देदीप्यमान प्रभा का धारक
८. युगल कलश	—	अनेक निधि को प्राप्त करनेवाला
९. युगल मछली	—	सदासुखी
१०. सरोवर	—	अनेक लक्षणों से शोभित
११. समुद्र	—	केवली
१२. सिंहासन	—	जगद्गुरु होकर साम्राज्य प्राप्त करनेवाला
१३. देवविमान	—	स्वर्ग से अवतीर्ण
१४. नागेन्द्र भवन	—	अवधि ज्ञान से युक्त
१५. चमकती रत्नराशि	—	गुणों की खान और
१६. निर्धूम अग्नि	—	कर्मरूपी ईंधन को जलानेवाला।

माताओं द्वारा दूसरे स्वप्न में उत्तम वृषभ को मुँह में प्रवेश करते हुए देखा गया था, इसलिए नाभिराय कहते हैं कि तुम्हारे (मरुदेवी के) गर्भ में वृषभदेव प्रवेश करेंगे।

इसके अलावे जैन साहित्य में चक्रवर्तियों और नारायणों की माताओं द्वारा देखे गये स्वप्नों का भी वर्णन प्राप्त होता है। परंतु तित्थोगाली में इनका कोई उल्लेख नहीं आया है। भरत चक्रवर्ती की माता के छह स्वप्न हैं^{१५९}—१. सुमेरु पर्वत २. सूर्य ३. चन्द्रमा ४. सरोवर ५. पृथ्वी का ग्रसा जाना तथा ६. समुद्र।

नारायण की माता के स्वप्न^{१६०}—नारायण कृष्ण के गर्भ में आने पर देवकी ने निम्न सात स्वप्न देखे—१. सूर्य २. चन्द्रमा ३. दिग्गजों द्वारा लक्ष्मी का अभिषेक ४. आकाश से नीचे आता विमान ५. देदीप्यमान अग्नि ६. रत्नराशि की किरण से युक्त देवध्वजा और ७. मुख में प्रवेश करता हुआ सिंह।

महापुराण में भरत चक्रवर्ती द्वारा देखे गये १६ स्वप्नों का भी वर्णन प्राप्त होता है।^{१६१} ये स्वप्न उन्होंने रत्न प्राप्ति के पूर्व देखे थे—१. पर्वत पर २३ सिंह २. सिंह के साथ हिरणों का समूह ३. भारी बोझ से झुकी पीठवाला घोड़ा ४. शुष्क पत्ते खाने वाले बकरों की समूह ५. हाथी के ऊपर बैठे वानर ६. अन्य पक्षियों द्वारा त्रस्त उलूक ७. आनन्द मनाते भूत ८. मध्य भाग में सूखा तालाब ९. मलिन रत्न-राशि १०. कुत्ते का नैवेद्य आदि से सत्कार ११. जवान बैल १२. मण्डल से युक्त चन्द्रमा १३. शोभा नष्ट दो बैल १४. मेघों से आवृत सूर्य १५. छाया रहित सूखा वृक्ष और १६. जीर्ण पत्तों का समूह। उपर्युक्त सभी स्वप्न शुभ फल वाले माने गये हैं।

उत्सव—तित्थोगाली में मुख्यतः धार्मिक उत्सव का वर्णन है। यों जैन परम्परा में तीर्थकरों के गर्भान्तरण, जन्म, दीक्षा, कैवल्य प्राप्ति और निर्वाण—इन पाँच अवसरों पर उत्सव मनाये जाने का उल्लेख है। तित्थोगाली में प्राप्त उत्सव का वर्णन अगले धार्मिक-व्यवस्था नामक उपशीर्षक में प्रस्तुत है।

(च) धार्मिक-व्यवस्था

भारतवर्ष आदिकाल से धर्मों का देश रहा है। प्रारम्भ से धर्म प्राचीन भारतीय जीवन के आदर्श में एक केन्द्रीय भावना रही है।

श्रमण-ब्राह्मण—मेगास्थनीज ने भारतीय ऋषियों को ब्राह्मण और श्रमण इन दो भागों में बाँटा है। श्रमण जंगलों में रहते थे और वे लोगों की परम श्रद्धा के पात्र थे। श्रमण (श्रमण) और माहण (ब्राह्मण) का उल्लेख जैन सूत्रों में बहुत श्रद्धा के साथ किया गया है। वस्तुतः प्रज्ञा के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को गढ़ने में श्रमणों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। सामान्य जनता ही नहीं, बल्कि राजे-महाराजे तक उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। श्रमण चातुर्मास को छोड़कर वर्ष में लगभग आठ महीने एक जनपद से दूसरे जनपद में बिहार (जणवयविहार) करते हुए धर्म का उपदेश देते फिरते। वे प्रायः सामान्य जनों द्वारा, पथिकों और यात्रियों के लिए नगर अथवा ग्राम के पास बने हुए चैत्यों अथवा उद्यानों में ठहरा करते। सामान्य जन उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते, उद्यानों में उनके दर्शनों के लिए जाते, उनसे जिज्ञासा करते, उनके लिए अन्न-पान का प्रबन्ध करते तथा उन्हें रहने के लिए स्थान (वसति), आसन (पीठ), काष्ठपट्ट (फलक), शय्या और संस्तारक आदि आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते।^{१६२}

धर्म-संघ—तित्थोगाली में श्रमण परम्परा के ही एक अंग जैन-परम्परा से सम्बन्धित विवरण प्राप्त होता है। तित्थोगाली में उल्लिखित जैन संघ चार भागों में विभक्त है—श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका। इसमें विभिन्न तीर्थकरों के तीर्थ-काल में इन चारों अंगों की संख्या, प्रमुखों के नाम आदि का उल्लेख इस ग्रन्थ में प्राप्त है। इन सबका वर्णन तृतीय अध्याय में किया जा चुका है।

निर्ग्रन्थ श्रमणों का संकटमय जीवन—संघ-व्यवस्था की स्थापना के पहले श्रमणों को अपने चरित्र की रक्षा के लिए एक से एक कठिन संकटों का सामना करना पड़ता था। उन दिनों एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन की अनेक कठिनाईयाँ थी। चोर-डाकू और जंगली जानवरों के भीषण उपद्रव हुआ करते थे। राजविद्रोह होने पर संयंत्र अव्यवस्था फेल जाती थी। दुर्भिक्ष और महामारी आदि रोग सर्वनाश कर डालते थे। वसित (ठहरने) की कठिन समस्या थी। जैन श्रमणों तथा अन्य तीर्थिकों का वाद-विवाद होता था। और रोग से पीड़ित होने पर साधुओं को भयंकर कष्ट सहने पड़ते थे। ऐसी संकटकालीन स्थिति में भी जैन श्रमण व्रत, निम और संयम का दृढतापूर्वक पालने करने के लिए दत्तचित रहते थे। ऐसा करते हुए कितने ही नाजूक ऐसे क्षण आते जब जीवन-मरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती और उस समय सुख-दुख के प्रति समभाव रखते हुए, शांतिपूर्वक प्राणों का त्याग करने में ये अपना परम सौभाग्य समझते।^{१६३} तित्थोगाली में भी श्रमणों के कष्टों का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें कहा गया है कि इस अवसर्पिणी काल के पंचम दुषमा और षष्ठ दुषमा-दुषमा नामक आरे में श्रमणों को महान कष्ट का सामना करना पड़ेगा। उस समय कल्कि नामक राजा श्रमणों के भिक्षा पिंड से 'कर' माँगेगा और न देने पर उन्हें गाय के बाड़े में बंद कर देगा।^{१६४} उसी समय पाटलिपुत्र में द्वादश वर्ष के भीषण अकाल में साधुओं को भिक्षा भी नहीं मिलेगी।^{१६५} उसी समय गंगा-सोन नदियों में भयंकर बाढ़ आएगी जिसमें बहुत साधु-साध्वी डूब जाएंगे या फिर वहाँ से चले जाएंगे।^{१६६} उस समय पाडिवत नामक धीर-वीर आचार्य होंगे जो इन सब कष्टों को सहन करते हुए आत्मा में रमण करेंगे।^{१६७} दुषमा आरे के अन्तिम समय दुष्प्रसह नामक आचार्य होंगे जो अकेले बिना संघ के विचरण करेंगे और कष्टों को समभाव से सहन करेंगे।^{१६८} इस समय संघ लगभग नष्ट हो जाएगा। छठे काल में धर्म-तीर्थ का लोप हो जाएगा केवल पाखण्डी साधु ही रहेंगे।

लौकिक-देवी देवता—देवी-देवताओं का अस्तित्व भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। जैन-सूत्रों में इन्द्र, स्कन्ध, शक्र, रुद्र, नाग, यक्ष, भूत, मह आदि का उल्लेख प्राप्त होता है जो जैन परम्परा में लौकिक देवी-देवता माने गये हैं।^{१६९} तित्थोगाली में शक्रेन्द्र^{१७०}, ईसानेन्द्र^{१७१}, नेगमेसिदेव^{१७२}, दिशाकुमारियाँ^{१७३} इन्द्र की पत्नियाँ और नगरदेवता^{१७४} का भी उल्लेख है।

महोत्सव अभिषेक—तित्थोगाली में मुख्यतः तीर्थकरों के जन्मोत्सव और जन्माभिषेक का वर्णन उपलब्ध होता है। गर्भ के नौ मास बीतने तथा दसवें मास के प्रारम्भ होने पर चैत्र कृष्णा अष्टमी के बाद प्रथम रात्रि में चन्द्रोदय के समय उत्तराषाढा नक्षत्र में जिनमाताएँ क्रमशः शुभलक्षणों से युक्त महासत्वशाली पुत्रों को जन्म देती हैं। उस समय नाना प्रकार

के विचित्र रत्न पृथ्वी पर गिरे तथा आकाश में मधुर एवं गम्भीर शब्दों में दुंदुभी बजने लगी। नगाड़ों-गीतों-वाद्यों, देवों की आवाज, कहकहों तथा घड़े जैसी शब्दावली से वह रात भी दिन की तरह हो गयी। उर्ध्व-अधो और तिर्यक् लोक के अपने निवास स्थानों में स्थित दिशाकुमारियाँ अवधि ज्ञान से जिनों को उत्पन्न हुआ जानकर, जिनभक्ति की प्रसन्नता से अपने दिव्य विमानों में (आते हुए) आपस में ऐसी बातें करने लगीं कि 'ये सब आगत देव योजन प्रमाण तक जीवित रहें।' वे सब दिशाकुमारियाँ हर्षोन्माद से प्रफुल्लित अंगों से शीघ्रतापूर्वक मधुर स्वर में पदयुक्त स्तुति से इस प्रकार वन्दना करने लगी- "हे नवकमल सदृश कोमल आखोंवाली, श्रुतरत्नों के ज्ञाता जिनचन्द्र को अपनी कुक्षि में धारण करने वाली, तुम्हें नमस्कार हो। विशाल त्रिभुवन को अलंकृत करने वाले जगद्गुरु एवं प्रथम तीर्थकर को जन्म देनेवाली, तुम जयवन्त हो।^{१७५} वे दिशाकुमारियाँ कहती हैं- "हम दिशाकुमारियाँ भक्ति से परिपूर्ण होकर भव-भ्रमण को नष्ट करने वाले जिनचन्द्र भगवान के जन्मोत्सव को विनयपूर्वक मनाएंगी, आप भयभीत मत होना।^{१७६}"

तत्पश्चात् सौमनस, गंधमार्दन, विद्युत्प्रभ, मालवंत तथा आठों दिशाओं की वासी देवियाँ अधोलोक (पृथ्वी) में आयीं। इनमें से भोगंकर, भोगवती, सुभोगा, भोगमालिनी, सुवत्सा, सुमिता, अनिदिता तथा पुष्पमाला ये सब दिशाकुमारियाँ प्रसन्न मन से शुभ्र पवन के द्वारा जन्मभूमि वनखंड को योजन पर्यन्त तक साफ करती हैं। उस क्षेत्र को अमनोज्ञ, दुर्गन्ध, तृण तथा घास आदि से रहित करके ये सब गीत गाती हुई माताओं के पास बैठती हैं। मेघंकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, विचित्रा, तोयधारा, बलाहका तथा वारिषेणा-उर्ध्वलोक की निवासिनी ये दिशाकुमारियाँ नन्दनवन के शिखर पर विद्युत्युक्त गर्जन के साथ मेघ को उत्पन्न कर, सुगन्धित जल से धूल को द्रवित कर तथा वहाँ की भूमि को कीचरहित करके वहाँ की वायु और मन को स्वच्छ कर उस जन्मभूमि को सुरभिगंध, कुसुमगंध, सुगन्ध आदि से सुवासित करती हैं। वहाँ नवसरोवर में पाँच रंग के कमल, धरती पर विमल पर्वत तथा आकाश में निर्मल नक्षत्र शोभित होते हैं। वहाँ चारों दिशाओं को कालागरु, कुदरुक, धूप, मद्य आदि से धूमयित करके देवकन्याएँ गीत गाती हुई मुद्रा में बैठती हैं। रुचकपर्वत के पूर्व शिखर पर रहनेवाली-नन्दुत्तरा, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्द्धना, विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता-ये आठों दिशाकुमारियाँ जिनमाताओं के पूर्व दिशा में हाथ में दर्पण लेकर बैठती हैं। रुचक पर्वत के दक्षिण शिखर पर रहने वाली-समाहारा, सुप्रतिज्ञा, सुप्रबुद्धता, यशोधरा, लक्ष्मीवती, शेषवती, चित्रगुप्ता, वसुन्धरा आदि आठ दिशाकुमारियाँ जलपात्र लेकर जिनमाताओं की दक्षिणी दिशा में गीत गाती मुद्रा में बैठती हैं। रुचकपर्वत के पश्चिम शिखर पर रहनेवाली-इला, सुरा, पृथ्वी, एकनाशा, पद्मावती, नवमी, भद्रा और सीता-ये आठ दिशाकुमारियाँ पंखा लेकर गाती हुई मुद्रा में जिनमाताओं के पश्चिम दिशा में बैठती हैं। रुचक पर्वत के उत्तर शिखर पर की निवासिनी आठ-अलंवुसा, मिस्रकेती, पुंडरिकिणी, वारुणि, आशा, सर्वा, श्री, हीं-दिशाकुमारियाँ हाथ में चँवर लेकर दशों क्षेत्रों की जिनमाताओं के उत्तर दिशा में मधुर गीत गाती हुई बैठती हैं। रुचक पर्वत के विदिशा में स्थित शिखर पर रहने वाली-चित्रा, चित्रकनका, सत्तेर तथा सौदामिनी-ये चार दिशाकुमारियाँ जिनवरमाताओं के चारों दिशाओं में स्थित होकर मधुर गीत गाती हुई विद्युत्

जैसा प्रकाश फैलाती हैं। रुचक पर्वत के मध्य क्षेत्र के चारों दिशा की चार चतुर दिशाकुमारियाँ—रुचका, रुचकयशा, सुरुचा, रुचकावती, मधुर स्वर में गाती हुई जिनमाताओं के चारों ओर हाथ में दीप लेकर बैठती हैं। रुचक पर्वत के मध्य क्षेत्र की विदिशा में रहनेवाली—विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता नामक चार दिव्य देवियाँ जिनेन्द्रों के पद्म सदृश नाल (गर्भावरण) को काटकर उसे रत्नपेटिका में रखकर साफ भूमि में गाड़ती हैं। वे दिशाकुमारियाँ सभी जिनवरों को सर्वप्रथम हरियाली (तृण-विशेष) बाँधकर दक्षिण-पूर्व और उत्तर दिशा में कदलीगृह बनाती हैं। तत्पश्चात् उस जन्मभूमि के बहुमध्य भाग में दिव्यशक्ति से चतुःशाला का निर्माण करती हैं और चतुःशाला के मध्य में तीन श्रेष्ठ सिंहासनों की रचना करती हैं। इसके बाद वे सब जिन सहित जिनमाताओं को दक्षिणी चतुःशाला में स्थित सिंहासन पर बैठा कर सतपाक और सहस्रपाक तेल से मालिश कर फिर धीरे से सुगन्धयुक्त जल से उनके शरीर को साफ कर पूर्वी चतुःशाला में ले जाती हैं। वहाँ उन्हें सिंहासन पर बैठाकर कमलपत्रों से ढके हुए सुगन्धित दूध से भरे मणि-स्वर्ण-रत्नयुक्त कलशों से दसों माताओं को विधिपूर्वक स्नान करा उन्हें अलंकृत कर फिर शिशु जिनवरों को दिव्य आभूषणों से विभूषित करती हैं। अब उन्हें उत्तरी भवन में ले जाकर सिंहासन पर बैठाकर नन्दनवन से हरिचन्दन की लकड़ी लाकर समिधा बनाकर निरंतर अग्नि होम करती हैं। फिर भूमि कर्म (शरीर रक्षा के लिए किया जाने वाला भस्म-लेपन, सूत्र बंधनादि) करके जिनों की रखवाली में प्रवृत्त हो जाती हैं। वे सब कुमारियाँ तीर्थकरों के कान के मूल भाग में रम्य मणिमय पत्थर (आभूषण) पहनाती हैं। हिलोरे देती हैं तथा 'जिनदेव लम्बी उम्रवाले हों' इस प्रकार के आशीर्वचन कहती हैं। तब वे दिशाकुमारियाँ विशुद्ध चावल से भरा हुआ चाँदी का बर्तन हाथ में लेकर तीर्थकरों के सामने अष्ट मंगल करती हैं। सभी ऋतुओं में जल-थल में सुरभित होने वाले पंचरंगी फूलों से पूजा कर तथा कौतुक गृह का निर्माण कर वे सब कुमारियाँ चारों दिशाओं में घोषणा करती हैं कि तीर्थकरों के माता-पिता तथा तीर्थकरों के लिए जो भी मन से भी पापपूर्ण बात सोचेगा उसका सिर स्वतः फूट जाएगा। इस प्रकार उद्घोषणा कर जिनों को जन्मभवन में सुव्यवस्थित रखकर वे सब प्रसन्न मन से शयन के लिए चली जाती हैं। उनके कर्णप्रिय सप्तस्वरों में गाये गीतों को सुनते हुए जिनमाताएँ भी निद्रामग्न हो गयीं।^{१७७}

तित्थोगाली में आगे वर्णन किया गया है कि पाँचों भरत और पाँचों ऐरावत क्षेत्रों में एक साथ दस प्रथम जिनों के जन्म के पश्चात् सौधर्मकल्प के अधिपति इन्द्र और शक्र का विमान अचानक कम्पित होता है, उनके कुंडल विचलित होते हैं, गले की माला के फूल मुरझा जाते हैं तथा आसन में लगे रत्न बिखर जाते हैं। तब इन्द्र और शक्र आकर सात-आठ कदम पीछे हटकर बाएँ घुटने को जमीन पर टिकाकर उन जिनवरों की पूजा करते हैं।^{१७८} इसके बाद वे नेगमेसिदेव की इस जन्म की सूचना देवताओं को देने एवं जिनाभिषेक की तैयारी करने का आदेश देते हैं।^{१७९} नेगमेसिदेव सभी देवताओं को इन्द्र का यह आदेश सुना देता है। तत्पश्चात् इन्द्र और शक्र भी अपने को उत्तरवैक्रियलब्धि से सम्पन्न कर पचास-पचास के जोड़े बनाकर श्वेत ऐरावत पर चढ़कर दसों क्षेत्रों में पहुँचे।^{१८०} वहाँ उन्होंने जिनों को प्रणाम कर पुनः जन्मभवन के पास खड़े होकर सेनापति से जिनदेवों को

माताओं के पास से लाने का आदेश दिया। उन बाल जिनों को देखते हुए देवताओं के स्वामी इन्द्र अपने हजार नेत्रों से भी अपने आप को तृप्त नहीं कर पाते हैं।^{१८१} तत्पश्चात् इन्द्र जिनदेव को प्रणाम कर अपना पाँच वैक्रिय शरीर बनाकर एक में जिनदेव को, दो दोनों तरफ हाथ में चवर लिये हुए, एक के हाथ में धवल वस्त्र तथा एक से हथियार धारण करते हैं।^{१८२} वहाँ से वे सुमेरु पर्वत पर पहुँच जाते हैं।^{१८३}

सुमेरु पर्वत पर वहाँ के सभी पाँचों शिखरों पर अवस्थित पंडक वन, शाश्वत जिनभवन, शिलाएँ, सिंहासन आदि का बहुत ही रमणीय कल्पना की गयी है। मेरु पर्वत के पाँचों शिखर पर एक-एक पंडक वन है। मानों तीनों लोकों की योग्य सम्पत्ति एकत्र की गयी है।^{१८४} पंडक वन के बहुमध्य भाग में स्थित शिखर पर विमल रूपवाला वैदूर्य मणि से शोभित तथा चालीस योजन ऊँचा रमणीय जिनभवन शोभित था।^{१८५} यह पाँचों मेरु पर्वत के पाँचों शिखर पर स्थित होता है। ये जिनभवन बारह योजन विस्तीर्ण तथा चार योजन ऊँचे हैं, इनके चारों ओर चार रमणीय शिलाएँ हैं।^{१८६} इन जिनभवनों के पूर्व दिशा की ओर पंडुकम्बलशिला, पश्चिम दिशा की ओर अतिपंडुकम्बल शिला तथा दक्षिण एवं उत्तर-इन दो दिशाओं में रक्तातिरक्त कंबलशिला होती है। पूर्व और पश्चिम दिशा की दो शिलाओं पर दो रमणीय सिंहासन हैं तथा दक्षिण और उत्तर दिशा की शिला पर अर्द्धचन्द्र सिंहासन कहा गया है।^{१८७}

जिनाभिषेक—सीता और सीतोदा दोनों नदियों के तटों पर उत्पन्न जिनों को देवताओं के द्वारा पूर्व और पश्चिम दिशा की शिलाओं पर अभिषिक्त किया जाता है। भरत और ऐरावत क्षेत्र के जिनदेवों का अभिषेक उत्तर दिशा की शिला पर किया जाता है। इसी प्रकार सौधमेन्द्र सहित बत्तीस इन्द्रों द्वारा उत्तर दिशा की शिला पर पाँच हजार पान के पत्तों से शिशु जिनदेव अभिषिक्त किये जाते हैं।^{१८८} वहाँ श्रेष्ठ कंचनयुक्त सिंहासन पर बैठकर इन्द्र जिनदेव को गोद में ले लेते हैं। इस प्रकार जिनों को गोद में धारण किये हुए इन्द्र नवजात कंचनवृक्ष को धारण किये हुए हिमालय के समान शोभायमान होते हैं।^{१८९} पुनः इन्द्र देवताओं से तीर्थसरित, महाद्रह, चारों समुद्र का जल, दिव्यकुसुम, नदी एवं सरोवर का जल, सर्वौषधि, सरसों, हरियाली, कुसुमगंध का चूर्ण मंगाकर उन्हें पद्मोत्पल से आच्छादित कुसुमगंधयुक्त पानी से भरे हुए स्वर्ण-मणि रत्न और मिट्टी के कलश से प्रसन्न मुखवाले दसों जिनों को परिवार सहित अभिषिक्त करते हैं। इस समय योग्य नगाड़ों एवं दुंदुभी से मंगल जयनाद का उद्घोष होता है।^{१९०} स्नान के बाद शरीर पर लगानेवाले लेप में गोशीर्ष चन्दन का रस^{१९१} नैसर्गिक दिव्यपुष्प का वर्णन है। बजने वाले वाद्यों में तत्-वितत्, घन, झुसिर^{१९२}, का उल्लेख आया है। चार प्रकार के अभिनय तथा अंगों के हाव-भाव से परिपूर्ण उनतालीस प्रकार के सुललित पद-विक्षेप द्वारा नृत्य प्रस्तुत किया जाता है।^{१९३} इसमें स्फोटन^{१९४}, मल्लयुद्ध^{१९५} आदि विभिन्न प्रकार के मनोरंजक साधन का भी उल्लेख है। जिनों को पहनानेवाले वस्त्रों में पद्मकेसर किंजल्क आदि से सुगन्धित रेशमी वस्त्र के नामोल्लेख हैं।^{१९६} आभूषण में कुंडल, श्रीदाम^{१९७} आदि हैं।

इस प्रकार जन्मोत्सव के क्रम में तित्थोगाली प्रकीर्णक में तात्कालिक सांस्कृतिक चेतना, स्थापत्य, आभूषण, वस्त्र, उत्सव के विभिन्न रूपों का पता चलता है। अन्य

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर ग्रन्थों में भी इस प्रकार के सांस्कृतिक (जन्म कल्याणक) चेतना का चित्रण हुआ है।

हरिवंश पुराण^{१९८}, पद्म पुराण^{१९९} ९, एवं महापुराण^{२००} में जन्म कल्याणक की चर्चा विस्तार से की गयी है। उसका सारांश इस प्रकार है—भगवान का जन्म होने पर देव भवनों व स्वर्गों आदि में स्वयं घंटे बजने लगते हैं और इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो जाते हैं, जिससे उन्हें भगवान के जन्म का निश्चय हो जाता है। सभी इन्द्र व देव भगवान का जन्मोत्सव मनाने धूमधाम से पृथ्वी पर आते हैं। अहमिन्द्र जन अपने-अपने स्थान पर ही सात पग आगे जाकर भगवान को परोक्ष नमस्कार करते हैं। दिक्कुमारी देवियाँ भगवान के जातकर्म करती हैं। कुबेर नगर की अद्भुत शोभा करते हैं। इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूति गृह में जाकर, माता को माया निद्रा से सुलाकर उसके पास एक मायामयी पुतला लिटा देती है और बालक भगवान को लाकर इन्द्र के गोद में दे देती है जो उनका सौन्दर्य देखने के लिए हजार नेत्रों से भी संतुष्ट नहीं होते। ऐरावत हाथी पर शिशु जिन को लेकर इन्द्र सुमेरु पर्वत की ओर चलते हैं। वहाँ पहुँचकर पाण्डुक शिला पर भगवान का क्षीरसागर से देवों द्वारा लाये जगे जल के १००८ कलशों द्वारा, अभिषेक करते हैं। तदनन्तर बालक को वस्त्राभूषण से अलंकृत कर नगर में देवों सहित महान उत्सव के साथ प्रवेश करते हैं। बालक के अंगूठे में अमृत भरते हैं और ताण्डव नृत्य आदि अनेकों मायामयी आश्चर्यकारी लीलाएँ प्रकट कर देवलोक को लौट जाते हैं। दिक्कुमारी देवियाँ भी अपने-अपने स्थानों पर चली जाती है। श्वेताम्बर ग्रन्थों-पञ्चाशक^{२०१} तथा दशश्रुतस्कन्धदशा-९^{२०२} में तीर्थकर के जन्म कल्याणक का वर्णन प्राप्त होता है।

चक्रवर्तियों के रत्नों और निधियों का तुलनात्मक वर्णन—तित्थोगाली में चक्रवर्तियों के १४ रत्न और नौ निधियों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इनका यहाँ पर सांस्कृतिक दृष्टि से तुलनात्मक वर्णन प्रस्तुत है। चौदह रत्नों का वर्णन निम्न प्रकार है—१. तरुण सूर्यमंडल सदृश चक्र २. सर्व रोगों का हरण करनेवाला छत्ररत्न ३. दुश्मनों के दर्प को चूर करनेवाला खड्गरत्न ४. वक्र लोगों को सम करनेवाला दंडरत्न ५. अभेद्य चर्मरत्न ६. मस्तक के रोगों को नष्ट करनेवाला मणिरत्न ७. सूर्य-चन्द्र की किरणों से व्याप्त श्रेष्ठ काकिणीरत्न ८. वीर सेनापतिरत्न ९. कुबेर सदृश श्रेष्ठीरत्न १०. मनोहर स्थपतिरत्न (बढ़ई) ११. शांतिकर्म करनेवाला पुरोहितरत्न १२. दुश्मन के जीवन को हरण करनेवाला हस्तीरत्न १३. पवनगति के समान चलनेवाला अश्वरत्न और १४ श्रेष्ठ स्त्रीरत्न।^{२०३}

श्वेताम्बर आगम समवायांग में इन रत्नों के क्रम में अंतर है तथा एक खड्ग के बदले वहाँ वर्द्धकि का उल्लेख है। यहाँ का क्रम और नाम इस प्रकार हैं—१. स्त्रीरत्न २. सेनापतिरत्न ३. गाथापतिरत्न ४. पुरोहितरत्न ५. वर्द्धकि (रथ आदि बनाने वाला बढ़ई) रत्न ६. अश्वरत्न ७. हस्तिरत्न ८. असिरत्न ९. दंडरत्न १०. चक्ररत्न ११. छत्ररत्न १२. चमररत्न १३. मणिरत्न और १४. काकिणी रत्न।^{२०४} दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में भी इन्हीं रत्नों का उल्लेख है।^{२०५}

निधि—चक्रवर्ती के विशाल खजाने को महानिधि कहते हैं। प्रत्येक निधि नौ योजन विस्तारवाला होता है। चक्रवर्ती की सारी सम्पत्ति इसी में निहित होती है। नव निधियों

का वर्णन इस प्रकार है—१. नैसर्प २. पाण्डु ३. पिंगल ४. रत्न ५. महापद्म ६. काल ७. महाकाल ८. मानवक और ९. शंख^{२०६}

ठाणांग^{२०७} में इन नवनिधियों का विस्तृत विवेचन है। निधियों के नाम और उनकी विशेषताएँ हैं—

१. नैसर्प निधि—नए ग्रामों को बसाना, पुराने ग्रामों को व्यवस्थित करना, जहाँ नमक आदि उत्पन्न होते हैं, ऐसे समुद्र तट या दूसरे प्रकार की खानों का प्रबंध, नगर, पत्तन अर्थात् बन्दरगाह, द्रोणमुख, जहाँ जल और खुशकी दोनों तरह का मार्ग हो, मंडप अर्थात् ऐसा जंगल जहाँ नजदीक बस्ती न हो, स्कन्धावार अर्थात् सेना का पड़ाव इत्यादि वस्तुओं का प्रबंध नैसर्प निधि द्वारा होता है।

२. पाण्डु निधि—दीनार वगैरह सोना चाँदी के सिक्के आदि गिनी जानेवाली वस्तुएँ और उन्हें बनाने की सामग्री, जिनका माप कर व्यवहार होता है, ऐसे धान तथा वस्त्र वगैरह, उन्मान अर्थात् तौली जानेवाली वस्तुएँ—गुड़, खांड आदि तथा धान्यादि की उत्पत्ति का सारा काम पाण्डु निधि में होता है।

३. पिंगल निधि—स्त्री, पुरुष, हाथी, घोड़े आदि सब के आभूषणों का प्रबंध पिंगल निधि में होता है।

४. सर्वरत्न निधि—चक्रवर्ती के चौदह रत्न अर्थात् चक्रादि सात एकेन्द्रिय तथा सेनापति आदि सात पञ्चेन्द्रिय रत्न सर्वरत्न नाम की चौथी निधि में होता है।

५. महापद्म निधि—रंगीन तथा सफेद सब प्रकार के वस्त्रों की उत्पत्ति तथा उनका विभाग वगैरह का सारा काम महापद्म नाम की पाँचवी निधि में होता है।

६. काल निधि—भूतकाल के तीन वर्ष, भविष्यत् काल के तीन वर्ष तथा वर्तमान काल का ज्ञान—घट, लौह, चित्र, वस्त्र, नापित—इनमें से प्रत्येक के बीस भेद होने से सौ प्रकार का शिल्प तथा कृषि, वाणिज्य वगैरह कर्म काल निधि में होते हैं। ये तीनों बातें अर्थात् काल ज्ञान, शिल्प और कर्म प्रजाहित के लिए होती हैं।

७. महाकाल निधि—खानों से सोना, चाँदी, लोहा आदि धातुओं की उत्पत्ति तथा चन्द्रकान्त आदि मणियाँ, मोती स्फटिक मणि की शिलाएँ और मूँगे आदि को इकट्ठा करने का काम महाकाल निधि में होता है।

८. माणवक निधि—शूरवीर योद्धाओं को इकट्ठा करना, कवच—हथियार आदि तैयार करना, व्यूह रचना, युद्धनीति तथा साम, दाम, दण्ड और भेद—ये चार प्रकार की दण्डनीति माणवक निधि में होती है।

९. शंख निधि—नाच तथा उसके सब भेद, नाटक और उसके सब भेद, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चतुर्विध पुरुषार्थ का साधक अथवा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और संकीर्ण भाषा में बनाया हुआ अथवा सम-विषम-अर्धसम छन्दों से बना हुआ और गद्यबन्ध—इस प्रकार चार तरह के गद्य, पद्य और गेय काव्य की उत्पत्ति शंख निधि में होती है। सब तरह के बाजे भी इसी निधि में होते हैं।

ये निधियाँ चक्र पर प्रतिष्ठित हैं। इनकी ऊँचाई आठ योजन, चौड़ाई नौ योजन तथा लम्बाई बारह योजन होती है। ये पेटी के आकारवाली हैं। गंगा नदी का मुँह इनका स्थान है। इनके किवाड़ वैदूर्यमणि के बने होते हैं। वे सोने से बनी हुई तरह-तरह के रत्नों से प्रतिपूर्ण, चन्द्र, सूर्य, चक्र आदि के चिन्हवाली तथा समान स्तम्भ और दरवाजों वाली होती हैं। निधियों के अधिष्ठाता इन्हीं नामों वाले त्रायस्त्रिंश देव हैं। इसी प्रकार दिगम्बर पराम्परा के ग्रन्थों^{२०८} में इन्हीं नौ निधियों तथा उनके द्वारा प्रदत्त विषयों का निरूपण है पर हाँ क्रम भिन्न है—

१. काल—निमित्त, व्याकरण, न्याय आदि विषयक अनेक प्रकार के शास्त्र, ऋतु के अनुसार पुष्प, फल आदि बाँसुरी, नगाड़े आदि पंचेन्द्रिय के मनोज्ञ विषय की प्राप्ति।

२. महाकाल—भाजन, पंच लौह आदि धातुएँ, असि, मसि आदि के साधनभूत द्रव्य की प्राप्ति।

३. पाडु—धान्य तथा षट्स की प्राप्ति।

४. मानव—आयुध, नीति व अन्य अनेक विषयों के शास्त्र की प्राप्ति।

५. शंख—वादित्र की प्राप्ति

६. पद्य—वस्त्र की प्राप्ति

७. नैसर्ग—हर्म्य (भवन) शय्या, आसन, भाजन आदि उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति

८. पिंगल—आभरण की प्राप्ति और

९. नानारत्न—अनेक प्रकार के रत्न आदि की प्राप्ति होती है।

चैत्यवृक्ष—जैन सम्प्रदाय में कल्पवृक्ष और चैत्यवृक्षों का प्रायः कथन आता है। भोगभूमि में मनुष्यों को सम्पूर्ण आवश्यकताओं को चिन्ता मात्र से पूरी करनेवाले कल्पवृक्ष हैं और प्रतिमाओं के आश्रयभूत चैत्यवृक्ष हैं। तीर्थकरों को जिन वृक्षों के नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ उसे ही चैत्यवृक्ष (अशोक वृक्ष) कहा जाता है। यद्यपि ये सब वृक्ष कहलाते हैं परंतु ये सभी पृथ्वीकायिक होते हैं, वनस्पतिकायिक नहीं। कल्पवृक्षों की चर्चा पूर्व में आ चुकी है, इसलिए यहाँ हम चैत्यवृक्षों के विषय में ही चर्चा करेंगे। चैत्यवृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित और देवों से पूजनीय पाँच-पाँच जिनप्रतिमाएँ विराजमान होती हैं।^{२०९} एक-एक चैत्यवृक्ष के आश्रित आठ महाप्रातिहार्यों से संयुक्त चार-चार मणिमय जिन प्रतिमाएँ होती हैं।^{२१०}

चैत्यवृक्ष का स्वरूप और विस्तार—जैन मान्यता के अनुसार भवनवासी देवों के भवनों के बाहर वेदियाँ मानी गयी हैं। इन वेदिओं के बाह्य भाग में चैत्यवृक्षों से सहित और अपने नानावृक्षों से युक्त पवित्र अशोक वन, सप्तच्छदवन, चंपकवन और आम्रवन स्थित हैं। चैत्यवृक्षों के स्थल का विस्तार २५० योजन तथा ऊँचाई मध्य में चार योजन और अन्त में अर्द्धकोस प्रमाण होती है। पीठों का भूमिका विस्तार छह योजन और ऊँचाई चार योजन होता है। इन पीठों के ऊपर बहुमध्य भाग में रमणीय चैत्यवृक्ष स्थित होते हैं। प्रत्येक वृक्ष का अवगाढ एक कोस, स्कन्ध का उत्सेध एक योजन और शाखाओं की

लम्बाई योजन प्रमाण कही गयी है। वे सब दिव्य वृक्ष विविध प्रकार के उत्तम रत्नों की शाखाओं से युक्त, विचित्र पुष्पों से अलंकृत और उत्कृष्ट मरकत मणिमय उत्तम पत्रों से व्याप्त होते हुए अतिशय शोभा को प्राप्त होते हैं। ये सब विविध प्रकार के अंकुरों से मण्डित, अनेक प्रकार के फलों से युक्त, नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित छत्र के ऊपर छत्र से संयुक्त घंटाजाल आदि से रमणीय हैं।^{१२११}

समवशरणों में स्थित चैत्य वृक्षों के आश्रित तीन-तीन कोटों से वेष्टित तीन पीठों के ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं, जो वापियों क्रीडनशालाओं व नृत्यशालाओं व उपवन भूमियों से शोभित हैं। इन चैत्यवृक्षों की ऊँचाई उनके तीर्थकरों की ऊँचाई से १२ गुणी है।^{१२१२} चौबीसवें तीर्थकर वर्द्धमान (महावीर) का चैत्यवृक्ष बत्तीस धनुष ऊँचा है।^{१२१३} असुरकुमारादि दस प्रकार के भवनवासी देवों के भवनों में क्रम से अश्वत्थ (पीपल), सप्तपर्ण, शाल्मली, जामुन, वेतस, कदम्ब, प्रियंगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुम—ये दस प्रकार के चैत्यवृक्ष होते हैं।^{१२१४} किन्नर आदि आठ प्रकार के व्यन्तर देवों के भवनों में क्रम से—अशोक, चम्पक, नागद्रुम, तम्बूरु, न्यग्रोध (वट), कण्टकवृक्ष, तुलसी और कदम्ब वृक्ष—ये आठ प्रकार के होते हैं।^{१२१५} समवशरणों में ये अशोक, सप्तच्छद, चम्पक व आम्र—ऐसे चार प्रकार के होते हैं।^{१२१६} तित्थोगाली प्रकीर्णक में चौबीस तीर्थकरों के चौबीस चैत्यवृक्षों का नामोल्लेख है। ये चैत्यवृक्ष हैं—१. न्यग्रोध २. सप्तपर्ण ३. शाल ४. सरल (पियए) ५. पियंगू ६. छत्रौध ७. श्रीष ८. नाग ९. मालू १०. प्लक्ष ११. तेन्दू १२. पाटल १३. जम्बू १४. पीपल १५. दधिपर्ण १६. नदीवृक्ष १७. तिलक १८. आम्र १९. अशोक २०. चंपक २१. बकुल २२. वेतस २३. धववृक्ष और २४. शाल।^{१२१७} तिलोपपण्णति में भी इन्हीं चौबीस चैत्यवृक्षों का उल्लेख है।^{१२१८}

समवसरण—जैन मान्यता के अनुसार तीर्थकर के उपदेश देने की सभा का नाम समवसरण है। यहाँ बैठकर तिर्यंच, मनुष्य व देव-पुरुष व स्त्रियाँ सब उनकी अमृतवाणी से कर्ण तृप्त करते हैं। इसकी प्रथम भूमियों में बड़ी आकर्षक रचनाएँ नाट्यशालाएँ, पुष्प-वाटिकाएँ, वापियाँ, चैत्यवृक्ष आदि होते हैं। मिथ्यादृष्टि, अभव्यजन अधिकतर इसी को देखने में उलझ जाते हैं। अत्यन्त भावुक व श्रद्धालु व्यक्ति ही अष्टम-भूमि में प्रवेश कर साक्षात् भगवान के दर्शनों से तथा उनकी अमृतवाणी से नेत्र, कान व जीवन सफल करते हैं। “इसमें समस्त सुर-असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, इसलिए जानकार गणधरादि देवों ने इसका “समवसरण” ऐसा सार्थक नाम कहा है।^{१२१९} तित्थोगाली प्रकीर्णक में समवसरण का विस्तार से वर्णन किया गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से उस समय में प्रचलित रस्म-रिवाज, पूजा-पाठ आदि पर प्रकाश पड़ता है। तोरण^{१२२०} मणि-सुवर्ण-रत्न चित्रों से चित्रित होते थे। सच्छात्र-शालि^{१२२१} के पेड़ शोभित होते हैं। कालागरु-कुंदरुक्क का मिश्रण^{१२२२} आदि रखें हैं। आठ भूमियों का निर्माण किया जाता है। भीतरी-मध्यम तथा बाह्य तीन दुर्ग-विमानवासी, ज्योतिष्कवासी तथा भवनवासी देवकृत हैं ये रत्न-सुवर्ण तथा चांदी के हैं।^{१२२३} कपिशीर्ण मणि-रत्न सुवर्ण से निर्मित है।^{१२२४}

स्वरूप-समवरण की सामान्य भूमि गोल होती है। उसके प्रत्येक दिशा में आकाश में स्थित बीस-बीस हजार सोपान हैं। इसमें चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में आठ भूमियाँ और सर्वत्र अंतर भाग में तीन-तीन पीठ होते हैं। यह उसका विन्यास है। प्रत्येक दिशा में सोपानों को लेकर अष्टभूमि के भीतर गन्धकुटी की प्रथम पीठ तक एक-एक वीथी होती है। वीथिका के दोनों बाजुओं में वीथियाँ जितनी लम्बी दो वेदियाँ होती हैं। आठों भूमियों के मूल में बहुत से तोरणद्वार होते हैं। सर्वप्रथम धूलिशाल नामक प्रथम कोट है। इसके चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार हैं। प्रत्येक गोपुर के बाहर मंगल द्रव्य नवनिधि व धूप घट आदि युक्त पुतलियाँ स्थित है। प्रत्येक द्वार के मध्य दोनों बाजुओं में एक-एक नाट्यशाला है। धूलिशाल कोट के भीतर चैत्य प्रासाद भूमियाँ हैं। जहाँ पाँच-पाँच प्रासादों के अन्तराल से एक-एक चैत्यालय स्थित हैं। इस भूमि के भीतर पूर्वोक्त चार वीथियों के पार्श्वभागों में नाट्यशालाएँ हैं जिनमें ३२ रंगभूमियाँ हैं। प्रत्येक रंगभूमि में ३२ भवनवासी कन्याएँ नृत्य करती हैं। प्रथम भूमि के बहुमध्य भाग में चारों वीथियों के बीचोबीच गोल मानस्तम्भ भूमि है। इस प्रथम चैत्यप्रासाद भूमि से आगे प्रथम वेदी है। इस वेदी से आगे खातिक भूमि है, जिसमें जल से पूर्ण खातिकाएँ हैं। इसके आगे पूर्व वेदिका सदृश ही द्वितीय वेदिका है। इसके आगे लताभूमि है, जो अनेकों क्रीडा पर्वतों व वापिकाओं आदि से शोभित है। इसके आगे दूसरा कोट है। यह यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे उपवन नामकी चौथी भूमि है जो अनेक प्रकार के वनों, वापिकाओं व चैत्यवृक्षों से शोभित है। सब वनों के आश्रित सब वनों के दोनों पार्श्व भागों में दो-दो (कुल सोलह) नाट्यशालाएँ होती हैं। प्रारम्भ की आठ में भवनवासी देवकन्याएँ और आगे की आठ में कल्पवासी देवकन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके आगे तीसरी वेदी है, जो यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे ध्वजभूमि है, जिसकी प्रत्येक दिशा में सिंह, गज आदि दस चिहनों से चिह्नित ध्वजाएँ हैं। प्रत्येक चिह्नवाली १०८ ध्वजाएँ हैं और प्रत्येक ध्वजा अन्य १०८ क्षुद्र ध्वजाओं से युक्त होती है। इस प्रकार कुल ध्वजाओं की संख्या = $(१० \times १०८ \times ४) + (१० \times १०८ \times १०८ \times ४) = ४७०८८०$ है। इसके आगे तृतीय कोट है जो धूलिसाल कोट है जो धूलिसाल कोट सदृश है। इसके आगे छठी कल्पभूमि है जो दस प्रकार के कल्पवृक्षों तथा अनेकों वापिकाओं, प्रासादों, सिद्धार्थ वृक्षों (चैत्यवृक्षों) से शोभित है। कल्पभूमि के दोनों पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के आश्रित चार-चार (कुल १६) नाट्यशालाएँ हैं। यहाँ ज्योतिष कन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके आगे चौथी वेदी है जो भवनवासी देवों द्वारा रक्षित है। इसके आगे भवनभूमियाँ हैं, जिनमें ध्वाज-पताका युक्त अनेक भवन हैं। इस भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य में जिन प्रतिमाओं से युक्त नौ-नौ स्तूप (कुल ७२ स्तूप) हैं। इसके आगे चतुर्थ कोट है जो कल्पवासी देवों द्वारा रक्षित है। इसके आगे अंतिम श्रीमण्डप भूमि है। इसमें कुल १६ दीवारें व उनके बीच १२ कोठे हैं। पूर्व दिशा को आदि करके इन १२ कोठों में क्रम में गणधर आदि मुनिजन, कल्पवासी देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य एवं तिर्यच बैठते हैं। इसके आगे पंचम वेदी है, जो चौथे कोठे के समान है। इसके आगे प्रथम पीठ है, जिस पर बारह कोठों व चारों वीथियों के सम्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ हैं। इस

पीठ पर चारों दिशाओं में सर पर धर्म चक्र रखे चार यक्षेन्द्र स्थित हैं। पूर्वोक्त बारह के बारह गण इस पीठ पर चढ़कर प्रदक्षिणा देते हैं। प्रथम पीठ के ऊपर द्वितीय पीठ होता है। इसके चारों दिशाओं में सोपान हैं। इस पीठ पर सिंह, बैल आदि चिह्नों वाली ध्वजाएँ हैं व अष्टमंगल द्रव्य, नवनिधि, धूपघट आदि शोभित हैं। द्वितीय पीठ के ऊपर तीसरी पीठ है। जिसके चारों दिशाओं में आठ-आठ सोपान हैं। तीसरी पीठ के ऊपर एक गन्ध कुटी है, जो अनेक ध्वजाओं से शोभित है। गन्ध कुटी के मध्य में पाद-पीठ सहित सिंहासन है जिस पर भगवान चार अंगुल के अन्तराल से आकाश में स्थित है।^{२२५} इस प्रकार तिलोपपण्णति, हरिवंशपुराण, धवला एवं महापुराण आदि जैन ग्रन्थों में समवसरण का उल्लेख है।

तित्थोगाली में देवताओं द्वारा किये गये समवसरण के आयोजन का विस्तृत वर्णन किया गया है—“भूमिखण्ड को मणि-सुवर्ण-रत्न चित्रित तथा चारों ओर सुगन्धि का आयोजन देवगण शीघ्रतापूर्वक करते हैं, ये मणि-सुवर्ण-रत्न चित्रों से युक्त तोरणों से चारों दिशाओं को विभूषित करते हैं। वहाँ सच्छात्र-शालि के मुड़े हुए पेड़ मकरध्वज के निशान आदि शोभित हो रहे हैं। फूलों की सुरभि व जल-थल में फैलनेवाले दिव्य फूल तथा पाँच के फूलों की सुगन्धि चारों ओर फैल रही हैं। चारों तरफ कालागुरु-कुंदरुक्क का मिश्रण मनोहर सुगन्धि तथा धूप-पात्र रखे हुए हैं। सब तरफ सिंहनाद की तरह हर्षध्वनि तथा कोलाहल हो रहा है। देवगण झुककर तीर्थकर के पैरों में प्रणाम करते हैं। इस समवसरण में भीतरी-मध्यम तथा बाह्य विमानवासी-ज्योतिषवासी तथा भवनवासी देवकृत तीन दुर्ग रत्न-सुवर्ण तथा चांदी के होते हैं। मणि रत्न आदि निर्मित प्राकार का कपिशिर्ष (अग्रभाग) है। सभी रत्नों से निर्मित द्वार है तथा सभी रत्नों से युक्त पताका-ध्वज एवं तोरणद्वार बने हैं। चैत्यवृक्ष-पीठ-छन्दक-आसन-छत्र तथा चामर एवं अन्य करने योग्य कार्य व्यवन्तर देव करते हैं। तीर्थकर सूर्य की ओर पूर्व से चलकर पश्चिम की ओर जाते हैं। उनके दोनों पैरों पर कमल होता है एवं मार्ग में अन्य सात कमल होते हैं। देवताओं द्वारा पूर्वाभिमुख तीर्थकर के तीन दिशाओं में उनके प्रतिरूप बनाया जाता है। ज्येष्ठ गणधर एवं अन्य लोग उनके दक्षिण भाग में बैठते हैं। तीन दिशाओं में देवताओं द्वारा जिनेन्द्रों का जो प्रतिबिम्ब बनाया जाता है, उनके प्रभाव से उन प्रतिबिम्बों के रूप उसी प्रकार के हो जाते हैं। सिंहासन पर बैठे हुए भगवान के ऊपर रक्ताशोक होता है। शक्र सोने की माला के साथ सौ छत्रों को धारण करते हैं। ईशानेन्द्र मणियुक्त दण्ड वाले दो चामरों को जिनेन्द्र के ऊपर लेकर खड़े होते हैं। शेष तीर्थ (श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका) विमानवासी देव, देवियाँ, समणियाँ, भवनपति, व्यान्वन्तर, ज्योतिष्क देवियाँ, केवली एवं मुनि आदि भी त्रिगुण युक्त जिनों को श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हैं। भवनपति, ज्योतिष्क, व्यान्वन्तर एवं वैमानिक देव तथा मनुष्य सभी प्रदक्षिणा कर वहाँ प्रवेश करते हैं। उत्तर द्वार से महेन्द्र के साथ कल्पवासी देव राजा, नर-नारी समूह तथा वनचर देव प्रवेश करते हैं। कल्पवासी देवों की पत्नियाँ, साधु आदि पूर्व स्थित सिंहद्वार से प्रवेश करती हैं। भवनपति-व्यान्वन्तर-ज्योतिष्क देवों की पत्नियाँ तथा अन्य स्त्रियाँ दक्षिण द्वार से प्रवेश करती हैं तथा भवनपति देव तथा ज्योतिष्क देव पश्चिम द्वार से प्रवेश करते हैं। इस प्रकार ऐश्वर्यशाली देव एवं मनुष्य

स्थिरचित्त होकर जिनों के पैरों में नमस्कार करते हैं। वहाँ कोई दबाव विकथा, परस्पर द्वेष या भय नहीं है। समवसरण के दूसरे कोटे में तिर्यच होते हैं और तीसरे कोटे में व्यान्वन्तर देवों के विमान होते हैं। दुर्ग से अलग तिर्यच मिलकर बैठते हैं। इस प्रकार से देव निर्मित समवसरण में तीर्थकर तीर्थ को प्रणाम कर बोधगम्य शब्दों में योजन तक फैलनेवाली वाणी में प्रवचन करते हैं।^{१२६}

इस प्रकार हम देखते हैं कि तित्थोगाली प्रकीर्ण में समवसरण का काव्यात्मक वर्णन ही किया गया है। यहाँ जैन मतानुसार समवसरण की रचना, इसके विविध पक्ष, महत्त्व या अनिवार्यता पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। ऐसा लगता है कि अज्ञात कवि ने पूर्व के उपलब्ध जैन ग्रन्थों में वर्णित समवसरण की रचना आदि को स्वीकार करके केवल वहाँ की रम्य छटा का वर्णन किया है।

धर्मोपदेश—तित्थोगाली प्रकीर्णक में काल समय के अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी के सभी छह-छह आरों एवं उस-उस काल में जैन मान्यतानुसार होने वाली विभिन्न घटनाओं का वर्णन करने के पश्चात् शिष्यों को जैन दर्शनसम्मत उपदेश दिये गये हैं।

भारतीय दर्शन के अंतर्गत जैन दर्शन की अपनी खास विशेषता है। वह विशेषता अनेकान्तवाद और स्याद्वाद है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक अनन्त धर्मों में चेतन के सम्भव अनन्त धर्म चेतन में मिलेंगे, और अचेतनगत अनन्त धर्म अचेतन में। चेतन के गुण धर्म अचेतन में नहीं पाये जा सकते और न अचेतन के चेतन में।^{१२७} इस प्रकार एक ही वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर उसके भिन्न-भिन्न पक्ष उजागर हो सकते हैं। जैन दर्शन अहिंसा प्रधान रहा। अतः इससे विरोध या कटुता की सम्भावना के निवारण के लिए अनेकान्तवाद का प्रणयन हुआ। वास्तव में यह अनेकान्तवाद भारतीय दर्शन को जैन दर्शन की एक मौलिक देन है। इस अहिंसा की पूर्णता और स्थायित्व की प्रेरणा का आधार मानसशुद्धि के लिए अनेकान्त दर्शन है तो इसे वचन रूप में व्यक्त करने में 'स्याद्वाद' का प्रयोग किया गया। स्याद्वाद में बोलते समय वक्ता को सदा यह ध्यान रखना है कि वह जो बोल रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है। शब्द उसके पूर्ण रूप तक पहुँच ही नहीं सकते। इसी भाव को जताने के लिए 'स्यात्' वक्ता शब्द का प्रयोग करता है।^{१२८} इससे किसी दूसरे मत की स्थापना का भी खण्डन नहीं हो पाता और स्वमत स्थापित होता है।

तित्थोगाली प्रकीर्णक में इस वर्णन को मिथ्यात्वी, मोहित सद्धर्म से विमुख जीवों, स्याद्वाद से दूर रहने वाले, जिनके कान कुश्रुतियों से पूर्ण हैं, अन्य मतावलम्बियों, कुल-गण और संघ के प्रति संकालुओं तथा दुर्बल चरित्र वाले जीवों को कहने का निषेध किया गया है।^{१२९} संसार में जड़, खुशामदी, खिन्न, साधारण तथा दुर्जनों को इसका वर्णन सुनाने पर यह निरर्थक साबित होगा।^{१३०} इसके विपरीत इसका उपदेश उन्हें देने का आदेश दिया गया है जो स्वभाव से सज्जन, विनीत तथा मृदुचित्त स्वभाव वाले हैं।^{१३१} इस श्रुत का उपदेश सुनने से मोक्ष मार्ग प्रशस्त होता है।

निर्ग्रन्थ श्रमणों का आदर्श—शिष्यों को आगे सलाह दी गयी है कि तीर्थकरों द्वारा

जो आचरित मार्ग है वही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है। इसलिए शिष्य भी सम्यक्त्व ज्ञान और उत्तम चरित्र को प्राप्त कर वही-वही करें जिससे कषाय जाल से मुक्त हो सकें। क्योंकि जीवन कमल के पत्ते के अग्रभाग पर स्थित जल के बूंद की तरह चंचल है। (गा०-११९९-९७) परस्पर सम्बद्ध कषायों से पीड़ित मनुष्य पंगु व्यक्ति की तरह उठने की इच्छा नहीं करता। जो इससे जागृत हो जाते हैं, वे धन्य हैं। (गा०-११९८) जैन धर्म में श्रामण्य के पालन में संयम और धैर्य पर विशेष बल दिया गया है। पूर्व संचित कर्मों एवं पाप-पुण्यों के कारण कर्मों की निर्जरा के समय विभिन्न प्रकार के उपसर्ग और परिषह झेलने पड़ते हैं। ये उपसर्ग देवकृत, मानवकृत, तिर्यचकृत या नारकीकृत हो सकते हैं। इन विषम परिस्थितियों में इन उपसर्ग-परिषहों को 'ज्ञाता-द्रष्टा' भाव से ग्रहण करना ही उत्तम श्रामण्य कहा गया है तथा ऐसी अवस्था में भी कर्मों की सम्यक् निर्जरा सम्भव है। जो जीव इन परिस्थितियों में अपने पथ से विचलित हो जाता है, उसका पुरुषार्थ खण्डित है तथा उसे हेय दृष्टि से देखा गया है। तित्थोगाली में उपदेश क्रम में कहा गया है कि श्रामण्य का अनुपालन करते हुए जिनका कषाय तीव्र हो जाता है उसका श्रामण्य (सामयिक) इक्षुपुष्प की तरह निष्फल है (गा०-१२००) इसीलिए सामयिक में व्यक्ति को सभी प्रकार के राग-द्वेष एवं चारों प्रकार के कषायों के प्रति निर्विकार और निर्विकल्प रहना चाहिए।

जैन धर्म मान्यतानुसार चारित्र्य को सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। रत्नत्रय-ज्ञान, दर्शन और चारित्र में चारित्र का स्थान सबसे ऊपर है। भगवती आराधना^{२३२} में कहा गया है-

अहवा चास्ताराहणाए आराहियं हवई सव्वं ।

आराहणाए सेसस्स चारित्ताराहणा भज्जा ॥

अर्थात् चारित्र की आराधना में सब (ज्ञान, दर्शन, तप) आराधित होता है। ज्ञान, दर्शन और तप में से किसी आराधना में चारित्र की आराधना भाज्य होती है अर्थात् होती भी है और नहीं भी होती। कम चारित्र अर्जित करके भी मनुष्य क्षणमात्र में कषायों को नष्ट कर सकता है।^{२३३} व्यक्ति उपशम के द्वारा क्रोध का, मार्दव से मान का, आर्जव भाव से माया का तथा संतोष से लोभ का हनन कर सकता है।^{२३४} यतिधर्म का प्रतिपादन करते हुए-क्षमा, मार्दव, आर्जव, त्याग, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य तथा ब्रह्मचर्य को यतिधर्म बताया गया है।^{२३५} इस धर्म का पालन वही कर सकता है जो त्रस, स्थावर एवं अन्य सभी जीवों के प्रति समभाव रखता हो।^{२३६} समभाव मोक्ष प्राप्ति के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जैन दर्शन में अतिआवश्यक माना गया है। इसके अभाव में कठोर तप करता हुआ भी जीव मिथ्यात्व और कर्म बंधन को प्राप्त होता है। कषायों एवं कर्मों को नष्ट करने पर मोक्ष प्राप्ति की अवस्था का संकेत करते हुए कहा गया है-"जो व्यक्ति इस दुर्गम जन्म-मरण के चक्कर में भ्रमण करता हुआ चिरकाल तक इसे नष्ट करता रहता है, वह जिन उपदिष्ट इस गति मार्ग को दुर्लभता से प्राप्त करता है।"^{२३७}

जैन दर्शन में मूलतः सात तत्वों का निरूपण किया गया है। ये सात तत्व हैं-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। ये सातों तत्व मुमुक्षु के लिए सर्वप्रथम

जानने योग्य हैं। इनमें से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष दो-दो प्रकार के होते हैं। एक द्रव्यरूप और दूसरा भावरूप। जिस मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्म परिणामों से कर्म पुद्गलों का आना होता है, वे भाव भावास्रव कहे जाते हैं और पुद्गलों में कर्मत्व का आना जाना द्रव्यास्रव है। अर्थात् भावास्रव जीवगत पर्याय है और द्रव्यास्रव पुद्गलगत। जिन कषायों से कर्म बँधते हैं वे जीवगत कषायादि भाव भावबन्ध हैं और पुद्गल कर्म का आत्मा से सम्बन्ध हो जाना द्रव्यबन्ध है। भावबन्ध जीवरूप है और द्रव्यबन्ध पुद्गलरूप। जिन क्षमा आदि धर्म, समिति, गुप्ति और चारित्रों से नये कर्मों को आना रुकता है। वे भाव भावसंवर हैं और कर्मों का रुक जाना द्रव्यसंवर है। इसी प्रकार पूर्व संचित कर्मों का निर्जरण जिन तप आदि भावों से होता है वे भाव भावनिर्जरा हैं और कर्मों का झारना द्रव्यनिर्जरा है। जिन ध्यान आदि से मुक्ति प्राप्त होती है वे भाव भावमोक्ष हैं और कर्म पुद्गलों का आत्मा से सम्बन्ध टूट जाना द्रव्यमोक्ष है। तात्पर्य यह है कि—आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष से पाँच तत्व भावरूप में जीव की पर्याय हैं और द्रव्यरूप में पुद्गल की।^{२३८} इन तत्वों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही जीव इसके प्रति उचित उपचार कर सकता है। तित्थोगाली में यही उपदेश दिया गया है कि—“जो सात तत्वों से संयुक्त दस धर्मों में श्रद्धान् करता है, वह शंका आदि दोषों से रहित होकर सम्यक्दृष्टि होता है।”^{२३९} सम्यक् आचरण और धर्म का पालन करने के लिए सम्यक्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है। सम्यक्त्व का लक्षण बताते हुए कहा गया है—“जो जिनवरों द्वारा उपदिष्ट धर्म पर सम्यक् श्रद्धान् रखता है तथा उसे बुद्धिमानों के मुख से सुनकर या अपनी बुद्धि से ग्रहण करता है तथा मिथ्यात्ववादी मतों पर और कुदृष्टियों के द्वारा उपदिष्ट अर्थों “यही सही है” में भी अपनी रुचि शुद्ध रखता है। अर्थात् उन पर विश्वास नहीं करता है वह सम्यक्त्वी होता है।”^{२४०} मिथ्यात्वी का लक्षण बताते हुए कहा गया है—“एक मिथ्यात्वी जिनों की आज्ञा को नहीं मनाने वाला होता है तथा दूसरे प्रकार का मिथ्यात्वी जामालि की तरह अश्रद्धा करने वाला होता है। सम्यक्त्व का हास करने वाले पाँच अतिचार कहे गये हैं—१. शंका २. कांक्षा ३. संशय ४. अन्यमत की प्रशंसा एवं ५. अन्य तीर्थियों का उपदेश।”^{२४१} धर्म के दो प्रकार के मूल कहे गये हैं—शंका आदि दोषों से रहित होना तथा जिन शासन में पुण्य आदि गुणों से युक्त होना।^{२४२} सम्यक्त्व की रक्षा करने वाला जिन शासन में पाँच प्रकार का उत्तम गुण कहा गया है—१. कुशलता २. प्रभावना ३. मोक्ष की पर्युपासना ४. स्थिरता एवं ५. भक्ति।^{२४३} गणिपिटकों की संख्या बारह बतायी गयी है जो सम्यक्त्व ज्ञान और स्याद्वाद का अनुशरण करने वाला, महान और अतुलनीय एवं भाव-अभाव और विभाव से युक्त है।^{२४४} ये बारह गणि पिटक हैं—१. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. समवायांग ४. स्थानांग ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञाताधर्म कथा ७. उपासकदशा ८. अन्तकृद्दशा ९. अनुत्तरौपपातिकदशा १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाकसूत्र एवं १२. दृष्टिवाद। ज्ञान और तीन गुप्तियों—मन, वचन और काय की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जिन कर्मों का क्षय अज्ञानी लोग बहुत करोड़ों वर्षों में भी नहीं कर पाते हैं, ज्ञानी लोग उसे तीन गुप्ति द्वारा उच्छ्वास मात्र में नष्ट कर देते हैं।^{२४५} शील की व्याख्या करते हुए अनेक प्रकार के चारित्र, पाँच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और

उच्चार-प्रस्रवण) तथा तीन गुप्ति (मन, वचन और काय) को 'शील' कहा गया है।^{१२४६} नियम से शील में ज्ञान तथा सम्यक्त्व दोनों आते हैं। इन सब की स्थिरता को ही जिन शासन में 'मोक्ष' कहा गया है।^{१२४७} इस प्रकार तित्थोगाली में मोक्ष के निरूपण के सम्बन्ध में जैन दर्शन के मूल आधार, सप्ततत्त्व, शील, चारित्र, स्याद्वाद, सम्यक्त्व आदि की व्याख्या की गयी है।

सिद्ध-स्वरूप—जैन दर्शन में सिद्धत्व की प्राप्ति जीव का अंतिम लक्ष्य है। सिद्ध अवस्था में जीव अपने समस्त आठ प्रकार के कर्म-रजों का क्षय करके अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य से युक्त होकर अनन्त काल के लिए लोकाग्र में अवस्थित हो जाता है, जहाँ से उसे पुनः भव-भ्रमण में नहीं पड़ना पड़ता है।

इस अवस्था में जीव अनन्त सुख को प्राप्त करता है तथा "ज्ञाता-द्रष्टा" भाव में स्थित रहता है।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश द्रव्य को दो भागों में बाँटा गया है—लोकाकाश और अलोकाकाश। इनमें अलोकाकाश अनन्त है तथा यहाँ धर्म आदि छह द्रव्यों की गति नहीं होती है। इन सबका सद्भाव लोकाकाश तक ही सीमित है। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है—१. अधोलोक २. मध्यलोक और ३. ऊर्ध्वलोक। यह पुरुषाकार है। अधोलोक के सबसे निचले भाग में बीस-बीस हजार योजन मोटा तनुवातवलय और घनोदधिवातवलय नामक सतह है, उसके ऊपर कमर प्रमाण तक निगोद तथा महातमप्रभा, तमप्रभा, धूम्रप्रभा, पंकप्रभा, बालुकाप्रभा, सर्कराप्रभाव तथा रत्नप्रभा नामक सात नरक भूमियाँ स्थित हैं। इस अधोलोक की मोटाई सात रज्जु प्रमाण है। मध्यलोक एक रज्जु प्रमाण मोटा है। जैन मान्यतानुसार, इस मध्यलोक में स्थित पृथ्वी के बीचोंबीच सुमेरु नामक पर्वत है। इसकी ऊँचाई एक लाख योजन है। इस लोक की लम्बाई-चौड़ाई भी एक-एक रज्जु है तथा यह सुमेरु के चारों तरफ फैला हुआ है। इस मध्यलोक के बहुमध्य में पैतालीस लाख योजन विस्तारवाला अतिगोल मनुष्यलोक है।^{१२४८} मनुष्यलोक के बीचोंबीच जम्बूद्वीप है। इसका विस्तार एक लाख योजन है।^{१२४९} इस जम्बूद्वीप के अंतर्गत भरत, हैमवत्, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत् और ऐरावत्—ये सात क्षेत्र हैं।^{१२५०} मध्यलोक में मनुष्यलोक के अलावा तिर्यकलोक और चौरासी लाख जीवों का भी अवस्थान है।

इसके ऊपर विमानलोक अवस्थित है। इसमें सबसे नीचे सोलह कल्प विमान हैं, जिनमें रहनेवाले देवता कल्पवासी कहलाते हैं। जैनाचार्यों ने विमानलोक को कल्प और कल्पातीत दो भागों में बाँटा है। कल्प विमान के ऊपर ज्योतिर्लोक है, जहाँ सूर्य, चन्द्र, तारा, ग्रह आदि देव निवास करते हैं। इसके ऊपर समुद्रस्थ भवनपुरों तथा पर्वतस्थ आवासों में निवास करनेवाले व्यन्तर जाति के आठ प्रकार के देव-किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत एवं पिशाच निवास करते हैं।^{१२५१} इसे व्यन्तरलोक कहा गया है। इसके अतिरिक्त भवनपति देवों का निवास भवनलोक है, जो ऊर्ध्वलोक में न होकर मध्यलोक में पृथ्वीतल के निचले भाग में अवस्थित है। इनमें असुर, नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वायु, स्तनिक, उद्धि, दिक् तथा द्वीपकुमार नामक दश प्रकार के देवता निवास करते हैं।^{१२५२}

लोक के सबसे ऊपरी हिस्से से कुछ नीचे अर्थात् ग्रीवा स्थान में कल्पातीत विमान स्थित हैं। इनमें पाँच अनुत्तर विमान, नौ अनुदिश विमान तथा नौ ग्रैवेयक विमान हैं।^{२५३} इन अकृत्रिम विमानों में कामवासना शून्य तथा ज्ञानवैराग्य प्रधान देवता निवास करते हैं।^{२५४}

लोक के सबसे ऊपरी भाग में सिद्धलोक अवस्थित है। इसमें सिद्धात्माएँ निवास करती हैं। ये आत्माएँ सभी प्रकार के कर्मावरणों तथा शरीरादि से पूर्णतः रहित हैं। इनका पुनर्जन्म नहीं होनेवाला है।^{२५५}

इसी सिद्ध स्थान तथा यहाँ अवस्थित सिद्धों के स्वरूप को तित्थोगाली प्रकीर्णक में विस्तार से विवेचित किया गया है। सिद्धों का लक्षण तित्थोगाली में इस प्रकार बताया गया है—“सिद्ध अशरीरी, जीवन से मुक्त, दर्शन और ज्ञान में अप्रमत्त, सागारी और अनगार होते हैं।”^{२५६} सिद्ध स्थान ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी की स्थिति बताते हुए कहा गया है—“सर्वार्थसिद्धि विमान के सबसे ऊपरी शिखर पर (स्तूप पर) बारह योजन विस्तृत ईषत्प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। इसमें निर्मल जल बिन्दु, हिम, गाय के दूध और हार सदृश वर्ण वाले जीव ऊर्ध्वगमन कर स्थिर होते हैं।”^{२५७} सिद्ध स्थान का पूरा क्षेत्र इस प्रकार है—सर्वार्थसिद्धि विमान से बाहर योजन ऊपर लोक के अग्रभाग पर ईषत्प्राग्भारा नाम की वह पृथ्वी (सिद्धि स्थान) है। पैतालीस लाख योजन इसकी लम्बाई है तथा इसके तिगुने से भी अधिक इसकी परिधि है। इसका क्षेत्रफल एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उन्नीस योजन है तथा मध्य में ऊँचाई आठ योजन है। मध्य भाग के चारों ओर उत्तरोत्तर पतली होते-होते चारों किनारे पर वह मक्खी के पंख से भी अधिक पतली हो गयी है। एक-एक योजन बीतने पर यह अंगुल प्रमाण क्षीण होती है। शंखतल के निचले भाग जितना शेष रहने तक वह क्षीण होती रहती है। वहाँ अर्जुन नामक स्वर्णमयी (वृक्ष) की प्रभा है। शंख के समान श्वेत यह पृथ्वी छत्राकार है।^{२५८} सिद्धों के अवगाहनवाले स्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है—“ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के ऊपर जो योजन भर का एक कोस है, उस कोस के छठवें भाग में सिद्धों की अवगाहना कही गयी है।”^{२५९} सिद्ध क्षेत्र के पश्चात् सिद्धों के प्रतिघात, स्थिति, अवगाहना, अवस्था आदि का वर्णन किया गया है—“अलोक में सिद्धगण प्रतिघात प्राप्त करते हैं, लोकाग्र में अवस्थित होते हैं। यहाँ देह त्यागकर वहाँ जाकर सिद्ध होते हैं।”^{२६०} पूर्वभव में (जिस भव से सिद्धि प्राप्त हो वह) दीर्घ या लघु, जो भी शरीर का आकार रहा हो, उसके तिहाई भाग कम सिद्धात्मा की अवस्थिति कही गयी है।^{२६१} जो जिस अवस्था में इस भव में चरम शरीर त्याग के समय में अवस्थित रहता है, उसी संस्थान में सिद्धावस्था में भी उसका निविड़ प्रदेश (सिद्ध आत्मा) अवस्थित होता है।^{२६२} चित्त पड़े हुए, करवट लेते हुए, खड़ा हुए या बैठे हुए अंतिम काल में जो जिस अवस्था में रहता है, वह उसी तरह सिद्धत्व अवस्था में भी रहता है।^{२६३} सिद्धों की उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य अवगाहना का भी वर्णन आया है। सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तेईस और एक तिहाई धनुष प्रमाण (३२३ १/३) कही गयी है। मध्यम अवगाहना चार हाथ तथा एक तिहाई हाथ (४ १/३) तथा जघनत्व अवगाहना एक हाथ अंगुल प्रमाण कही गयी है।^{२६४} भाव चक्र को नष्टकर ऐसे अनन्त सिद्ध लोकान्त में स्थित हैं। मोक्ष सुख और सिद्धों के सुख को असीम बताते हुए कहा गया है—“जितना

अव्याबाध सुख सिद्धों को प्राप्त होता है, वह सुख व मनुष्यों को और न ही देवों को प्राप्त होता है। मोक्ष सुख के वर्गमूल के वर्गमूल जितने सुख की बराबरी, देवताओं को सभी कालों में प्राप्त सुखों के अनन्तगुणा सुख भी नहीं कर सकते हैं।^{२६५} सिद्धों को प्राप्त सभी कालों के समस्त सुखराशि को एकत्रित किया जाए तो उसका अनन्त भाग में विभक्त हिस्सा भी सम्पूर्ण आकाश में नहीं समा पाएगा।^{२६६} सिद्धों के कुछ सादृश्य विशेषताओं का वर्णन करते हुए तित्थोगाली में कहा गया है—“जैसे सर्वकामनाओं की चिन्ता करता हुआ पुरुष भोजन करके भूख-प्यास से मुक्त हो जाता है, जैसे अमृत से तृप्त व्यक्ति अभेद्य हो जाता है, इसी प्रकार काल की निरन्तरता से तृप्ता वे सिद्ध जीव अनुपम निर्वाण स्थान को पहुँचकर सुखपूर्वक शाश्वत मुक्ति को प्राप्त करते हैं। वहाँ वे अभेद्य, अवेदित, निर्मम, निसंग, संयोग-वियोग से मुक्त, अप्रदेशी तथा शाश्वत रूप से एक स्थान में अवस्थित होते हैं।^{२६७}

इस प्रकार तित्थोगाली में श्रमण धर्म के अनुयायियों और मुनियों के लिए अनेकान्तवाद और स्याद्वाद से समृद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र का उपदेश मोक्ष-प्राप्ति जैसे अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु किया गया है, तथा सिद्ध स्थान, सिद्धों की स्थिति, अवगाहना आदि पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है।

दस आश्चर्य—जैन सूत्रों में वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौथे आरे (तीर्थकर काल) में पाँचों भरत और पाँचों ऐरावत क्षेत्रों में १०-१० आश्चर्य घटित होते हैं। ये आश्चर्य प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में न होकर अनन्त काल चक्र के बाद कभी घटित होते हैं। इन दस आश्चर्यों का नाम संकेत तित्थोगाली में भी प्राप्त होता है। ये हैं—१. उपसर्ग २. गर्भहरण ३. स्त्री तीर्थकर ४. अभव्य परिषद् ५. कृष्ण वासुदेव का अमरकंका गमन ६. चन्द्र-सूर्य का अवतरण ७. हरिवंश कुलोत्पत्ति ८. चमरेन्द्र का उत्पात ९. उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्ध और १०. असंयत पूजा।^{२६८} इनमें से पहला, दूसरा, चौथा, छठा और आठवाँ आश्चर्य तीर्थकर महावीर के समय में घटित हुआ। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के सम में नौवा, दसवें तीर्थकर शीतलनाथ के समय सातवाँ, उन्नीसवें मल्लीनाथ के समय तीसरा, बाईसवें अरिष्टनेमि के समय पाँचवाँ और नौवें तीर्थकर सुविधिनाथ के समय दसवाँ आश्चर्य हुआ। इन आश्चर्यों का विवरण अन्य जैन सूत्रों में प्राप्त होता है।^{२६९}

यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय प्रसंगवश प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. **उपसर्ग**—चौबीसवें तीर्थकर महावीर को छद्मस्थ और केवली अवस्था में देव, मनुष्य और तिर्यचकृत कई उपसर्ग हुए।

२. **गर्भहरण**—अंतिम तीर्थकर महावीर का जीव पहले पुष्पोत्तर विमान से च्यवकर ब्राह्मणकुण्ड ग्राम के देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आया। ८२ दिन बाद शक्रेन्द्र के आदेश से नेगमेसिदेव ने उस गर्भ का अपहरण कर उसे क्षत्रिय कुण्ड के राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया।

३. **स्त्री तीर्थकर**—उन्नीसवीं तीर्थकर मल्लीनाथ स्त्री शरीर में थे।

४. **अभावित परिषद्**—तीर्थकर महावीर को कैवल्य प्राप्ति के बाद देवों द्वारा रचित जृम्भिक ग्राम के समवशरण में कोई भी मनुष्य उपस्थित नहीं था। इसलिए किसी ने चारित्र ग्रहण नहीं किया। अतएव उनका प्रथम धर्मोपदेश निष्फल चला गया।

५. **कृष्ण का अमरकंका गमन**—बाईसवें तीर्थकर नेमि के काल में नौवें वासुदेव को धातकी खंड के अमरकंका के राजा पद्मनाथ द्वारा अपहृत द्रौपदी को वापस लाने हेतु लवणसमुद्र पार कर वहाँ जाना पड़ा।

६. **चन्द्र-सूर्य का अवतरण**—कौशाम्बी में चातुमसि कर रहे भगवान महावीर के दर्शनार्थ चन्द्र और सूर्य विमान सहित वहाँ पृथ्वी पर उतरे।

७. **हरिवंश कुलोत्पत्ति**—हरिवर्ष क्षेत्र के हरि-हरिणी युगलिका का पूर्वभव के शत्रु किल्बिषिक देव द्वारा अपहरण कर जम्बूद्वीप के चम्पा नगरी में रखने पर वहाँ उनकी वंश परम्परा 'हरिवंश' कुल के नाम से चली। यह घटना दसवें तीर्थकर शीतलनाथ के समय में घटित हुई।

८. **चमरेन्द्र का उत्पात**—अत्यधिक तप के गर्व में चूर चमरेन्द्र का सौधर्म देवलोक में जाकर उत्पात करना।

यह महावीर के तीर्थ की घटना थी।

९. **एक सौ आठ सिद्ध**—सामान्यतः उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ जीव एक बार सिद्ध नहीं होते पर भगवान ऋषभदेव के काल में ऐसा हुआ।

१०. **असंयमी की पूजा**—नौवें तीर्थकर सुविधिनाथ के मोक्ष जाने के पश्चात् लोगों की अज्ञानता का लाभ उठाकर असंयत श्रावकों का पूजित होना बताया गया है।

उपर्युक्त घटनाएँ सामान्य रूप से नहीं होतीं। अनन्त काल के बाद कभी होती हैं। इसलिए इसे आश्चर्य और इस काल को हुण्डावसर्पिणी कहा गया है।

संदर्भ ग्रंथ

१. तित्थो०-२७-२८
२. वही, २६-३१
३. वही, ३२
४. वही, ३४.३५
५. वही, ३६,
६. वही, ३७
७. तित्थो०-३६-४०
८. वही, ४१
९. वही, ४४,
१०. वही, ९६८
११. वही, २८५
१२. वही, २९०
१३. वही, ८८

१६८ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

१४. स्था०-७-६६
१५. तित्थो०-६२१-२४
१६. वही, २९१
१७. वही, ६९०
१८. वही, ८९६
१९. वही, ८६३
२०. वही, ८४४
२१. वही, २८६
२२. वही, २८७
२३. वही, ६९०
२४. सूत्र-४२-४२३, आवश्यक चूर्णि, पृ०-२०५
२५. अभयदेव व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका, ५/७, पृ०-२२८ (अनुवाद वेचरदास)
२६. तित्थो०-७८२
२७. वही, १३७ एवं आगे
२८. वही, ९१
२९. वही, ३४
३०. वही, ३२
३१. वही, ६०
३२. वही, २९७
३३. वही, ५९९
३४. ज्ञाताधर्मकथा-१, पृ०-१४-१५, उत्तराध्ययनसूत्र-१९.४, उतरा० टी०- पृ०-१८९
३५. तित्थो०-८८
३६. वही, ७३०-३२
३७. वही, ६८८
३८. वही, ९०७
३९. वही, ६५२-६८६
४०. तित्थो०-२८८
४१. वही, २८९
४२. वही, २९५-९६
४३. वही, २९८-३०१
४४. वही, ५८३-८७
४५. वही, ५८८-८९
४६. वही, ५९२
४७. वही, ५९३
४८. वही, ५९४
४९. आवश्यक चूर्णी, पृ०-२१०
५०. तित्थो०-६३४
५१. वही, ६५१
५२. वही, ६५२
५३. वही, ६५४

५४. बृहत्कल्पभाष्यम्-३, ४७७० में इसका उल्लेख है।
५५. आवश्यक निर्युक्ति-१०८३-८५ आदि
५६. वृहत्कल्पभाग-१, १०८९
५७. तित्थो०-६३९
५८. वही, ६५३
५९. तित्थो०-३२
६०. वही, ४५
६१. वही, ४७, ४९
६२. वही, ५७, ५९
६३. वही, ६७, ६९
६४. वही, ६३०
६५. वही, ६३१
६६. वही, ६३२
६७. वही, ६५१, ६५९
६८. वही, ७१४, ७१६, ७२२
६९. वही, ६०६-७
७०. वही, ४०९-१०
७१. वही, ६८६
७२. वही, १३४
७३. वही, १३५
७४. वही, १६९-७०
७५. वही, २१५
७६. वही, २४६
७७. वही, २६७
७८. वही, २६८
७९. वही, १६७-६८
८०. वही, ३५
८१. वही, १२७, १४४ और आगे
८२. वही, १२८
८३. तित्थो०-३०३
८४. वही, ९०७
८५. वही, ४०-४१
८६. वही, ९५७, ९५८
८७. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, डा० जगदीश चन्द्र जैन, पृ०-२०३
८८. वही
८९. प्रज्ञापना-१, सूत्र-१०
९०. तित्थो०-२८९
९१. वही, २७८
९२. वही, ५१९
९३. वही, ३८४

१७० : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

९४. वही, ५१४
९५. वही, ७३
९६. वही, ३००
९७. अर्थशास्त्र-२.१.१९, ३४, पृ०-९३
९८. बृहत्कल्पभाष्य-४.५१७४ टीका
९९. तित्थो०-५१
१००. वही, ४५
१०१. वही, ५५, ६४
१०२. वही, ७१
१०३. वही, २७८-२८९
१०४. वही, २८०
१०५. तित्थो०-९१२-९१५
१०६. वही, ९१७
१०७. वही, ९३८
१०८. वही, ९४४-४८
१०९. वही, ९५४
११०. वही, २८३
१११. वही, २९७
११२. वही, ५९९
११३. उत्तराध्ययन टीका-३, पृ०-६४
११४. वैदिक इन्डेक्स-१, पृ०-४५७
११५. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, डा० जगदीश चन्द्र जैन, पृ०-२७२
११६. पेन्जर, कथासरित्सागर-१, स्पेडिक्स-४, पृ०-१३८ आदि
११७. स्टडीज इन वात्स्यायन कामसूत्र, चकलदार पृ०-१९९ आदि
११८. वही, पृ०-१९८
११९. आवश्यकचूर्णी, पृ०-२९७
१२०. आवश्यकचूर्णी, पृ०-२९७, वसुदेवहिण्डी, पृ०-१०३
१२१. तित्थो०-७७७ एवं आगे
१२२. उत्तराध्ययन टीका-२, पृ०-३०
१२३. अल्तेकर, एजूकेशन इन ऐशिएन्ट इण्डिया, ३२६, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ०-२८६
१२४. आवश्यकनिर्युक्ति-२२
१२५. उत्तराध्ययन-१, २, ९, १२, १३, १८, २२, २७, ४१
१२६. वही, १-३८
१२७. तित्थो०-११०३-११०६, ८८२-८४
१२८. वही, ८९७-९८
१२९. वही, ९०९-१०
१३०. राजप्रश्नीय सूत्र-१९०, पृ०-३२८
१३१. तित्थो०-१०५०-५१
१३२. वही, ३६०-८३

१३३. तित्थो०-६२४
 १३४. वही, ६२५
 १३५. वही, ६२६-२७
 १३६. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका-५, पृ०-४१२
 १३७. वही, स्था०, पृ०-४-६३७
 १३८. तित्थो०-१४६
 १३९. वही, १०८३
 १४०. वही, १४६, १५२, १५६, १५८, १६० आदि
 १४१. वही, १७५, २३५
 १४२. वही, २३८
 १४३. वही, २८८
 १४४. तित्थो०-४०९-४११
 १४५. वही, ६३६-६३९
 १४६. निशीथचूर्णी-३, १५३५
 १४७. तित्थो०-८९५
 १४८. वही, ९२०
 १४९. वही, ९१९
 १५०. वही, ७५८-७६०
 १५१. वही, २००
 १५२. तित्थो०-१०१-११६
 १५३. तित्थो०-११८-११९
 १५४. तित्थो०-१२१-१२३
 १५५. शतक-१६, उद्देशक-६, सूत्र-१५
 १५६. अध्ययन-८, सूत्र-२६
 १५७. स्वप्नवाचनाधिकार सूत्र-४
 १५८. अध्याय १२/१५५-१६१
 १५९. महापुराण १५/१२३-१२६
 १६०. हरिवंशपुराण-३५/१३-१५
 १६१. महापुराण-४१/६३-७९
 १६२. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज-डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, पृ०-३७९-३८०
 १६३. वही, पृ०-३९३
 १६४. तित्थो०-६५१-६५२
 १६५. वही, ६४७ एवं आगे
 १६६. वही, ७१५-१७
 १६७. वही, ६८२
 १६८. वही, ८३९ एवं आगे
 १६९. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वही, पृ०-४२९
 १७०. तित्थो०गा०-१२०
 १७१. वही,
 १७२. वही, १९८

१७२ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

१७३. वही, १४१

१७४. वही, ६५५

१७५. तित्थो० गा०-१३२-१४०

१७६. वही, गा०-१४२

१७७. तित्थो०- १४३-१८१

१७८. वही, १८९-१९१

१७९. वही, १९३

१८०. तित्थो०-१९८-२००

१८१. वही, २०१-२०७

१८२. वही, २०९

१८३. वही, २१०

१८४. वही, २१३

१८५. वही, २१४

१८६. तित्थो०-२१६

१८७. वही, २१८-१९

१८८. वही, २२०-२३

१८९. वही, २२४-२५

१९०. वही, २२७-२३१

१९१. वही, २३२

१९२. तित्थो०-२३६

१९३. वही, २३७

१९४. वही, २३८

१९५. वही, २३९

१९६. वही, २४८

१९७. वही, २६९

१९८. वही, ३०/५४

१९९. वही, ३/१५८-२१४

२००. वही, १३/४-२१६

२०१. वही, २९०

२०२. वही, २८९

२०३. तित्थो०-२९८-३०१

२०४. समवायांग-१४

२०५. (क) तिलोयपण्णति ४/३७६-८१ (ख) तिलोकसार-८२३ (ग) हरिवंशपुराण-११/१०८-१०९
(घ) महापुराण-३७/८३-८६

२०६. तित्थो० गा०-३०३

२०७. स्थानांगसूत्र-८-२२

२०८. (क) ४/१३८४-८६ (ख) त्रिलोकसार-८२१-२२ (ग) हरिवंशपुराण-११/०१/११०-१२२
(घ) महापुराण-३६/७५-८२

२०९. ति० प ३/३८

२१०. वही, ४/२० त्रिलोकसार-२५४ एवं १००२

२११. तिलोयपण्णति-३/३१-३६
 २१२. वही, ४/८०६-३१४
 २१३. तित्थोगाली गा०-४०८
 २१४. तिलोयपण्णति-३/१३६
 २१५. वही, ६/१२८
 २१६. वही, ४/८०५
 २१७. तित्थोगाली गा०-४०९-४११
 २१८. तिलोयपण्णति-४/९१५-९१९
 २१९. महापुराण-३३/७३
 २२०. तित्थो०-४२९
 २२१. वही,
 २२२. वही, ४२७
 २२३. वही, ४२८-२९
 २२४. वही, ४३८
 २२५. हरिवंशपुराण-२/१७-१९; (घ०/९/४१-४४/१०९-११३); (महापुराण-२२/७७-३१२);
 (ति०पण्णति-४/७१२-८९५)
 २२६. तित्थोगाली गा०-४२४-४४७
 २२७. जैनदर्शन-प्रो० महेन्द्र कुमार जैन, पृ०-३९
 २२८. वही, पृ०-४१
 २२९. तित्थोगाली गा०-११९१-९२
 २३०. वही-११९३
 २३१. वही-११९४
 २३२. गा०-८, पृ०-२४
 २३३. तित्थोगाली-१२०१
 २३४. वही, १२०२
 २३५. वही, १२०७
 २३६. वही, १२०८
 २३७. वही, १२०४
 २३८. जैनदर्शन-महेन्द्र कुमार जैन, पृ०-१५६-१५७
 २३९. तित्थो०-१२००
 २४०. वही, १२११-१२
 २४१. वही, १२१८
 २४२. वही, १२१९
 २४३. वही, १२२०
 २४४. वही, १२२२
 २४५. वही, १२२३
 २४६. वही, १२२४
 २४७. वही, १२२५
 २४८. तिलोयपण्णति-४/६
 २४९. वही, ५/३२

१७४ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

२५०. तत्वार्थ सूत्र-३/१०
२५१. तिलोय०-६/२५, तत्वार्थ सूत्र-४/१४
२५२. तिलोय०-३/९, तत्वार्थ०-४/११
२५३. तिलोय-८/११७
२५४. तत्वार्थ-४१९-१०
२५५. गोम्मटसार, जीवकाण्ड-६८
२५६. तित्थोगाली गा०-१२२६
२५७. वही, गा०-१२२७-२८
२५८. वही, गा०-१२२९-३४
२५९. वही, १२३५
२६०. वही, १२३७
२६१. वही, १२३८
२६२. वही, १२३९
२६३. वही, १२४०
२६४. वही, १२४१-४३
२६५. वही, १२४७-४८
२६६. वही, १२४९
२६७. वही, १२५२-५५
२६८. वही, ८८८-८८९
२६९. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, तीसरा भाग, पृ०-२७६-२९१, स्थानांग सूत्र-१०

तित्थोगाली की भाषा एवं छन्द योजना

(क) प्राकृत भाषा का उद्भव एवं विकास

भाषा का मानव जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। विचार सम्प्रेषण के लिए मानव जाति के पास भाषा ही एक सार्थक साधन है। भाषा यानि बोला जाने वाला वह शब्द समूह जो व्यक्ति के अन्तरभावों को प्रकट करता है। यह भाषा या बोली मनुष्य के आविर्भाव से ही उसके साथ रही है। क्योंकि मनुष्य जब अस्तित्व में आया होगा, उसे विचार प्रकट करने की जरूरत पड़ी होगी। पाणिनी के अनुसार—

“आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।

मनः कायाग्नि माहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥”^१

अर्थात् आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को समझकर मन को बोलने की इच्छा से प्रेरित करती है। मन शरीर की अग्नि शक्ति पर जोर डालता है और वह शक्ति वायु को प्रेरित करती है, जिससे शब्द-वाक् की उत्पत्ति होती है।

इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के विकास के साथ-साथ वाणी का भी विकास हुआ। यदि मानव जाति की उत्पत्ति एक ही स्थान से मान ली जाए, तो यह स्पष्ट है कि आरम्भ में एक ही भाषा थी जो काल-क्रम से मनुष्य के विभिन्न भागों में फैल जाने से अनेक रूपों में विभक्त हो गयी। ऐसा लगता है कि भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप विकास और विस्तार करते हुए एक से अनेक भाषाएँ हुईं। उन अनेकों में भी ऐसी और शाखा-प्रशाखा, परिवार-उपपरिवार एवं भाषा-उपभाषाएँ बनती गयी हों, जिनमें वर्तमान में पूर्णतः भिन्नता पायी जाती है। यद्यपि इसमें मतवैभिन्य है कि भाषा और मनुष्य का आविर्भाव कब और किस प्रकार हुआ तथा इसकी कितनी शाखाएँ हुई हैं। फिर भी दुनिया में दो-ढाई सौ परिवार की भाषाएँ वर्तमान हैं। जिसमें से प्राकृत के स्थान-निर्धारण के लिए विद्वानों द्वारा स्थूल रूप से बारह परिवारों में विभक्त भाषा-परिवार अधिक अपेक्षित हैं। ये परिवार हैं—१. भारोपीय २. सेमेटिक ३. हैमेटिक ४. चीनी या एकाक्षरी ५. यूराल-अल्टाई ६. द्राविड़ ७. मैलोपालिनेशियन ८. बंटू ९. मध्य-अफ्रीका १०. आस्ट्रेलिया-प्रशान्तीय ११. अमेरिका और १२. शेष-परिवार।^२

इन बारह परिवारों में से प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारोपीय भाषा-परिवार से है। इस भाषा परिवार को आठ उपभाषा परिवारों में बाँटा जाता है—१. आरमेनियन २. बाल्टैस्लैबोनिक ३. अलवेनियम ४. ग्रीक ५. भारत-ईरानी या आर्य परिवार ६. इटैलिक ७. कैल्टिक और जर्मन या ट्यूटानिक।^३

इनमें प्राकृत का सम्बन्ध पाँचवें भारत-ईरानी या आर्य उपपरिवार से है जिसकी तीन शाखाएँ हैं—१. ईरानी २. दरद और ३. भारतीय ।^४

प्राकृत भाषा का निकट सम्बन्ध भारतीय आर्य भाषा शाखा से है । इस परिवार को विद्वानों ने तीन युगों में विभक्त किया है ।

१. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल—१६०० ई. पूर्व ६०० ई. पूर्व
२. मध्यकालीन आर्यभाषा काल—६०० ई. पूर्व १००० ई. और
३. आधुनिक आर्यभाषा काल—१००० ई. वर्तमान काल

इनमें से प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद की प्राचीन ऋचाओं में सुरक्षित है । मध्यकालीन आर्य-भाषा काल में विभिन्न प्रकार की प्राकृत भाषाओं को लिया जाता है । इस समय देश के विभिन्न भागों में बोली जाने वाली भाषा में देश-कालानुसार भिन्नता होने से इन भाषाओं में भी विभिन्नता रही । आधुनिक आर्य-भाषा काल में वर्तमान की उत्तर भारतीय देशी भाषाएँ आती हैं ।

इसमें इस शोध प्रबंध का प्रयोजन प्राकृत भाषा का परिचय देना है । प्राकृत मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा काल खण्ड के अंतर्गत आती है । प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के बारे में विद्वानों के दो मत हैं— एक के अनुसार प्राकृत भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है और दूसरे मत के अनुसार प्राकृत ही प्रकृति है, और उससे जो संस्कारित हुई वह संस्कृत भाषा है ।

वैयाकरणों और अलंकार शास्त्र के लेखकों ने कई साहित्यिक भाषाओं के समूह का नाम 'प्राकृत' रखा है और इन सबकी यह विशेषता बतलाई है कि इनका मूल संस्कृत है । उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि प्राकृत-प्रकृति अथवा एक मूल तत्त्व या आधारभूत भाषा से निकली है, जिसे उन्होंने संस्कृत माना है । आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार "प्रकृति संस्कृतम्" तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम् ।^५ विद्वानों ने इसका अर्थ किया है कि मूल भाषा संस्कृत है और इस संस्कृत से जो भाषा आयी है, वह प्राकृत कहलाती है । इसी प्रकार मार्कण्डेय ने भी अपने प्राकृत सर्वस्वम् के आरम्भ में ही लिखा है—“प्रकृति संस्कृतम् ।” तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते ।” अर्थात् मूल संस्कृत है तथा उससे निकली भाषा प्राकृत कही जाती है । दशरूपक की टीका में कहते हैं^६—“प्रकृते आगतं प्राकृतम् । प्रकृति संस्कृतम् ।” अर्थात् प्रकृति से आयी भाषा प्राकृत है, इसका मूल संस्कृत है । वाग्भट्टालंकार (२-२) की टीका में सिंहदेवगणि ने लिखा है—“प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम् ।” पीटर्सन की तीसरी रपट (३४३-७) में 'प्राकृत-चन्द्रिका' में आया है—प्रकृति संस्कृतम् तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम् । 'प्राकृत शब्दप्रदीपिका' के आरंभ में ही कहा है—प्रकृतेः संस्कृतायास् तु विकृतिः प्राकृति मता । कर्पूरमंजरी के बम्बई संस्करण में वासुदेव की संजीवनी टीका में लिखा है—प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतम् योनिः ।^७ वररुचि अपने प्राकृत व्याकरण में प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के बारे में मौन हैं । चण्ड ने अपने 'प्राकृत लक्षणम्' में कहा है—प्राकृत तीन प्रकार से सिद्ध-प्रसिद्ध है—१. संस्कृत योनिवाली अर्थात् तद्भव शब्द २. संस्कृतसम् अर्थात् तत्सम् शब्द और ३. देशी प्रसिद्धम् अर्थात् देश्य शब्द ।

इन तीन प्रकार के शब्दों से युक्त प्राकृत भाषा बतायी गयी है। उन्होंने भी इसकी उत्पत्ति के बारे में कुछ नहीं कहा है।

यहाँ हम पुनः आचार्य हेमचन्द्र के कथन पर विस्तार से विचार करते हैं—आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में कहा है—१. प्रकृति संस्कृतम् ! तत् भवं तत् आगतं वा प्राकृतम् २. संस्कृततयोनेरेव तस्य लक्षणम् और ३. न देश्यस्य ।^८

अर्थात् १. इसमें जो शब्द (संस्कृत से) बने वे और इसमें (संस्कृत में) से जो आये अर्थात् तद्भव और तत्सम शब्द भी हैं। २. संस्कृत योनिवाले शब्दों के लक्षण दिये जा रहे हैं। ३. देशी शब्दों के बारे में यहाँ कुछ नहीं कहा जा रहा है।

यहाँ तक उनकी परिभाषा चण्ड के समान प्रतीत होती है, परंतु 'प्रकृति संस्कृतम्' इसमें संदेह उत्पन्न करता है, विद्वानों का एक वर्ग इसका अर्थ यह करता है कि प्रकृति शब्द और योनि से यह अर्थ लिया जाये कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। अन्य पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मत में भी प्राकृत को संस्कृत की योनि से उत्पन्न बताया गया है।

पर सावधानीपूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि हेमचन्द्र के 'प्रकृति संस्कृतम्' का अर्थ है कि उन्होंने प्राकृत के लिए कोई स्वतंत्र व्याकरण की रचना नहीं की बल्कि अपने संस्कृत व्याकरण 'सिद्धहमेशब्दानुशासनम्' के सात अध्याय में संस्कृत व्याकरण के नियमों को प्रतिपादित करने के पश्चात् आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण के नियमों को समझने और शब्दों की सिद्धि के लिए पूर्व के संस्कृत व्याकरण के सात अध्यायों को और प्राकृत शब्दों की सिद्धि के लिए संस्कृत शब्दों को आधार बनाया है और इसी दृष्टि से प्रकृति और योनि शब्द का उपयोग किया गया है, क्योंकि यदि 'प्रकृति संस्कृतम्' का अर्थ प्राकृत भाषा का मूल संस्कृत भाषा माना जाये तो वररुचि के प्राकृत व्याकरण में इस सम्बन्ध में अन्य प्राकृत भाषाओं के लिए जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ अव्यवस्थित हो जाएगा। वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' में कहा गया है—

१. पैशाची—१०.१—प्रकृतिः शौरसेनी १०.२

२. मागधी—११.१—प्रकृतिः शौरसेनी ११.२

३. शौरसेनी—१२.१—प्रकृतिः संस्कृतम् १२.२

अब इन सूत्रों में दिये गये 'प्रकृति' शब्द का वही अर्थ लिया जाये, तो हेमचन्द्र के सूत्र के सम्बन्ध में लिया जाता है, तो इसका अर्थ यह होगा कि शौरसेनी संस्कृत से उत्पन्न और मागधी तथा पैशाची शौरसेनी से उत्पन्न है। ऐसी व्याख्या से शौरसेनी, मागधी और पैशाची की पूर्ववर्ती काल की भाषा सिद्ध होती है, जो प्राकृत भाषाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम की मान्यताओं के प्रतिकूल जाता है।^९ अतः प्रकृति शब्द का उपर्युक्त अर्थ ही समीचीन प्रतीत होता है। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि—संस्कृत को भी प्राकृत युग में ही संस्कृत कहा गया है। सर्वप्रथम संस्कृत शब्द का प्रयोग वाल्मिकी रामायण में किया गया है।^{१०}

‘अहं ह्याति तनुश्चैव वानरश्च विशेषतः ।

वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमेव संस्कृताम् ॥

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।

रावणं मन्यमाना मा सीता भीता भविष्यति ॥

इससे पूर्व 'संस्कृत' संज्ञा के प्रमाण ग्रन्थों में नहीं मिलते हैं। बाद के लौकिक नाटकों-काव्यों के युग के प्रारम्भिक कवि कालिदास ने कुमारसंभवम् में 'संस्कृत' के लिए संस्कारपूता और सामान्य जन की भाषा से सुखाग्राहिया भाषा कहा है।^{११}

'द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तत् मिथुनं नुनाव ।

संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं, वधूं सुखग्राह्य निबन्धनेन ॥

यद्यपि उपर्युक्त श्लोक से संस्कृत का रूप स्पष्ट नहीं होता है पर वाचन प्रयोग से संस्कृत भाषा की ध्वनि निकलती है। इस प्रकार प्राकृत युग में 'संस्कृत' संज्ञा का सर्वप्रथम प्रयोग होने से संस्कृत को प्राकृत का मूल नहीं माना जा सकता है।

प्राकृत के प्रकार—आधुनिक विद्वानों में डॉ. हर्मन जैकोबी प्राकृत को दो प्रकार का मानते हैं—आर्ष प्राकृत, जो आगम की भाषा है और जैन महाराष्ट्री, जिसमें टीका आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने भी दण्डिन् के काव्यादर्श पर टीका करते हुए प्राकृत को दो प्रकार का माना है—१. आर्ष प्राकृत और दूसरा उसके समान। (आर्षोत्थम् आर्षतुल्यम् च द्विविधम् प्राकृतम् विदुः)^{१२} २. वुल्नर^{१३} ने भी प्राकृत को दो प्रकार का माना है—१. जो प्रकृति से प्राप्त हुआ है या प्रकृति से सम्बन्ध रखनेवाला अर्थात् किसी वस्तु के मूलरूप से निकला हुआ और उसके विकार रूप विकृति का प्रतिपक्षी तथा २. दूसरा कुछ व्यापक सा अर्थ है—सहज (नैसर्गिक), साधारण, लौकिक, ग्रामीण आदि।

वस्तुतः जैसा कि अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख किया गया है, प्राकृत का उत्स भारोपीय परिवार की भाषा से है, जिसका परवर्ती रूप भारत-ईरानी आर्यभाषा उप-परिवार की भारतीय आर्य-शाखा उप-परिवार में है। इसी उप परिवार में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल है, जिसमें वेदों की रचना हुई। वैदिक युग की इस भाषा में हमें कई वैभाषिक प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है, जो तत्काल और तत्तत्प्रदेश की लोकभाषा का सूचक है। इस भाषा को विद्वानों ने 'छान्दस्' संज्ञा दी है। यह छान्दस् उस समय की साहित्यिक भाषा रही होगी, जो जनभाषा का परिष्कृत रूप है। जनभाषा निश्चयरूपेण इससे अलग रही होगी। जिसकी निरन्तरता बनी रही और भाषा में देश, काल के अनुसार परिवर्तन होते रहे। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार—“भाषा की विकसनशील शक्ति के कारण पाणिनी के पूर्व छान्दस् संस्कृत के अनेक रूप प्रादुर्भूत हो गये थे। इस काल में ब्रह्मर्षि देश तथा अन्तर्वेद की विभाषा, उत्तरी विभाषा उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी और पाणिनी से पहले भी कुछ वैयाकरणों जैसे—शाकटायन, शाकल्य, स्फोटायन, इन्द्र प्रभृति ने इसे व्याकरण सम्मत साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया था। पाणिनी ने जिस भाषा को व्याकरण द्वारा अनुशासित किया, वह निश्चय ही उस समय की साहित्यिक भाषा रही होगी। मेरा अनुमान है कि छान्दस् भाषा, जिसमें लोकभाषा के अनेक स्रोत मिश्रित थे, परिमार्जित और परिष्कृत हो साहित्यिक संस्कृत रूप को प्राप्त हुई है। तथ्य यह है कि भारत वर्ष में अनेक जातियों के लोग एवं उनकी अनेकों भाषाएँ हैं। इन उपादानों के

सम्मिश्रण से ही आर्यभाषा और भारतीय संस्कृत निर्मित हुई है। भारत में निषाद, द्राविड़, किरात और आर्य-इन चार जातियों ने मिलकर जनजीवन एवं संस्कृति को विकसित किया है।^{१४} डा. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का अभिमत है—“आस्ट्रिक और द्रविड़ों द्वारा भारतीय संस्कृति का शिलान्यास हुआ था, और आर्यों ने उस आधारशिला पर जिस मिश्रित संस्कृति का निर्माण किया, उस संस्कृति का माध्यम, उसकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्यभाषा बनी है।”^{१५}

इस आर्यभाषा में कई तत्कालिक स्थानीय बोलियों के रूप विद्यमान हैं। बाद में विकास करती हुई इस भाषा में साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई। खासकर छठी शताब्दी ई. पूर्व में ब्राह्मण परम्परा के आश्रमों में वेदों का अध्ययन जिस भाषा में प्रारम्भ हुआ, पाणिनी ने उसी भाषा को अनुशासित किया और बाद के काल में यह भाषा संस्कृत कहलायी, जिसमें महाकाव्यों, नाटकों आदि की रचना हुई। पाणिनी के पूर्व ही यह भाषा प्रचलन में आ गयी थी और वेदोत्तर साहित्य, आरण्यक, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि इस भाषा में रचे जा चुके थे। पर इस भाषा को ‘संस्कृत’ नाम से बहुत बाद में चिह्नित किया गया, जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।

जब कोई-भाषा साहित्य की भाषा बन जाती है और व्यापक रूप से इस भाषा में विपुल साहित्य की रचना प्रारम्भ होती है, तो स्वाभाविक रूप से यह परिनिष्ठित और जनसामान्य के प्रयोग की भाषा से अलग और ऊपर उठकर साहित्यिक भाषा बन जाती है, या यों कहें कि यह स्थिर हो जाती है। किन्तु जन सामान्य में प्रचलित उसके पूर्ववर्ती रूप गतिमान रहते हैं और देश-काल क्रम से उनमें परिवर्तन - परिवर्द्धन होता रहता है। यही कारण है कि वैदिक साहित्य की रचना तत्कालीन भाषा के परिनिष्ठित रूप में हुई और जनभाषा आगे बढ़ती रही, जिसमें से पुनः संस्कारित कर वेदोत्तर साहित्य की रचना हुई। पाणिनी द्वारा इस भाषा के व्याकरण की रचना कर देने और इसे नियमों में बाँध देने के कारण यह शुद्ध रूप से साहित्य की भाषा बन गयी और इसमें एक ठहराव सा आ गया। लेकिन जनभाषा अलग-अलग क्षेत्रों में विकसित होती रही। चूँकि पाणिनी ने व्याकरण के द्वारा लौकिक (संस्कृत) को नियमबद्ध कर दिया और उसका एक सर्वमान्य रूप स्थापित हो चुका था, इसलिए यह विकसनशील भाषा उससे सर्वथा अलग रही और बाद में इसे ही प्राकृत कहा गया।

यह कथित प्राकृत भाषा देश-काल-क्षेत्र की अपेक्षा अलग-अलग रूप की हुई। क्योंकि जनसाधारण का उच्चारण, शब्द प्रयोग क्षेत्र की अपेक्षा भिन्न-भिन्न था। इस प्रकार प्राकृत के कई प्रकार विकसित हुए। इनमें मुख्य रूप से अर्धमागधी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, चूलिका-पैशाची आदि हैं। इनके नाम क्षेत्र की अपेक्षा अलग-अलग रखे गये हैं।

छठी शताब्दी ई. पूर्व में जब वैदिक धर्म में उत्पन्न हुए बाह्याडंबरों और कर्मकांडों के विरुद्ध आवाज उठी और गौतम बुद्ध एवं महावीर के नेतृत्व में धर्मसुधार आंदोलन शुरू हुआ तो साधारण जनता को इस प्रयास से जोड़ने के लिए इन सुधारकों ने साधारण जनता की भाषा में ही उपदेश करना शुरू किया, जो उनके लिए सुगम और बोधगम्य थी। उनके

द्वारा दिये गये प्रवचनों के आधार पर परवर्ती काल में जब पिटक और आगम-ग्रन्थों की रचना हुई, तो उसमें भी प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया गया। बौद्ध साहित्य की रचना कुछ पहले हो गयी और इसमें व्यहृत भाषा प्राचीन प्राकृत थी इसलिए इसे अन्य प्राकृतों से अलग करके 'पालि' नाम दे दिया गया। जैन आगम और आगतेमर धार्मिक साहित्य की रचना में भी सम्प्रदाय भेद हो जाने के कारण अलग-अलग प्राकृतों का प्रयोग किया गया। श्वेताम्बरों में मान्य आगम साहित्य अर्धमागधी भाषा में एवं टीका साहित्य जैन महाराष्ट्री में रचे गये। वहीं दिगम्बर परम्परा में मान्य उपलब्ध केवल बारहवें अंग दृष्टिवाद के कुछ अंश और अन्य प्रारम्भिक आचार्यों के ग्रन्थों की भाषा शौरसेनी बनी। यद्यपि बाद के कालखण्ड में जैनाचार्यों और बौद्ध भिक्षुओं ने भी अपनी रचनाएँ संस्कृत में प्रारम्भ कर दी, जिसका मुख्य कारण पांडित्य प्रदर्शन और वैदिक परम्परा के विद्वानों से शास्त्रार्थ में समानता करना हो सकता है।

इस शोध-प्रबंध के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ 'तित्थोगाली प्रकीर्णक' श्वेताम्बर परम्परा को ही धारण करता है इसलिए, इसकी भाषा भी अर्धमागधी है। अर्धमागधी भाषा का शाब्दिक अर्थ है—आधी मागधी और आधी अन्य भाषा।

तीर्थंकर महावीर का कर्मक्षेत्र मुख्यतः बिहार था, और उसमें मगध के अलावा और अन्य क्षेत्र जैसे—वज्रभूमि, मानभूमि, सिंहभूमि, कौशाम्बी, काशी, बंग और मिथिला भी शामिल थे। अतः स्वाभाविक रूप से महावीर की भाषा इन सब क्षेत्रों की भाषा से प्रभावित मागधी रही होगी। विद्वानों ने परम्परा से आ रही इस भाषा में मागधी से इतर शब्दरूपों, प्रयोगों और तत्त्वों को देखकर ही इसका नाम अर्धमागधी रखा है। यह साहित्यिक अर्धमागधी भाषा परवर्ती काल (लगभग ४०० ई. सन्) की है, जो प्राचीन आर्य प्राकृत (आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध), शिलालेखी प्राकृत एक स्थापित भाषा बन गयी थी और जनसाधारण की भाषा महाराष्ट्री, अपभ्रंश आदि के नाम से आगे बढ़ चुकी थी। तथापि इस ग्रन्थ में प्राचीन अर्धमागधी या आर्य प्राकृत के बहुत सारे रूप सुरक्षित हैं।

(ख) ध्वनि तत्त्व

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का विषय 'तित्थोगाली प्रकीर्णक' लगभग ५वीं. सदी का ग्रन्थ है तथा इसकी भाषा मुख्य रूप से अर्धमागधी है, जो महाराष्ट्री से प्रभावित है। इसके आगम के अंतर्गत समाहित होने के बावजूद भी इसकी भाषा आगमों की तरह आर्य प्राकृत न होकर व्याकरणनिष्ठ है। इसका कारण इसका रचनाकाल है। जिस काल में इसकी रचना हुई, उस समय तक महाराष्ट्री प्राकृत साहित्य के क्षेत्र में खासकर काव्य के क्षेत्र में स्थापित हो चुकी थी और पद्यों की रचना इसी भाषा में होने लगी थी। जहाँ तक शौरसेनी के प्रभाव का प्रश्न है, इसपर न के बराबर पड़ा है।

तित्थोगाली की भाषा का स्वरूप, भाषिक परिवर्तन और व्याकरणिक स्वरूप निम्न प्रकार है :-

१. इसके शब्दों पर यदा-कदा संस्कृत का प्रभाव देखा जा सकता है। जो यह सिद्ध करता है कि इस युग में प्राकृत ग्रन्थ संस्कृत में सोचकर ही लिखे जाने लगे थे। जैसे—आसि (गा०२६), एते (गा०३४) आदि।

२. प्राकृत के सामान्य लक्षण तित्थोगाली में सर्वतः प्राप्त होते हैं। इसमें प्राकृत में प्रयुक्त वर्णों का ही प्रयोग हुआ है। ऐ, औ, श, ष का प्रयोग नहीं है। स्वरों में ऋ, ॠ, लृ, लृ के स्थान पर क्रमशः अ, इ, उ, रि हो गया है। जैसे उसमो-ऋषभ (१), रायगिहे-राजगृहः (५), घय-घृत (२९), भिंगा-भृंगा (४६), गेहागारा-गृहाकारा (४६), मियावई-मृगावती (५७९) रिसी-ऋषि (७६७), रिसभ-ऋषभ (७७), मियंको-मृगांक आदि।

३. ऐ, औ की जगह सर्वत्र ए और ओ का प्रयोग हुआ है। जैसे कंढवे-कैटभः (६१०), चोरा-चौर्या (६३२), चेत्ते-चैत्ये (६३५), वेजयंती-वैजयन्ती (५८४), पोसे-पौषे (४१२)

४. ऐ की जगह अई का प्रयोग-वइसाह-वैशाख (४१२, ६१३), तइलोकक-त्रैलोक (१०४१)

५. प्राकृत में संयुक्त या असंयुक्त किसी अवस्था में 'न' का सर्वत्र 'ण' होता है। लेकिन अर्धमागधी में आदि और संयुक्त अवस्था में 'न' होता है। तित्थोगाली में दोनों प्रकार के लक्षण उपलब्ध हैं-नच्चंति (२४०), नट्टं (२३७), अण्णे (२३८), दोन्नि (२४५), सक्कीसाणा (२४५), पाणयाईया (२४४), नमो (२५१), वित्थिण्ण (१), निद्धिट्ठो (७), निच्चो (८), अणिच्चो (८), तिण्णि (४४), अन्नेसु (५०), विण्णवण (२४), नवमम्मि (१३२), अमणुण्ण (१४६), न्हावेऊणं (१७२), पण्णासं (२००)। यहाँ आदि में सर्वत्र 'न' का प्रयोग है, पर मध्य और संयुक्त स्थिति में दोनों 'ण' और 'न' पाया जाता है।

६. तीनों श, ष, स की जगह 'स' का प्रयोग हुआ है। सरिसं-सदृशं (१६६), सिरिअभिसेयं-श्री अभिषेकं (१०४), सत्तंग-सप्तांग, सुरिदि-सुरेन्द्र (१०२), सुसिलिट्ट-सुश्लेष्ठं (१०५), सहस्स-सहस्र (११२), सिरीयं-श्रियं (११४), सुयरयणे-श्रुतरत्नः (१३९), पणसुन्नं, सुण्ण, तिसुन्नं-पंचशून्यं, शून्य, त्रिशून्यं (३६३), भरहवासे-भरतवर्षे (३६३) इत्यादि।

७. विसर्ग-प्राकृत में विसर्ग नहीं होता है। विसर्ग का अभाव तित्थोगाली में भी है। विसर्ग का दो तरह का रूप बनता है। यदि अकारान्त शब्द के स्थान पर और शब्द के बाद विसर्ग हो तो उसका ओ बनता है।^{१६} साथ ही अकारान्त प्रथमा एकवचन में भी संस्कृत विसर्ग के स्थान पर 'ओ' बनता है।^{१७} अर्धमागधी में 'ओ' के साथ 'ए' रूप भी प्राप्त होता है। यह मागधी का लक्षण है।^{१८} तित्थोगाली में उसभो-ऋषभः (१), पासो-पार्श्वः (३३६), सुव्वओ-सुव्रतः (३३३) आदि रूप मिलते हैं। इसमें सम्पूर्ण ग्रन्थ में एकरूपता है। विसर्ग के बाद वर्ण आने पर अर्थात् शब्द के बीच विसर्ग आने पर अगले वर्ण का द्वित्व होकर विसर्ग का लोप हो जाता है। जैसे दुक्खभूता-दुःखभूता (१२८),

८. अनुस्वार-तित्थोगाली में सर्वत्र 'म' के स्थान पर अनुस्वार हुआ है। साथ ही पंचम वर्ण के साथ किसी वर्ण के संयुक्त होने पर भी अनुस्वार हुआ है। यह प्राकृत का सामान्य लक्षण है।^{१९} जैसे संघं-संघम्, पायडं - प्राभृतम्, वियडं - विकटम् संखेवं -

१८२ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

संक्षेपम् (४), अणयंतो - अनेकान्तः (८), सोहति - शोभन्ति (२७), पंच - पञ्च (३६८, ३८१), अंगणाओ - अंगनाओ (४४१), संभव - स्यम्भव (४५३), नंदो - नन्दः (४५६), जिणिदे - जिणेन्द्रः इत्यादि। 'म' के स्थान पर अनुस्वार सर्वत्र देखने को मिलता है।

९. अनुनासिक वर्ण— प्राकृत में अनुनासिक वर्ण ज्यादा नहीं होता है। वर्गीय पंचम वर्ण ही केवल अनुनासिक वर्ण के रूप में परिवर्तित हो सकता है। इसका तात्पर्य है कि जहाँ भी अनुनासिक वर्ण है वहाँ नासिक्य वर्ण की उपलब्धि जानना चाहिए। प्राकृत में ज्यादा प्रयोग नहीं होने से ज्यादा शब्द अनुनासिक के नहीं मिलते हैं। कहीं-कहीं विभक्ति में भी नासिक्य की जगह अनुनासिक का प्रयोग पाया जाता है। जैसे— तृतीया बहुवचन में हि, हिं, हिँ। तित्थोगाली में अनुनासिक का प्रयोग नहीं है। सर्वत्र अनुस्वार का प्रयोग ही किया गया है।

१०. ध्वनि परिवर्तन— तित्थोगाली में प्राकृत के नियमानुसार ही दो प्रकार का ध्वनि परिवर्तन हुआ है। १. स्वर २. व्यंजन। स्वर में कुछ स्थानों पर ह्रस्व का दीर्घ तथा दीर्घ का ह्रस्व हुआ है। व्यंजन में भी कुछ व्यंजन ध्वनि का लोप तथा कुछ का ध्वनि परिवर्तन हुआ है। यहाँ पर स्वर और व्यंजन के ध्वनि सम्बन्धी विधान को निम्नलिखित बिन्दुओं में विभाजित कर उसका अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) स्वर विधान— प्राकृत में अ, इ, उ, ए, ओ— इतने ही मुख्य स्वर हैं। ऐ, औ का परिवर्तन ए और ओ में हो जाता है, जिसके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। ऋ और लृ का तित्थोगाली में हुए परिवर्तन ऊपर दर्शाये गये हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत का ऋकारान्त शब्द प्राकृत में तीन प्रकार का होता है— अर, आर और उ। संस्कृत पितृ शब्द तित्थोगाली में पियरो (२५८) मातृ शब्द मायरो (४७१) हुआ है। पितृ शब्द का यहाँ पिति (४७१) रूप भी प्राप्त होता है।

(i) स्वर भक्ति— जब संयुक्त व्यंजन का उच्चारण की दृष्टि से सरल करने के लिए संयुक्त व्यंजन के बीच एक स्वर का आगम होता है और इससे संयुक्त को विभक्त किया जाता है, तो इसे स्वरभक्ति कहते हैं। तित्थोगाली में स्वरभक्ति का प्रयोग खूब हुआ है। उदाहरण के लिए कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं— पल्योपम - पलिओवम (४४, ५१४), वीर्य - विरिय (६६, ४७४, ४७५), तिर्यक - तिरिय (१३६, ९४३), तूर्य - तुरियं (१३८, १८५), उत्कर्ष - उक्करिस (१३८), हर्ष - हरिस (१८४, १८५, १०४२) सदृश - सरिस (२२१, २३३, ३९४), श्रीदाम - सिरिदास (२६९), अर्हत् - अरिहा (३९८), अरहा (६२०), चैत्य - चेइय (४०८), सुदर्शन - सुदरिसण (४८९, ५४३), शौर्य - सोरिय (५१९), छद्मस्थ - छउमत्थिए (४२२), स्नेह - सिणेह (७४), स्वप्न - सुमिणे, सुविणे (१००, ११७, १२१) सुश्लेष्ट - सुसिलिट्ट (१०५), आचार्य - आयरिय (६०२, ६४४, ९०९), पर्यंत - परंता (६१२), वर्षभिः - वरिसेहिं (६९८, ८२६), क्लेशः - किलेसे (७९०), सदृश्य - सरिच्छ (२४२), कर्षणः - करिसन (१०१५), भार्या - भारिया (१०२५) इत्यादि। यहाँ स्वप्न का दो रूप सुमिण और सुविण मिलता

है। यहाँ सुविण में स् और व के मध्य इ स्वर का आगम हुआ। सुमिण शब्द पर मोनुनासिक का प्रभाव पड़ा और प् म् हो गया। ऐसे प्राकृत में और उदाहरण हैं, जैसे— यमुना - जऊँणा, चामुण्डा - चाउँण्डा इत्यादि।

(ii) **स्वर लोप**— संस्कृत शब्द के स्वर का लोप प्राकृत में यदा-कदा हो जाता है। इसमें व्यंजन के साथ वाले स्वर का लोप नहीं होता बल्कि आदि और मध्य के पूर्ण स्वर का लोप हो जाता है। अन्त स्वर का प्राकृत में लोप नहीं होता है। तित्थोगाली में आदि स्वर के लोप का उदाहरण है— इक्षकरसः - खोयरसो (४०२), इदाणि - दाणि (६३०, ६३८, ६५१, ७३५)। मध्य-स्वर लोप के उदाहरण— राजकुल - राउल (७८१) है। यहाँ स्वर सहित व्यंजन ज् का लोप है।

(iii) **ह्रस्वीकरण**— प्राकृत में संस्कृत शब्दों के आदि और मध्य स्वरों का ह्रस्वीकरण हो जाता है, विशेषकर संयुक्त वर्ण के पूर्व का स्वर। तित्थोगाली में— तीर्थोद्गालिक - तिथोगाली (४), तीर्थकरा - तिथ्यरा (३८१), राज्यं - रज्जं (२८८), चूर्णम् - चुण्णं (२२९, ९२०) इत्यादि। यदि संयुक्त वर्ण का पूर्व वर्ण 'ए' और 'ओ' होता है तब उसका ह्रस्व रूप 'इ' और 'उ' हो जाता है। तित्थोगाली में जिणेन्द्र - जिणिंदा (३४६), नरेन्द्र - नरिंद (२८६), महेन्द्र - महिंद (३), नीलोत्पल - नीलुप्पल (३०), पद्मोत्पल - पउमुप्पल (३६) इत्यादि हैं।

कहीं पर संयुक्त वर्ण के पूर्व 'ए' और 'ओ' रहने पर 'ए' और 'ओ' ह्रस्व और दीर्घ-दोनों माने गये हैं। ए, ऐ, ओ, और औ को सन्ध्यक्षर कहा जाता है।

(iv) **दीर्घीकरण**— प्राकृत में संयुक्त वर्ण में से एक व्यंजन का लोप होने पर शेष बचे व्यंजन का दीर्घ हो जाता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— कश्यप - कासव (३८५), अश्वं - आसं (३०१), शिष्य - सीस (४७२) आदि। कभी-कभी दीर्घ न होकर अनुस्वार हो जाता है, जैसे— दर्शनम् - दंसणं (१२१७),

(v) इसके अतिरिक्त असंयुक्त अवस्था में भी स्वर-परिवर्तन के उदाहरण तित्थोगाली में प्राप्त होते हैं जो निम्न हैं— अ - आ = प्रकट - पागड (७६५), प्रसुप्ता - पासुता (१०३०), वर्षः - वासो (५२१), अ - इ = अन्न - इत्थ (८०७), अंगार - इंगार (९३६), सर्षव - सिरीसव (९४०), मृगांक - मियंको, जरासंध - जरासिंधू (६१०), यहाँ जरासंध का उत्तरपद 'संध' सिंधु के मिथ्यासादृश्य से 'सिंधू' हुआ लगता है।

अ - उ = वरपद्म - वरपउम (२७५, २९७, ३३९, १०२६)

अ - ए = अत्र - एत्थ (७१),

अ - ओ = अवसर्पिणी - ओसप्पिणी (९),

आ - अ = त्रुटितांग - तुडियंगा, चित्रांक - चित्तंगा, वनदाव - वणदवो (७५३),

आ - ओ - श्वास - सोस (२६०)

इ - ई = दृष्टि - दिट्ठी (१२०९, १२१३),

इ - इ = आसीत् - आसि (५५),

- इ - ओ = अविच्छिन्न - अव्वोच्छिन्न (७६५),
 उ - अ = मुकुटा - मउडा (२८६, ५९२, ५९५)
 उ - इ = पुरुष - पुरिसा (६८, २८७, ६१२, ६१२, ६१३, ६५०, ८०२),
 अणुयोगद्वार - अणियोगदार (८६६),
 उ - ऊ = पुष्यमित्र - पूसमित्त (६२१),
 उ - ओ = मूल्यम् - मोल्लं (१०७५),
 ऐ - ए = वैयावृत्य - वेयावच्चं (६६९), कैटभं - केढवे - (६१०),
 औ - ओ = चौर्या - चोरा (६३२), पौषे - पोसे (४१२) इत्यादि ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि प्राकृत शब्द स्वर-प्रधान हैं, इसलिए प्राकृत में स्वर का विकार महत्त्वपूर्ण है। ये विकार दो तरह से होते हैं। जब स्वर का उच्चारण-स्थान परिवर्तित हो गया यथा ऋ का अ, उ, इ, रि या स्वप्न का सुविणो आदि, तो इसे गुणात्मक स्वर-विकार कहा जाएगा और जब दीर्घ स्वर ह्रस्व में और ह्रस्व स्वर दीर्घ स्वर में परिवर्तित हो तो उसे मात्रात्मक स्वर-विकार कहा जाता है।

कभी-कभी अनुस्वार का दीर्घ स्वर में परिवर्तन होता देखा जाता है। जैसे तित्थोगाली में सिंहः - सीहो (७६१), कभी समासबद्ध मध्य ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है, जैसे सदृश्य - सारिच्छ (९३५)

(vi) स्वरागम- जब किसी संयुक्त व्यंजनवाले शब्द में सरलता से उच्चारण के निमित्त अलग से स्वर आकर जुड़ जाता है, तो इसे स्वरागम कहा जाता है। स्वरागम और स्वरभक्ति में यह अन्तर है कि स्वरभक्ति संयुक्त व्यंजन के मध्य होती है और स्वरागम संयुक्त स्वर या दो व्यंजनों के मध्य होता है। तित्थोगाली में आदि, मध्य और अन्त स्वरागम निम्न स्थानों पर उपलब्ध है। स्त्री - इत्थी (३०१, ८८८, ९६५), स्म - अम्ह (६५८), वज्रजंघ - वइरजंघे (११५०), सरित् - सरिया (२२७) इत्यादि।

(vii) सम्प्रसारण- प्राकृत में सम्प्रसारण उसे कहा जाता है, जब संस्कृत की ध्वनि बलहीन वर्ण में य का इ और व का उ हो जाता है। तित्थोगाली में सम्प्रसारण के उदाहरण हैं- राजन्य - रायन्न - राइण्ण (३९५), द्वारे - दुवारे (१०१९, १०२५)। कभी व का उ और संयुक्त व्यंजन से पहले ओ भी हो जाता है। जैसे त्वरितः - तुरियं (१३८, १८५, २१०) स्वप्न - सुविण, सुमिण (१००, ११७, १२१) (कुमाउँनी बोली में स्वप्न को स्वीण कहा जाता है।) सम्प्रसारण नियम के तहत अय का ए और अव को ओ में परिवर्तन होता है। तित्थोगाली में नयति - नैति (१७०), अवसर्पिणी - ओसप्पिणी (१५), भवति - होई (१३१), लवणदेवी - लोणदेवी (६४१), स्थापयित्वा - ठवेउं (१७१) आदि मिलता है। इसके अतिरिक्त त्रैलोक्य - तइलोकक (१०४१), वैशाख - वइसाह (१०९४, १०९५), वैयावृत्य - वेयावच्चं (६६९) आदि प्रयोग भी सम्प्रसारण को दर्शाते हैं।

(viii) स्वराघात- स्वतंत्र या संयुक्त रूप से जुड़े स्वरों का जब शब्द के किसी वर्ण पर आघात पड़ता है, तो उसे स्वराघात कहा जाता है। प्राचीन भाषा में देखें तो

इण्डो-यूरोपियन से लेकर वैदिक भाषा तक स्वराघात एक महत्त्वपूर्ण विषय है। विशेषकर वैदिक भाषा में स्वराघात का अधिक महत्त्व है। इसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित- तीन प्रकार के स्वराघात हैं। पर लौकिक संस्कृत में इसका प्रभाव नहीं के बराबर है। वैदिक भाषा में स्वराघात अर्थ और भाव की दृष्टि से उल्लेखनीय है। यद्यपि संस्कृत में इसका प्रभाव नहीं है। परन्तु परवर्तीयुगीन साहित्यिक भाषा प्राकृत में स्वराघात का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक युगीन जनभाषा में भी स्वराघात की उपस्थिति थी।

स्वराघात के कारण जैसे वैदिक भाषा में स्वर और छन्द प्रकृष्ट रूप से प्रकाशित होते हैं, वैसे प्राकृत में यह छन्द के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्वराघात के कारण पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वर का उच्चारण गौण हो जाता है, और इस कारण जिस स्वर पर आघात होता है, वह स्वयं दूसरे स्वर में परिवर्तित हो जाता है। साथ ही गौण उच्चरित स्वर को भी परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करता है। स्वराघात के विषय में वैदिक का प्रभाव महाराष्ट्री प्राकृत में तथा लौकिक संस्कृत का प्रभाव शौरसेनी में देखा जाता है। इसी से परवर्ती मराठी भाषा में वैदिक और हिन्दी में संस्कृत स्वराघात का प्रभाव पड़ा है। तित्थोगाली में स्वराघात के उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) स्वर का ह्रस्वीकरण— जब पूर्ववर्ती स्वर पर आघात होता है तब परवर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। जैसे— पानीयं - पाणिय (२९)।

(ख) स्वर-परिवर्तन— एक स्वर के स्थान पर दूसरा स्वर भी स्वराघात के कारण होता है। जैसे— भीतीयव्वम् - भाइयव्वं (१४२), गृहितव्यम् - गहेयव्वं (१२१७), प्रकट - पागड (७६५), अत्र - एत्थ (७१), पद्म - पउम (२७५), आसीत् - आसि (५५), पुरुष - पुरिस (२८७, ८०२), मूल्य - मोल्ल (१०७५), मध्यम - मज्झिम (५२४), मज्झमि (७१), यहाँ, शौरसेनी का प्रभाव दिखता है। 'ज्ञ' में 'ग्' के साथ जो 'अ' है, वह भी स्वराघात के कारण 'उ' में बदल जाता है। जैसे— सर्वज्ञ - सव्वण्णु (१०) इत्यादि।

(ix) समाक्षर लोप— एक ही प्रकार की दो ध्वनियों के आस-पास आने पर उच्चारण सौकर्य हेतु एक ध्वनि का लोप हो जाना समाक्षर लोप कहलाता है। तित्थोगाली में राजकुलं - राउउलं - राउलं (७८१) मिलता है।

(क) व्यंजन-विधान— प्राकृत भाषा में व्यंजन वर्ण का अत्यधिक परिवर्तन होता है। इसमें दो स्वरों के बीच के अल्पप्राण व्यंजनों का प्रायः या तो लोप हो जाता है या किसी प्रकार का परिवर्तन या विकार हो जाता है। यहाँ व्यंजनों के होने वाले उपचारों को तित्थोगाली के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण प्रस्तुत है। प्राकृत में संस्कृत के ड, ज, ढ, ड, श, ष, अन्त्य व्यंजन, द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं होती है। इनका परिवर्तन हो जाता है। इसे यथास्थान दर्शाया जाएगा।

१. व्यंजन-भंग (Hiatus)— दो स्वर जब साथ-साथ आ जाते हैं, तो इसे व्यंजन भंग कहा जाता है। इसका प्रयोग वेद में हुआ है। संस्कृत में यह अदृश्य है। प्राकृत में इसकी सर्वाधिक उपस्थिति है। इसका कारण है— प्राकृत में दो स्वरों के बीच के व्यंजन का लोप

हो जाना, जिससे शेष बचे दो स्वर पास-पास रह जाते हैं। तित्थोगाली में उदाहरण हैं—
भातृकः - भाउओ (७५६), आचार्यः - आयरियो (८४६, ९०९), प्रव्रजितः - पव्वइतो (१०५७), परिग्गहिओ (१०५७), गामिणीए, इच्छाए (१०७१), पगईए (११९४) इत्यादि।

२. समीकरण— जब एक ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर उसे अपना रूप दे देती है, तो उसे समीकरण कहा जाता है। समीकरण प्रधानतः दो प्रकार का होता है। (क) पुरोगामी और (ख) पश्चगामी।

(क) पुरोगामी समीकरण— जहाँ पहली ध्वनि दूसरी ध्वनि को प्रभावित कर अपना रूप प्रदान करती है, वहाँ पुरोगामी समीकरण होता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं—
पुण्य-पुण्ण (१) विघ्न - विघ्ण (२) पल्याणाम् - पल्लाणं (१३), इक्षुः - इक्खु (२८), अन्येषु -अन्नेसु (३२), नक्षत्र - नक्खत्त (९६), प्रव्रजिता - पव्वइया (३९६), प्रत्यक्ष - पच्चक्ख (८४०), रम्या - रम्मा (५८४), अशाश्वत - असासओ (५०), भद्रा - भदर (५८०), अग्नि - अग्गी (८६४),

(ख) पश्चगामी समीकरण—जब दूसरी ध्वनि पहली ध्वनि को प्रभावित करती है और अपना रूप प्रदान करती है तो उसे पश्चगामी समीकरण कहा जाता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— दृष्ट - दिट्ठ (१), विस्तीर्ण - वित्थिण्ण (१), अवसर्पिणी - ओसप्पिणी (९), नीलोत्पल - नीलुप्पल (३०), पद्मोत्पल - पउमुप्पल (३६), जन्म - जम्म (१४२, १९१), प्रतिक्रमति - पडिक्कमइ (४४९), कर्मभूमि - कम्मभूमि (२३), निष्पत्ति - निप्फत्ती (७४), पूर्वाइ - पुव्वाइ (७२४), कौस्तुभ - कोत्थुभ (५८६), कल्कि - कक्कि (६७३), सत्कारः - सक्कारो (६९३) इत्यादि।

३. विषमीकरण— समीकरण का विपरीत विषमीकरण है। इसमें दो समान ध्वनियों में से एक के प्रभाव से या यों ही मुख-सुख के लिए एक ध्वनि अपना स्वरूप छोड़कर विषम वर्ण की हो जाती है। इसके भी दो भेद हैं। (क) पुरोगामी और (ख) पश्चगामी।

(क) पुरोगामी विषमीकरण— जब प्रथम व्यंजन ज्यों का त्यों बना रहता है और दूसरा परिवर्तित हो जाता है, तो उसे पुरोगामीकरण कहते हैं। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— अश्वः - आसं (३०१), कनक - कणग (२७, १०७४, १०७७), काकिणी - कागिणि (२९९), कुहक - कुहग (८९५), सूचकः - सूयगा (९००, ९०१), कुलकरा - कुलगारा (१००७, १००९), कौतुक - कोउग (१०५०, १०५२), कुटाकार - कुडागार (११८३) इत्यादि।

(ख) पश्चगामी विषमीकरण— इसमें दूसरा व्यंजन या स्वर बना रहता है तथा प्रथम व्यंजन या स्वर में विकार होता है। यथा— मुकुटा - मउडा (२८६, ५९२, ५९५)।

४. वर्ण-व्यत्यय— किसी शब्द में जब दो अक्षर आपस में स्थान परिवर्तन कर लेते हैं तो उसे व्यत्यय कहते हैं। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— हद - दह (२२७, २२९)।

५. **सस्वर-व्यंजन लोप**— प्राकृत में स्वर सहित व्यंजन लोप का उदाहरण मिलता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— राजकुल - राउलं (७८१)।

इसके आगे व्यंजन विधि का असंयुक्त-व्यंजन और संयुक्त-व्यंजन- इन दो वर्गों में बाँटकर वर्णन किया जाएगा।

असंयुक्त-व्यंजन-विधि—

१. आदि की संस्कृत ध्वनि ज्यादातर यथावत् रहती है कुछ विशेष ध्वनियों को छोड़कर। जैसे— न, य, श, ष का परिवर्तन क्रमशः ण, ज, स, ष में हो जाता है। यह अर्धमागधी का रूप है। योजन - जोयण (२१६), यदि - जइ (२६३), शिष्य - सीसे (४७३), अशोक - असोग (७८७), शकडाल - सगडाल (७८४) इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

२. तित्थोगाली में भू धातु से निष्पन्न आदि 'भू' का 'ह' हुआ है। भवति - हवइ/होइ (७,८,१८), भवति - हवति (६३), हुति (७७), ह्यति (६१,८६) इत्यादि।

३. आदि स्थित वर्ण के उच्चारण स्थान में परिवर्तन हो जाता है। जैसे— तिष्ठति - चिट्टइ (१५२)।

४. तित्थोगाली में दन्त्य 'न्' का तालव्य 'ण्' आदि में परिवर्तन नहीं प्राप्त होता पर मध्य में यह है। आनन्दा - आणंदा (१५३), जननी - जणणी (१६२), चित्रकनकः - चित्तकणगा (१६१) इत्यादि।

५. **आदि व्यंजन लोप**— प्राकृत के स्वभावानुसार ही तित्थोगाली में आदि व्यंजन का लोप प्रायः देखा जाता है। जैसे— स्तुति - थूई (२५०), स्तूप - थुभे (६३६), स्थूलभद्र - थूलभद्रो (८००), इन सबों में 'स्' का लोप ही है। प्राकृत में आदि व्यंजन लोप का उदाहरण बहुत कम मिलता है।

६. **मध्य व्यंजन लोप**— मध्य-व्यंजन लोप की प्रवृत्ति प्राकृत भाषा में सबसे अधिक पायी जाती है। महाराष्ट्री प्राकृत में तो यह व्यंजन लोप इतना अधिक विकसित है कि शब्दों की भाषा स्वरमयी हो गयी है। साहित्यिक प्राकृत में मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द, प, य् और व् का नियमः लोप हो जाता है।^{२०} पर तित्थोगाली में मध्यवर्ती 'क्' का लोप न होकर 'ग्' हो गया है। अर्धमागधी में 'क्' का 'ग्' होने का ही विधान है। यहाँ मध्यवर्ती व्यंजन का सर्वत्र लोप न होकर वैकल्पिक रूप होता है। जैसे— एकान्तः - एगंतो (८), अरके - अरगम्मि (५८), कुलकरैः - कुलगरेहिं (८०), आयुक - आउग (८३), कुमुदाकर - कुमुदागर (१०६), अभिषेकं - अभिसेगं (१९६), निशाकरः - निसागरे (१३३), काकिणी - कागिणी (२९९), त्रिलोक - तिलोगं (५६१), फलक - फलगं (६७१), शकडाल - सगडाल (७७६), श्रावक - सावग (९१०), अशोक - असोग (७८७)।

कहीं 'क' यथावत् भी है— निवृत्तिकरण - नेव्वुइकरण (१४९), कहीं-कहीं 'क्' और 'ग्' का लोप हुआ है। जैसे— लोके - लोए (१३१), त्रिगुण - तिउण (४३८), नगरी

१८८ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

- नयरी (२८७), युगले - जुयले (२८४), कहीं 'ग्' यथावत् भी है, जैसे सागर-सागर (२३) इत्यादि। यहाँ 'क्' और 'ग्' का लोप महाराष्ट्री के प्रभाव के कारण है। अन्य अल्पप्राण वर्णों के उदाहरण हैं-

च्- अचिरा - अइरा (५१), रुचके - रुयगे (१५५), अचल - अयल (५८१)

ज्- मृगराज - मिगराय (३९), भोजन - भोयण (४२), प्रजापति - पयावति (५७९)

त्- गति - गई (३९), प्रति - पई (४२), संगत - संगय (४७), मृगावति - मियावई (५७९), सदारनिरता - सदारनिरया (५२), एरावते - एरवए (३४०), एरवतम्मि (११२६), स्वाति - साती (५५३), सिद्धिगतो - सिद्धिगओ (५६४)।

द्- आदि - आई (४४४), 'द्' का अधिकतर स्थानों में लोप नहीं हुआ है। यहाँ शौरसेनी के मिथ्यासादृश्य का प्रभाव दिखायी देता। जैसे- आदि - आदी (५२९), स्वादोत्तम - सादुतमो (४४), स्वदार - सदार (५२), महोदधि - महोदहि (२४२), उपदिशंति - उवदिसंति (४५०)।

य्- तृतीय - तइए (४४६) इत्यादि।

शौरसेनी में इदानीम् का 'दाणि' आदेश होता है। तित्थोगाली में भी 'दाणि' का प्रयोग हुआ है (६३०)।

तित्थोगाली में मध्यवर्ती 'प्' एवं 'व्' का लोप नहीं हुआ है, बल्कि 'प्' 'व्' में परिवर्तित हो गया तथा 'व्' ज्यों का त्यों बना रहा है। जैसे भवनपति - भवणवई (४४३), सुरूया - सुरूवा (३९), हुतावह - हुयवहे (२३४), अवशेषा - अवसेसा (२४४), सुरपति - सुरवती (२४४), प्रवर - पवरे (२५५), वासवा - वासवा (२५८), कहीं 'प्' भी मूल रूप में है, जैसे- सुपार्श्वऋषि - सुपासरिसिं (३०८), अर्धमागधी के नियमानुसार 'क्' का 'ग्' तथा 'प्' का 'व्' ही होता है, लोप नहीं।

७. अन्त्य-व्यंजन लोप- प्राकृत में अन्त्य हलन्त व्यंजन का प्रयोग नहीं होता। यहाँ इसका लोप होता है। प्राकृत शब्द स्वरान्त होते हैं। जैसे- किञ्चित् - किञ्चि (७४०, ७७४, ९६३), कथञ्चित् - कथञ्चि (७९४)।

८. व्यंजनागम- प्राकृत में व्यंजनागम तीन तरह से होता है- आदि में, मध्य में और अन्त में। आदि में व्यन्जनागम 'ऋ' वर्ण के बदले आता है। ऋ का कभी 'रि' हो जाता है। तित्थोगाली में ऋषभ - रिसभ (७७), ऋषि - रिसी (७६७), ऋक्षा - रिक्खा (४२०), ऋद्धि - रिद्धि (१०४४) इत्यादि। मध्य व्यंजनागम का उदाहरण तित्थोगाली में नहीं है। अन्त व्यंजनागम वहीं पर हुआ है, जहाँ प्रत्यय विधान किया गया है। प्रातिपदिक से से 'इल्ल' 'उल्ल' और स्वार्थिक 'ल्ल' प्रत्यय होने पर ही अन्त व्यंजनागम हुआ है। यथा मञ्जिल्ल (७१), उत्तरिल्ल (१७३), पढमिल्ल (१४०, १०२२) इत्यादि।

९. घोषीकरण- इस सिद्धान्त के अनुसार अघोष ध्वनियाँ (वर्ग की प्रथम और द्वितीय वर्ण) घोष (तृतीय एवं चतुर्थ वर्ण) में परिवर्तित हो जाती है। तित्थोगाली में इसका

अधिक प्रयाग हुआ है। जैसे- लोक - लोग (७), एकान्तः - एगंतो (८), अरके - अरगम्मि (५५), कुलकरैः - कुलगरेहि (८०), आयुकं - आउगं (८३), कुमुदाकर - कुमुदागर (१०६९), अभिषेकं - अभिसेगं (१९६), काकिणी - कागिणि (२९९), त्रिलोकम् - तिलोयं (५६६), फलक - फलग (६७१), बहुका - बहुगा (९००), सीमंतक नरकातः - सीमंतग नरगाओ (१०३३), माणवक - माणवग (११३१, ११३९), यहाँ सर्वत्र 'क्' अघोष का 'ग्' घोष हुआ है। इसके अलावा विकट - वियडं (४), मुकुट - मउडा (२८६), त्रुटितांग - तुडियंगा (४६), कुटुम्बी - कुडुंबी (८८१) भी मिलते हैं। यहाँ सर्वत्र घोषीकरण हुआ।

१०. अघोषीकरण- यह घोषीकरण की विपरीत प्रक्रिया है। प्राकृत में इसका प्रयोग न के बराबर है। केवल पैशाची में इसका प्रयोग अधिक है। तित्थोगाली में भी अघोषीकरण का अभाव है।

११. महाप्राणीकरण- उच्चारण के क्रम में कभी-कभी अल्पप्राण ध्वनियाँ (प्रथम और तृतीय वर्ण) महाप्राण (द्वितीय और चतुर्थवर्ण) में बदल जाता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं- दृष्ट - दट्ट (१), पुष्कर - पुक्खर (२८), परिध - फलिह (२९), पुष्प - पुफ (४१), पुप्फ (४२), गृहे - घरए (१६७), संस्तुत्य - संथुणिउं (१८४), स्तुति - थूइ (२५०), स्तूप - थुभे (६३६), (यहाँ प् का फ् न होकर भ् हुआ है) इत्यादि।

१२. अल्पप्राणीकरण- तित्थोगाली में अल्पप्राणीकरण का उदाहरण प्राप्त नहीं होता है।

१३. उष्मीकरण- कभी-कभी कुछ ध्वनियाँ उष्म वर्ण में परिवर्तित हो जाती हैं। प्राकृत में ख्, घ्, थ्, ध् और भ् के स्थान पर उष्म 'ह्' वर्ण हो जाता है। तित्थोगाली में इसका अधिक प्रयोग है। जैसे- त्रिभुवन - तिहुयण (१), गणधराणाम् - गणहराणं (५), लोकनाथनाम् - लोगनाहेण (५), भवति - होइ (७), शोधित जलतः - सोहियजलाओ (३०), औषधि - ओसहि (६६), महाधिलोकवल - महाहिलोगवल (३३०), प्रतिबोध - पडिबोह (६२८), साधुभिः - साहूहिं (७३१) इत्यादि। इसके अतिरिक्त 'त्' के स्थान पर भी 'ह्' हुआ है। भरते - भरहे (११२८), पर कभी उष्म व्यंजन न होकर द्वित्व हो जाता है। जैसे- दुःखभूतो - दुक्खभूतो (९२८), सम्भूएहिं (२५४), निक्खित्ता (२५७) इत्यादि।

१४. तालव्यीकरण- प्राकृत के कुछ विभाषाओं में दन्त्य वर्णों के स्थान पर तालव्य वर्ण पाया जाता है। तित्थोगाली में भी इसका प्रभाव है। यथा- तिष्टन्ति - चिट्ठंति।

१५. दन्त्यीकरण- अर्धमागधी में तालव्य की जगह दन्त्य वर्ण होता है। तित्थोगाली में इसका प्रयोग है। विचिकित्सा - वितिगिच्छा (१२१८)।

१६. मूर्धन्यीकरण- संस्कृत दन्त्य वर्ण प्राकृत में प्रायः मूर्धन्य वर्ण हो जाता है, जैसे- पताका - पडागं (१०८), प्राभृत - पायड (४), पागड (७६५), अवहते - अवहडम्मि (१२), प्रकट - पयडं (२९७), अर्द्धाइज्जा - अड्ढाइज्जा (३६४), प्रतिक्रमति - पडिक्कमई (४४९), प्रतिप्रश्न - पडिपुच्छणं (७३०), प्रतिपक्षः -

पडिवक्खो (१०२०), सवृद्धि - सच्चिद्धीए (१८५), स्थापयित्वा - ठारुणं (२०५), प्रथमः - पठमो (२७९), ऊर्ध्व - उद्ध (१३६) इत्यादि।

१७. य-श्रुति - प्राकृत में य-श्रुति सर्वाधिक पायी जाती है। इसका कारण यह है कि मध्य व्यंजनों के लोप हो जाने से कई स्वर एक साथ शेष रह जाते हैं। अतः उच्चारण सुविधा और अक्षर-भार के लिए 'य-श्रुति' का प्रचलन हो गया है। संस्कृत के दो स्वर एक साथ रहने पर उनमें संधि हो जाती है। पर प्राकृत में संधि नहीं होती है। महाराष्ट्री और अर्धमागधी प्राकृत में 'य-श्रुति' का सर्वाधिक प्रयोग है। कुछ उदाहरण हैं- श्रुतरत्ने - सुयरयणे (१३९), कुंदुरुक - कुंदुरुय (१५२), गगने - गयणे (१५१), भणिता - भणिया (३३८), एरावते - एखयम्मि (३४१), सामायिक - सामाइय (४५०) इत्यादि।

तित्थोगाली में कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो प्राकृत-व्याकरण के सामान्य नियमों का अनुसरण नहीं करते हैं। जैसे- जनपद - जणपद (८२६), जणवदा (९०६), जणवए (९०३)। यहाँ जणवए शब्द अर्धमागधी या महाराष्ट्री के अनुरूप है, पर जणपद शब्द नहीं। यहाँ शौरसेनी का प्रभाव है। शौरसेनी में मध्य व्यंजन 'त्' का 'द्' हो जाता है।^{२१} इसी तरह मज्जादो (८९२) तदा (९४५) भणितः - भणितो (८१७) इत्यादि।

१८. वाच्य- प्राकृत में सामान्यतया 'आत्मनेपदी' वाच्य नहीं होता, यहाँ केवल वाच्य का प्रयोग होता है। तित्थोगाली में भी आत्मनेपद रूप है- दीसते (८०७), वच्चते (८७४) वंदते (८४७) आदि।

तित्थोगाली में अर्धमागधी लक्षण के अनुरूप या संस्कृत के प्रभाव के कारण मध्य व्यंजनों का सर्वत्र लोप नहीं हुआ, बल्कि वैकल्पिक प्रयोग हुआ है। यद्यपि यहाँ अधिकांश शब्दों के स्वर मध्यवर्ती व्यंजन का लोप है। फिर भी कुछ जगहों में नहीं हुआ है। जैसे- बहुतरातो (८३७), सितस्स, भगवतो, जातो एता (८४९), विग्गहवती (८४०) जाता (८९४), जाति (७९५), कालगतेसु (८७४), दसवेतालिय (८६२), अलितो, पलितो (८९६), नासिहिति - (८७५), अप्पोदतो, जातो (८९२) वच्चति (८९३), मसाणभूता (९०२), समंततो (९०४), पगलित (९०५), इत्यादि अर्धमागधी के 'क्' का 'ग्' में परिवर्तन यहाँ सर्वत्र हुआ है, पर संयुक्त 'भ्' का प्रयोग वैकल्पिक है, जो महाराष्ट्री का प्रभाव है। इसकी चर्चा पूर्व में की गयी है।

संयुक्त-व्यंजन-विधि

प्राकृत में संयुक्त वर्ण का पहला वर्ण यदि 'क्-ग्-ट्-ड्-त्-द्-प्-श्-ष्-स्' होता है तो उसका लोप हो जाता है।^{२२} तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं- भक्त्या - भत्तीय (२६९), मुक्त्वा - मोत्तूणं (२२५), षट्त्वर्षी - छव्वरिसी (९४७), षट्खण्ड - छक्खंड (२९६), षट्पूर्व - छप्पुव्व (२८२), उत्पन्नं - उप्पणं (२९५), उत्पाद - उप्पाय (१०२८), कुश्रुति - कुस्सुइ (२६१), कोष्ठ - कोट्ट (३३४), ज्येष्ठ - जेट्टं (१०७०), अरिष्ठ - अरिट्टं (३३५), षष्ठ - सट्टिं (३८०), वस्त्रालंकार - वत्थालंकार (२७०), हस्ती - हत्थी (२८८), पार्श्व - पास (४६३),

प्राकृत में संयुक्त वर्ण जब ब्, ल्, व्, र् होता है तब उसका लोप हो जाता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— लुब्धा - लुद्धा (१००), शब्दस्य - सदस्स (१०५१), शिल्पाइं - सिप्पाइं (२९०), अश्विनी - अस्सिणी (३३२) स्वच्छंद - सच्छंद (८९६), श्वासः - सासो (९४२), वज्रपाणि - वज्जपाणि (२६९), वर्ण - वण्ण (२६८), कर्मः - कम्मो (२८०), शक्रः - सक्को (२७८), उग्रा - उग्गा (२८९), रात्रि - रत्ता (९८६)। पर कहीं-कहीं लोप नहीं भी हुआ है— लुब्धा - लुद्धा (१००) इत्यादि।

प्राकृत में संयुक्त वर्ण का द्वितीय वर्ण जब म्, न्, य्, होता है। तब उस म्, न्, य् का लोप हो जाता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— रश्मिः - रस्सि (१०६), नग्नाईं - नग्गाईं (८४४), जन्मः - जम्मं (८५७), अग्नि - अग्गी (३३५, ३८४) श्यामलका - सामलगा (३४१), सम्यक्दृष्टि - सम्मदिट्ठि (११५२), सम्यक्त्वं - सम्मंतं (१२२५), स्याद्वाद - सीयवादो (८७०), आवश्यकम् - आवसगं (८६५) अभ्यंतर - अब्भंतर, मध्य - मज्झ (४२९),

प्राकृत में संयुक्त वर्ण का एक वर्ण लोप होने पर शेष वर्ण का द्वित्व हो जाता है।^{२३} परन्तु आदि में जब कोई लोप होगा तब शेष का द्वित्व नहीं होता। तित्थोगाली में इसके उदाहरण मिलते हैं— क्षणेण - खणेण (२९४), क्षेत्रेषु - खेत्तेसु (९६)। प्राकृत में दो महाप्राण वर्ण का संयुक्त नहीं होता। उसमें प्रथम महाप्राण वर्ण अल्पप्राण हो जाता है। तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— लक्षणः - लख्खणो - लक्खणो (११७८), शीघ्रं - सिघ्घं - सिग्घं (६९५),

प्राकृत में 'क्ष्, श्, ष्, स्म, ह्' का 'म्ह' हो जाता है।^{२४} तित्थोगाली में इसके कम प्रयोग मिलते हैं— स्म - अम्ह (६५८), विस्मिता - विम्हिया (२५६)।

प्राकृत में श्न्, ष्ण्, स्न्, ह्न्, क्ष्ण्, का ण्ह होता है।^{२५} तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— कृष्ण - कण्ह (८८६), विष्णु - विण्हू (५७९), पूर्वाह्न - पुव्वणहे (४०३), अपराह्न - अवरणहे (८६३), उष्ण - उण्ह (१००२),

प्राकृत में ध्य् का झ् होता है^{२६}— सन्ध्याय - संझाय (८६३), बहुमध्य - बहुमज्झ (७१) इत्यादि।

११. सन्धि - सन्धानं सन्धिः। उत्कृष्टो वर्णानां सन्निकर्ष उच्यते। तद्विषयमपि कार्य समानदीर्घादि सन्धिरित्यभिजातम् उपचारात्।^{२७} वर्णानां समवायः सन्धिः अर्थात् वर्णों के मिलने को सन्धि कहते हैं। जब किसी शब्द में दो वर्ण निकट आने पर मिलते हैं, तो उसके मेल से उत्पन्न होने वाले विकार को सन्धि कहते हैं। प्राकृत में सन्धि की व्यवस्था विकल्प से होती है, नित्य नहीं। प्राकृत में मुख्य रूप से दो प्रकार की सन्धि होती है— स्वर सन्धि और व्यंजन सन्धि। विसर्ग सर्वथा त्याज्य होने से प्राकृत में विसर्ग-सन्धि नहीं होती है।

(क) स्वर-सन्धि— दो या दो से अधिक पद जब एक ही प्रकार से के स्वर से युक्त

होता है, तब इसका प्रयोग संस्कृत के अनुरूप देखा जाता है। जैसे—

अ, आ + अ, आ = आ

इ, ई + इ, ई = ई

उ, ऊ + उ, ऊ = ऊ

तित्थोगाली में इसके उदाहरण हैं— अजिअ + आइआ - अजियाईया (२), न + अत्थि - नत्थि (३५), सुर + आलय = सुरालय (५१), उत्तर + आसाढाहिं - उत्तरासाढाहिं (९६), कुमुद + आगर = कुमुदागर (१०६), अद्भ + उट्टुमेहिं = अद्भट्टुमेहिं (५२०), उत्त + आणओ (१२४०)। किन्तु प्राकृत में कभी-कभी समान स्वरों के बीच सन्धि न होकर ये स्वर पास-पास ही रह जाते हैं। जैसे— ओसप्पणीइमीए (७०) इत्यादि।

अ अथवा आ के बाद विषम स्वर रहे तो समास अथवा सन्धि संस्कृत के अनुरूप होती है। जैसे—वण्ण + इत्थि = वण्णित्थि (७२), एरवये + आईसु - एरवयाईसु (९०), तित्थि + उग्गालीए - तित्थोगालीए (४), लोग + उत्तमा - लोगुत्तमा (१०), नील + उप्पल - नीलुप्पल (३०), पउम + उप्पल - पउमुप्पल (३६), सव्व + उउयं - सव्वोउयं (५९०) इत्यादि।

समास में पर पद के आदि स्वर ई, ई अथवा उ, ऊ हो तो पूर्वपद के अंतिम अ या आ का लोप हो जाता है। संयुक्त वर्ण की स्थिति में व्याकरण के नियम के आधार पर या भाषातात्विक (मात्रात्मक) दृष्टि से ई एवं ऊ, इ, उ में परिवर्तित हो जाता है। जैसे लोग + उत्तमा - लोगुत्तमा (१०), जिण + इन्दा - जिणिंदा (२६), जेस + उज्जाणे - जेसुज्जाणे (४०७), सम + उप्पणं - समुप्पणं (५१०), किम + इच्छं - किमिच्छं (१०६०), महा + इन्द - महिंद (१०९), सुर + इन्द - सुरिंद (१०२), जिण + इन्द - जिणिंद (२७६) इत्यादि।

पूर्व पद का अंतिम स्वर इ, ई, उ, ऊ हो एवं दूसरे पद का प्रथम वर्ण विषम स्वर हो तो प्राकृत में सन्धि नहीं होती है।^{२८}

दो अव्यय पदों में सन्धि प्राकृत के अनुसार होती है।^{२९} जैसे— तहा + एव - तहेव (२६), एक्के + अत्थ - एक्केऽत्थ (२०९), एक्क + एक्क - एक्केक्क (६२)। परन्तु यहाँ भाषातात्विक दृष्टि से देखा जाए तो स्वरों के बीच ही सामान्य सन्धि हुई है। अव्यय के बीच सन्धि होने पर कोई विशेषता नहीं हुई दीखती है।

व्यंजन वर्ण के लोप होने के बाद जो स्वर शेष रह जाता है, उसे उद्वृत्त स्वर कहा जाता है। इस उद्वृत्त स्वर की प्राकृत में सन्धि नहीं होती है।^{३०} जैसे आमोएसु (५८), दोगाउयउव्विद्धा (६१), आयाया (७३) आउगं (८९), आयरियाणं (७०७) इत्यादि।

(ख) व्यंजन सन्धि— प्राकृत में अन्त्य व्यंजन नहीं रहने से व्यंजन सन्धि नहीं होती है, परन्तु प्राकृत में भी (तित्थोगाली में) व्यंजन सन्धि के कुछ उदाहरण मिलते हैं, जो संस्कृत के अनुसार होते हैं। यानि संस्कृत व्यंजन सन्धि का फलित रूप प्राकृत में उपलब्ध होता है। कुछेक स्थिति में व्यंजन सन्धि स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। जैसे— एक्कमेक्कं (७२०) इत्यादि।

(ग) रूप-तत्त्व

(क) वचन— प्राकृत में केवल दो वचन होते हैं—एकवचन और बहुवचन। संस्कृत का द्विवचन प्राकृत में नहीं होता है।

(ख) लिंग— संस्कृत की तरह ही प्राकृत में तीन लिंग होते हैं। यथा— पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग। साधारणतया संस्कृत के अनुसार प्राकृत में भी लिंग होते हैं किन्तु कुछ ऐसे शब्द हैं, जिसमें संस्कृत लिंग का अनुसरण प्राकृत में नहीं होता है।

(ग) कारक— संस्कृत की तरह प्राकृत में भी कारक होते हैं। विशेषता यह है कि सम्प्रदान के लिए षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।

(घ) कारक-विभक्ति— प्राकृत में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती है। इसलिए प्राकृत में सात ही विभक्तियाँ होती हैं। इन सब रूप-तत्त्वों को अर्थात् तित्थोगाली में प्राप्त कतिपय संज्ञा-शब्दों में प्रयुक्त वचन, लिंग, कारक, -विभक्ति को एक चार्ट के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है—

संज्ञा	वचन	लिंग	कारक	कारक-विभक्ति	गा० संख्या
मियंको	एकवचन	पुल्लिंग	कर्ता	प्रथमा	३
ओसप्पिणी	„	स्त्रीलिंग	„	„	९
उस्सप्पिणी	„	स्त्रीलिंग	„	„	९
उसभो	एकवचन	पुल्लिंग	„	„	१
अजियाईया	बहुवचन	पुल्लिंग	„	„	२
समणसंधं	एकवचन	पुल्लिंग	कर्म	द्वितीया	४
महावीरो	एकवचन	पुल्लिंग	कर्ता	प्रथमा	५
लोगनाहेणं	एकवचन	पुल्लिंग	करण	तृतीया	६
कालो	एकवचन	पुल्लिंग	कर्ता	प्रथमा	७
जिणाण	बहुवचन	„	सम्बन्ध	षष्ठी	८
जिणवरिदा	बहुवचन	„	कर्ता	प्रथमा	१०
भरहे	एकवचन	„	अधिकरण	सप्तमी	२३
सुसमसुसमाए	„	„	„	„	२६
खेत्ताणं	बहुवचन	„	सम्बन्ध	षष्ठी	२७
भरहाइ	एकवचन	„	कर्ता	प्रथमा	५०
मउया	बहुवचन	„	„	„	५२
मूल	एकवचन	नपुंसक लिंग	„	„	६७
फल	„	„	„	„	६७
कंद	„	„	„	„	६७
महिलाओ	बहुवचन	स्त्रीलिंग	„	„	६८

११४ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

कुलगरो	एकवचन	पुलिंग	„	„	९३
दीवकुमारेसुं	बहुवचन	„	अधिकरण	सप्तमी	८६
सिरिअभिसेयं	एकवचन	„	कर्म	द्वितीया	१०४
जणणीओ	बहुवचन	स्त्रीलिंग	कर्त्ता	प्रथमा	११७
सुरिंदा	बहुवचन	पुलिंग	कर्त्ता	प्रथमा	१२५
सक्काणं	„	„	सम्बन्ध	षष्ठी	१२६
जगगुरुणो	„	„	कर्त्ता	प्रथमा	१४०
भोगवती	एकवचन	स्त्रीलिंग	„	„	१४४
दिसिकुमारीओ	बहुवचन	स्त्रीलिंग	„	„	१६१
नवसरयम्मि	एकवचन	पुलिंग	अधिकरण	सप्तमी	१५१
गन्धोदएण	„	नपु० लिंग	करण	तृतीया	१७०
कप्पाहिवती	„	स्त्रीलिंग	कर्त्ता	प्रथमा	१८३
जिणभवणाओ	बहुवचन	पुलिंग	अपादान	पंचमी	२१५
गोसीसचंदणरसं	एकवचन	नपु०लिंग	कर्म	द्वितीया	२३२
देवीहिं	बहुवचन	स्त्रीलिंग	करण	तृतीया	१५८
सक्कस्स	एकवचन	पुलिंग	सम्प्रदान	चतुर्थी	२७०
जिणवरिंदाण	बहुवचन	„	सम्बन्ध	षष्ठी	२७०
जणणीण	„	स्त्रीलिंग	„	„	२७०
कासवए	एकवचन	पुलिंग	कर्त्ता	प्रथमा	२९०
पुत्तसयस्स	„	„	सम्बन्ध	चतुर्थी	२९१
चम्मरयणं	„	नपु०लिंग	कर्त्ता	प्रथमा	२९९
सव्वट्टविमाणाओ	„	पुलिंग	अपादान	पंचमी	३०६
सुक्काओ	एकवचन	पुलिंग	अपादान	पंचमी	३०९
वैजयंताओ	„	„	„	„	३१०
खेत्तेसु	बहुवचन	„	अधिकरण	सप्तमी	३१३
एरवए	एकवचन	„	„	„	३४१
समचउरंसा	बहुवचन	„	कर्त्ता	प्रथमा	३५९
सुयहाणिं	एकवचन	नपु०लिंग	कर्म	द्वितीया	६९७
वायरधम्मो	„	पुलिंग	कर्त्ता	प्रथमा	७११
भिक्खम्मि	„	„	अधिकरण	सप्तमी	७३९
अणगार!	„	„	सम्बोधन	अष्टमी	७६८
भाउग!	„	„	„	„	७६४

(ङ) विशेषण— प्राकृत में विशेषण विशेष्य का अनुसरण करते हैं। विशेष्य में लिंग, वचन, कारक और कारक-विभक्ति होती है। विशेषण में भी वही है, इसलिए विशेषण का रूप विशेष्य की तरह होता है।

विशेषण साधारणतः उत्कर्ष और निकृष्टवाचक और संख्या वाचक शब्द होता है। जब दो वस्तुओं में तुलना कर एक वस्तु को दूसरी वस्तु से न्यून या अधिक बताना होता है, तो उस विशेषण में तर या ईयस् प्रत्यय जोड़ा जाता है। एक से अधिक वस्तुओं में से किसी एक को सबसे उत्कृष्ट या निकृष्ट बताने के लिए विशेषण में तम या इष्ठ प्रत्यय लगाया जाता है। प्राकृत में संस्कृत की तरह, तर, तम अथवा ईयस्, इष्ठ प्रत्यय जोड़ा जाता है। लेकिन जोड़ने के बाद शब्द प्राकृत के नियम के अनुसार परिवर्तित होते हैं। तित्थोगाली में 'तर' प्रत्यय वाले शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैसे— सुष्ठुरं (२६१), अहियरं (७०४, ९३१), सुंदरतरिया (१२१५), वरतर (१२१४) इत्यादि।

संख्यावाची विशेषण के रूप प्रस्तुत ग्रन्थ में भी मिलते हैं। जैसे— एगंतो (८), बीए (८), एक (१२), छह (१७), चत्तारि (२०), तिन्नि (२०), उणावीस (६९३), बीए (५५, ९७०), सत्तेर (७००), चौद्दस (७२५), दस (६९४), बारस (६९४), पन्नरस सएहिं (८१७), तिहिं (१०९०) इत्यादि।

सामान्य विशेषण युक्त शब्दों के उदाहरण हैं— सुबहुहिं (८९०), बहुगा (९००), पउरं (९००), बहुलस्स (१०७०), बहुसुयमंदरो (७५०), सव्वंग (७७१), जोणहानिवहं ससी चव सोमगंभीरो (७८०), मीणाउलघरम्मि (७८८), अपरिमेयस्स (८०७), जेसुज्जाणेसु (४०७) वरनगरं (६३५) इत्यादि।

(च) सर्वनाम— सर्वनाम तीनों पुरुषों और सभी कारक-विभक्तियों में तित्थोगाली में प्रयुक्त हुआ है। अहं (६), मए (६०१, ७६०, ७६५), अहं (२८५, ७३०) मज्झ (७५१, ७७०), अम्हाहिंतो (११९), अम्हे (१४१, ७३६) तुहं (७३०), ते (७२३), तुब्भ (७६१), तुज्झं (७६८), तज्झ (७८६), तं (८०१), तुम्ह (१२२, २५१, ७३७), सो (७), तासिं (१०), एतेसिं (१९), एत्तो (२५), एसो (२५), तासिं (३१), तेसिं (३५), एते (३४), ततिया (४३), एआओ (४७०), इय (५९९), एयं (७९२), तस्स (६९०), तं (७६२, ७६६), एत्तियं (७६८), इमं (७८८) इत्यादि।

(छ) क्रिया— क्रिया दो प्रकार की है— समापिका और असमापिका। प्राकृत में क्रिया के विषय में कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं। जैसे— १. धातु २. पुरुष ३. वचन ४. अभ्यास ५. क्रिया के भाव ६. काल ७. अ-आगमं ८. अभ्यास (द्वित्व), ९. विकरण १०. क्रिया की भूमि ११. क्रिया-विभक्ति और १२. क्रिया का रूप। इसके अतिरिक्त क्रिया के विषय हैं— कर्मवाच्य, णिजन्त क्रिया, नाम-धातु, सन्नन्त धातु और यडन्त धातु। किन्तु प्राकृत में ये सब नहीं होते हैं। प्राकृत में उपर्युक्त विषय इतने सरल हो गये हैं कि एक विषय का भाव दूसरे के द्वारा भी प्रकट हो सकता है।

१. धातु— संस्कृत में धातु एक स्वर की होती है। किन्तु प्राकृत में अन्त्य हलन्त नहीं होता है, इसलिए धातु के साथ स्वर (अ), का योग हो जाता है। प्राकृत में कुछ धातु द्वि-स्वर युक्त भी होता है।

२. वचन— प्राकृत में दो ही वचन हैं— एकवचन और बहुवचन । यहाँ द्विवचन नहीं होता है ।

३. वाच्य— प्राकृत में आत्मनेपद वाच्य नहीं है । पर कभी-कभी आत्मनेपद का रूप भी मिलता है । विशेषकर अर्धमागधी में, तित्थोगाली में आत्मनेपद के उदाहरण हैं— तारए, मेरए (६१०), दिज्जए (७०६), भणिए (७२८) इत्यादि ।

४. क्रिया के भाव— क्रिया के भाव का अर्थ है कि किस तरह से क्रिया निर्देशित होती है । अर्थात् प्रयोग से कैसे ज्ञात होता है कि क्रिया सामान्य रूप से किसी कार्य के अर्थ का प्रकाशन करती है अथवा अपना आदेश एवं उपदेश देती है और उचित या अनुचित के भाव को प्रकट करती है । संस्कृत में क्रिया के भाव सात प्रकार के होते हैं— १. निर्देशक २. इच्छार्थक ३. विध्यर्थक ४. अनुज्ञा-ज्ञापक ५. क्रियातिपत्ति ६. आशीर्ज्ञापक और ७. अनुगमनिषेध-ज्ञापक । (तित्थोगाली) प्राकृत में केवल निर्देशक, विध्यर्थक, अनुज्ञा-ज्ञापक और क्रियातिपत्ति का ही प्रयोग होता है ।

५. काल— प्राकृत में तीन काल हैं, जिनका प्रयोग तित्थोगाली में भी हुआ है— भूत, वर्तमान और भविष्यत् । संस्कृत के लड्, लुड् और लिट् का प्रयोग प्राकृत में नहीं होता है । अतः वे भी अनुपलब्ध हैं ।

६. अभ्यास (द्वित्व)— अभ्यास का प्रयोग प्राकृत में नहीं होता है । अभ्यास का अर्थ है— धातु को द्वित्व बनाना । जैसे— 'गम्' धातु को लिट्-लकार के प्रयोग में गम् गम् हो जाता है, जिससे 'जगाम' बनता है ।

७. विकरण— प्राकृत में दो विकरण हैं— अ और ए । सभी रूप अकारान्त और एकारान्त ही होते हैं ।

८. क्रिया की भूमि— प्राकृत में अन्त्य हल् नहीं होता । धातु का अ विकरण होकर अकारान्त रूप बन जाता है । इसे क्रिया की भूमि कहते हैं ।

९. क्रिया-विभक्ति— प्राकृत के क्रिया का काल एवं भाव संस्कृत से अलग है । इससे क्रिया का भाव प्रकट करने के लिए तिड्विभक्ति होती है, जो संस्कृत से भिन्न है ।

१०. क्रिया का रूप— प्राकृत में क्रिया के तीनों कालों और पाँच लकारों का रूप मिलता है ।

यहाँ तित्थोगाली में प्राप्त कुछ समापिका क्रिया के धातु, पुरुष, वचन, वाच्य, भाव और काल को एक चार्ट के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है—

गा० क्रिया (समापिका) धातु	पुरुष	वचन	वाच्य	भाव	काल
२. जयति	जय	अन्यपु०	बहुवचन	परस्मै०	अनु० वर्तमान
३. जयई	„	„	एकवचन	„	„
९. परियत्तति	(परि+क्त)	„	„	„	विध्य० „
१०. भणति	भण	अन्य पु०	बहुवचन	„	„ वर्तमान
११. निसामेह	(नि+सम्)(शम्)	मध्यम पु०	„	„	निर्दे० „

१४. हुंति	हु (भू)	अन्य पु० ,, ,,	विध्य० ,,
१५. होहि	हु,हो,हव,	मध्यम पु० ,, ,,	क्रिया० भूतकाल
१६. वोच्छामि	वच	उत्तम पु० एकवचन ,,	अनु० वर्तमान
१६. भणिया	भण	अन्य पु० बहुवचन ,,	विध्य० भूतकाल
१७. हवति	हु	,, ,, ,,	,, वर्तमान
१७. त्तिइस्सामि	कित्तय	उत्तम पु० एकवचन ,,	अनु० ,,
१८. होई	हु	अन्य पुरुष ,, ,,	क्रिया० ,,
२३. होंति	हु,हो,हव	,, बहुवचन ,,	,, ,,
२५. वोच्छं	वच	उत्तम पुरुष एकवचन ,,	अनु० भविष्यत्
२६. आसि	हु (अस)	अन्य पुरुष ,, ,,	विध्य० भूतकाल
२७. सोहति	सोह	,, बहुवचन ,,	,, वर्तमान
४२. बिंति	वच	,, ,, ,,	अनु० ,,
४८. करिंति	कर	,, ,, ,,	क्रिया० ,,
११७. कहिसु	कह	मध्यम पु० एकवचन ,,	अनु० ,,
११७. पेछति	(प्र+इच्छ)	अन्य पुरुष बहुवचन ,,	,, ,,
१७६. करेति	कर	,, ,, ,,	क्रिया० ,,
१७७. कासी	कर	,, एकवचन ,,	,, भूतकाल
२०५. आणेह	आ+णय	मध्यम पु० बहुवचन ,,	विध्य० वर्तमान
४१८. सुणसु	सुण	,, एकवचन ,,	निर्दे० ,,
६३०. झिञ्झति	झिञ्ज (क्षिप)	अन्य पुरुष बहुवचन ,,	अनु० ,,
६४६. मोणोहिति	मुण (ज्ञा)	,, ,, ,,	,, ,,
७३०. विण्णाबिति	वि+णा	,, ,, ,,	विध्य० ,,
७३२. ठवीहामो	ठा (स्था)	उत्तम पुरुष ,, ,,	,, ,,
७३०. मुणसु	मुण (ज्ञा)	मध्यम पु० एकवचन ,,	अनु० ,,
७६०. भणितो	भण	अन्य पुरुष बहुवचन ,,	,, ,,
८००. काहामो	कह	उत्तम पुरुष ,, ,,	,, भविष्यत्
८००. भणइ	भण	अन्य पुरुष एकवचन ,,	विध्य० वर्तमान
८००. इच्छामि	इच्छ	उत्तम(प्रथम),, ,,	अनु० ,,
११४९. सुनह	सुण	मध्यम पु० बहुवचन ,,	निर्दे० ,,
१२२५. भणितो	भण	अन्य पु० ,, ,,	विध्य० ,,

परस्मैपदी के रूप के उदाहरण पहले ही निर्दिष्ट कर दिया गया है।

११ असमापिका-क्रिया- असमापिका-क्रिया के अंतर्गत तुमुन प्रत्यय वाले शब्द (Infinitive), कृदन्त (Participle) और त्व प्रत्ययान्त शब्द (Gerund) आते हैं। तित्थोगाली में इस तरह के प्रयोग हैं-

तुमुन प्रत्ययान्त (Infinitive)- मोत्तुं (६), मोत्तूणं(६,३८६), सुणेत्तुं (१२६), घेत्तुं (२०६), हंतूण (५८१), ठावित्तुं (१०७०), चइत्ताणं (८८०), सुदट्टणं (७२०),

कृदन्त (Porticiple)- काओ (२८), आगया (१८५), गया (१८१, ५४७, ५४८), गमेणाओ (८०९) इत्यादि।

त्व प्रत्यय (Gerund) - विभइरुणं (८४), भुंजिरुण (९१), विउव्विरुणं (१४८) गहेरुणं (१५८), अब्भंगेरुणं (१७०), ठवेउं (१७१), न्हावेरुणं (१७२), नेउं (१७३), आणेउं (१७३), कारुणं (१७४), जाणिरुण (१८३), ठारुणं (२०५), होरुण (२०६), करेरुण (२४६), अवणेरुण (२४७), नमिरुण (२५६), सोरुणं (६३९, ७६६), कारुण (६९०), अणुसासिरुण (६९०), कारुणं (९०२), भाणिरुणं (७९३), काउं (८५९), नाउं (१२६०) इत्यादि शब्द हैं। पर कहीं संस्कृत के प्रभाव के कारण त्वा प्रत्यय भी है- निवेसित्ता (१७३), ठवित्ता (१६९), पसवित्ता (५१) इत्यादि।

१२. क्रिया-विशेषण- क्रिया-विशेषण के उदाहरण तित्थोगाली में निम्न प्रकार हैं। जैसे- ठइया (१८), नवरं (१९), एत्तो (२५), एते (८४५), इमे (७०१), एयाइं (९६०), इय (५९९), तत्तिया (५५), एत्थ (७१), दाणिं (६३०, ६६२) किंचि (७४०), न (७४०), न (७२८), किं (६५६), म (नहीं, ६८६), तहेव (३०६), व्व (८४०), तत्तो (९१८), मा (७५१), कत्थ (७५६), खिप्पं (७७९) बाढं (७९३), जाव (१०८०), ताव (७७०) जत्थ (२०२), तत्थ (२३७, ७४०), ताहे (१६८), आणेउं (१७३), नवरि (७४३), इत्यादि।

१३. उपसर्ग- अव्ययमूलक- तित्थोगाली में उपसर्ग के (Preposition) उदाहरण हैं- ओ-ओसप्पिणी= ओ + सप्पिणी उपप्पिणी= + सप्पिणी, उणमंति = उ + णमंति (४५) परि + वत्त (९), परि + यत्तति (९), परिवाडी (१९), परिकिलेसे (९०), परिवाडीए (८१०),

उव- उवसप्पिणी (१९), उवणेमंति (४५), अव-अवसेसम्मि (५१) अवक्कमिमो (६४५)

अ- अलुद्धा (५२), पडि-पडिपुणं (११०), पडिक्कमणं (४४८), पडिपुण्णा (५९३), पडिवज्जई (६३९), पडिनीते (७९२) इत्यादि।

कारक नियंत्रित उपसर्गों का उदाहरण तित्थोगाली में मिलता है- इनमें कर्मकारक- मोत्तुं (६), करण कारक- सह (१९७), समं (३२५), सम्बन्ध कारक- पुरओ (२११), उवरिं (२३२) आदि शब्द हैं।

१४. समुच्चयबोधक शब्द (Conjunction) - तित्थोगाली में निम्न समुच्चयबोधक शब्दों का प्रयोग हुआ है- च्चिय (७), तहेव (२६), चेव (२२), त्ति (९४), इव

(२३८), व (४८६), व (४८६), किंचि (७४०), एव (७५०), अलाहि (७८८), चिय (७९१), किर (८०६, ८४३, ८४६) विव (८४०), व्व (८४०), य (१०२०), जाव (१०८०) इत्यादि ।

१५. मनोभाव प्रकाशक शब्द (Interjection) – नवरं (१९), चिय (९०), मिव (१२१), इव (२३८), चेव (२६९), विव (८४०) इत्यादि शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

(घ) तित्थोगाली में छन्द योजना

तित्थोगाली प्रकीर्णक में सर्वाधिक गाथाएँ 'गाथा' छन्द में निबद्ध हैं । मात्र २० पद्य 'अनुष्टुप' छन्द में ६ पद्य 'गाहू' छन्द में और ७ पद्य 'उद्गाथा' छन्द में निबद्ध हैं । शेष लगभग १२२८ पद्य 'गाथा' छन्द में हैं । 'प्राकृत-पैंगलम्' में गाहू छन्द की परिभाषा निम्न प्रकार है—

“पुव्वद्धे उत्तद्धे सत्तगल मत्त वीसाइँ । छट्टमगण पअमज्जे गाहू मेरु व्व जुअलाइँ” ॥५२॥^{३१}

अर्थात् गाहू छंद के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों में २७ मात्राएँ होती हैं दोनों अद्भालियों में छठा गण दो लघु होता है ।

गाथा— “पढमं बारह मत्ता बीए अट्टारहेहिं संजुत्ता ।

जह पढमं तह तीअं दहपंच विहूसिआ गाहा ॥^{३२}

अर्थात् गाथा के प्रथम चरण में १२ मात्रा होती है, दूसरे में यह १८ मात्राओं से युक्त होती है । तीसरे चरण में प्रथम चरण की तरह (बारह मात्रा) होती है, चतुर्थ चरण में १५ मात्रा होती है । गाथा छन्द को ही संस्कृत में आर्या कहते हैं ।

गाथा छंद के २७ उपभेद हैं । इसमें २७ हार (गुरु) और तीन लघु वाला गाथा सबसे उत्तम “लक्ष्मी” कहलाती है ।

“सत्ताईसा हारा सल्ला जस्समि तिण्णि रेहाइँ ।

सा गाहाणं गाहा आआ तीसक्खरा लच्छी ॥५८॥^{३३}

इसमें से जब एक-एक गुरु के स्थान पर दो-दो लघु होते हैं— जब एक-एक वर्ण (गुरु) का हास होता है तो इसके २७ भेद हो जाते हैं ।^{३४} गाथा के सत्ताईस भेद इस प्रकार हैं—

लक्ष्मी (२७ गुरु), ऋद्धि (२६ गुरु), बुद्धि (२५ गुरु), लज्जा (२४ गुरु), विद्या (२३ गुरु), क्षमा (२२ गुरु), देवी (२१ गुरु), गौरी (२० गुरु), धात्री (१९ गुरु), चूर्णा (१८ गुरु), छाया (१७ गुरु), कांति (१६ गुरु), महामाया (१५ गुरु), कार्ति (१४ गुरु), सिद्धि (१३ गुरु), मानिनी (१२ गुरु), रामा (११ गुरु), गाहिनी (१० गुरु), विश्वा (९ गुरु), वासिता (८ गुरु), शोभा (७ गुरु), हरिणी (६ गुरु), चक्री (५ गुरु), सारसी (४ गुरु), कुररी (३ गुरु), सिंही (२ गुरु) और हंसिका (१ गुरु) ।

उद्गाथा— उद्गाथा छंद के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों में तीस-तीस मात्रा कही गयी है ।

“पुव्वद्धे-उत्तद्धे मत्ता तीसंति सुहअ संभणिया ।

सो उग्गाहो वुत्तो पिंगल कइ दिट्ठ सट्ठि मत्तंगो ॥६८॥^{३५}

अनुष्टुप छंद सबसे प्राचीन छंद है । यह वर्णिक छन्द है । इसके प्रत्येक पाद में ८ वर्ण होते हैं । संस्कृत के प्राचीनतम महाकाव्य “रामायण और महाभारत” में इसी छन्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है ।

तित्थोगाली प्रकीर्णक के पद्यों को मात्रा के आधार पर विभिन्न छंदों एवं उसके उपभेदों के साथ दर्शाया गया है । इसमें केवल पद्य संख्या और छंदों के नाम हैं ।

१. महामाया	२. चूर्णा	३. गाहु	४. गौरी	५. चूर्णा	६. देही
७. गौरी	८. विद्या	९. गौरी	१०. देही	११. देही	१२. विद्या
१३. क्षमा	१४. विद्या	१५. गौरी	१६. देही	१७. देही	१८. महामाया
१९. विद्या	२०. गौरी	२१. विद्या	२२. क्षमा	२३. देही	२४. क्षमा
२५. धात्री	२६. कीर्त्ति	२७. धात्री	२८. उद्गाथा	२९. कीर्त्ति	३०. कीर्त्ति
३१. कान्ति	३२. छाया	३३. चूर्णा	३४. धात्री	३५. देही	३६. कान्ति
३७. धात्री	३८. धात्री	३९. कीर्त्ति	४०. धात्री	४१. महामाया	४२. कीर्त्ति
४३. गौरी	४४. गौरी	४५. छाया	४६. क्षमा	४७. गौरी	४८. क्षमा
४९. छाया	५०. छाया	५१. चूर्णा	५२. चूर्णा	५३. महामाया	५४. धात्री
५५. गौरी	५६. कान्ति	५७. धात्री	५८. क्षमा	५९. देही	६०. महामाया
६१. देही	६२. छाया	६३. छाया	६४. धात्री	६५. देही	६६. महामाया
६७. छाया	६८. धात्री	६९. छाया	७०. देही	७१. गाहू	७२. देही
७३. धात्री	८०. क्षमा	८१. क्षमा	८२. क्षमा	८३. देही	८४. गौरी
८५. देही	८६. क्षमा	८७. लज्जा	८८. बुद्धि	८९. कान्ति	९०. धात्री
९१. देही	९२. विद्या	९३. गौरी	९४. क्षमा	९५. धात्री	९६. गौरी
९७. चूर्णा	९८. गौरी	९९. चूर्णा	१००. कान्ति	१०१. चूर्णा	१०२. चूर्णा
१०३. गौरी	१०४. चूर्णा	१०५. चूर्णा	१०६. चूर्णा	१०७. धात्री	१०८. गौरी
१०९. धात्री	११०. छाया	१११. सिद्धि	११२. देही	११३. देही	११४. धात्री
११५. छाया	११६. कान्ति	११७. धात्री	११८. क्षमा	११९. धात्री	१२०. देही
१२१. देही	१२२. क्षमा	१२३. चूर्णा	१२४. लज्जा	१२५. देही	१२६. गौरी
१२७. गौरी	१२८. गौरी	१२९. क्षमा	१३०. गौरी	१३१. चूर्णा	१३२. गौरी
१३३. धात्री	१३४. धात्री	१३५. चूर्णा	१३६. विद्या	१३७. धात्री	१३८. कीर्त्ति
१३९. धात्री	१४०. चूर्णा	१४१. देही	१४२. गौरी	१४३. देही	१४४. देही
१४५. देही	१४६. धात्री	१४७. गौरी	१४८. देही	१४९. कान्ति	१५०. चूर्णा

१५१. चूर्णा	१५२. चूर्णा	१५३. देही	१५४. क्षमा	१५५. देही	१५६. देही
१५७. गौरी	१५८. देही	१५९. क्षमा	१६०. गौरी	१६१. धात्री	१६२. देही
१६३. कान्ति	१६४. धात्री	१६५. धात्री	१६६. देही	१६७. चूर्णा	१६८. क्षमा
१६९. गौरी	१७०. देही	१७१. कान्ति	१७२. धात्री	१७३. देही	१७४. विद्या
१७५. छाया	१७६. धात्री	१७७. कान्ति	१७८. चूर्णा	१७९. देही	१८०. देही
१८१. देही	१८२. धात्री	१८३. देही	१८४. महामाया	१८५. चूर्णा	१८६. चूर्णा
१८७. कान्ति	१८८. धात्री	१८९. गौरी	१९०. चूर्णा	१९१. गौरी	१९२. चूर्णा
१९३. चूर्णा	१९४. क्षमा	१९५. कान्ति	१९६. क्षमा	१९७. छाया	१९८. गौरी
१९९. छाया	२००. क्षमा	२०१. कीर्त्ति	२०२. गौरी	२०३. देही	२०४. कीर्त्ति
२०५. देही	२०६. छाया	२०७. कान्ति	२०८. क्षमा	२०९. क्षमा	२१०. गौरी
२११. गौरी	२१२. धात्री	२१३. विद्या	२१४. धात्री	२१५. क्षमा	२१६. चूर्णा
२१७. विद्या	२१८. चूर्णा	२१९. देही	२२०. क्षमा	२२१. धात्री	२२२. धात्री
२२३. धात्री	२२४. क्षमा	२२५. धात्री	२२६. महामाया	२२७. चूर्णा	२२८. चूर्णा
२२९. छाया	२३०. महामाया	२३१. सिद्धि	२३२. चूर्णा	२३३. सिद्धि	२३४. धात्री
२३५. धात्री	२३६. धात्री	२३७. चूर्णा	२३८. छाया	२३९. सिद्धि	२४०. चूर्णा
२४१. छाया	२४२. महामाया	२४३. गौरी	२४४. गौरी	२४५. गौरी	२४६. कीर्त्ति
२४७. कान्ति	२४८. क्षमा	२४९. छाया	२५०. छाया	२५१. गौरी	२५२. देही
२५३. छाया	२५४. छाया	२५५. धात्री	२५६. गौरी	२५७. चूर्णा	२५८. चूर्णा
२५९. कान्ति	२६०. क्षमा	२६१. देही	२६२. गौरी	२६३. धात्री	२६४. गौरी
२६५. धात्री	२६६. धात्री	२६७. देही	२६८. गौरी	२६९. सिद्धि	२७०. गौरी
२७१. धात्री	२७२. गौरी	२७३. सिद्धि	२७४. कान्ति	२७५. चूर्णा	२७६. गौरी
२७७. देही	२७८. गौरी	२७९. धात्री	२८०. क्षमा	२८१. गौरी	२८२. गौरी
२८३. क्षमा	२८४. धात्री	२८५. गौरी	२८६. गौरी	२८७. धात्री	२८८. विद्या
२८९. विद्या	२९०. विद्या	२९१. कान्ति	२९२. क्षमा	२९३. गौरी	२९४. छाया
२९५. कान्ति	२९६. चूर्णा	२९७. धात्री	२९८. चूर्णा	२९९. महामाया	३००. चूर्णा
३०१. धात्री	३०२. चूर्णा	३०३. गौरी	३०४. देही	३०५. क्षमा	३०६. क्षमा
३०७. गौरी	३०८. चूर्णा	३०९. गौरी	३१०. धात्री	३११. गौरी	३१२. देही
३१३. चूर्णा	३१४. चूर्णा	३१५. चूर्णा	३१६. धात्री	३१७. छाया	३१८. छाया
३१९. छाया	३२०. चूर्णा	३२१. चूर्णा	३२२. छाया	३२३. देही	३२४. चूर्णा
३२५. धात्री	३२६. छाया	३२७. धात्री	३२८. चूर्णा	३२९. चूर्णा	३३०. चूर्णा
३३१. छाया	३३२. चूर्णा	३३३. छाया	३३४. चूर्णा	३३५. धात्री	३३६. धात्री

३३७. देही	३३८. देही	३३९. गौरी	३४०. छाया	३४१. चूर्णा	३४२. चूर्णा
३४३. विद्या	३४४. गौरी	३४५. छाया	३४६. धात्री	३४७. छाया	३४८. धात्री
३४९. महामाया	३५०. छाया	३५१. छाया	३५२. धात्री	३५३. कान्ति	३५४. छाया
३५५. कान्ति	३५६. छाया	३५७. देही	३५८. धात्री	३५९. चूर्णा	३६०. क्षमा
३६१. कान्ति	३६२. विद्या	३६३. धात्री	३६४. धात्री	३६५. गौरी	३६६. क्षमा
३६७. छाया	३६८. छाया	३६९. देही	३७०. गौरी	३७१. धात्री	३७२. गौरी
३७३. देही	३७४. देही	३७५. चूर्णा	३७६. देही	३७७. विद्या	३७८. विद्या
३७९. देही	३८०. देही	३८१. क्षमा	३८२. क्षमा	३८३. देही	३८४. गौरी
३८५. गौरी	३८६. लज्जा	३८७. धात्री	३८८. क्षमा	३८९. गौरी	३९०. देही
३९१. देही	३९२. देही	३९३. लज्जा	३९४. गौरी	३९५. उद्गाथा	३९६. कीर्त्ति
३९७. सिद्धि	३९८. क्षमा	३९९. धात्री	४००. धात्री	४०१. क्षमा	४०२. धात्री
४०३. बुद्धि	४०४. विद्या	४०५. क्षमा	४०६. गौरी	४०७. बुद्धि	४०८. क्षमा
४०९. बुद्धि	४१०. देही	४११. गौरी	४१२. क्षमा	४१३. चूर्णा	४१४. देही
४१५. गौरी	४१६. चूर्णा	४१७. कान्ति	४१८. गाहू	४१९. देही	४२०. लज्जा
४२१. विद्या	४२२. विद्या	४२३. धात्री	४२४. गौरी	४२५. चूर्णा	४२६. धात्री
४२७. देही	४२८. गौरी	४२९. छाया	४३०. महामाया	४३१. गौरी	४३२. विद्या
४३३. गौरी	४३४. देही	४३५. लज्जा	४३६. गौरी	४३७. धात्री	४३८. गौरी
४३९. गौरी	४४०. चूर्णा	४४१. गौरी	४४२. गौरी	४४३. धात्री	४४४. क्षमा
४४५. महामाया	४४६. देही	४४७. विद्या	४४८. चूर्णा	४४९. देही	४५०. गौरी
४५१. छाया	४५२. छाया	४५३. छाया	४५४. कान्ति	४५५. देही	४५६. देही
४५७. लज्जा	४५८. गौरी	४५९. क्षमा	४६०. क्षमा	४६१. गौरी	४६२. महामाया
४६३. गौरी	४६४. गौरी	४६५. धात्री	४६६. छाया	४६७. चूर्णा	४६८. गौरी
४६९. कान्ति	४७०. लज्जा	४७१. गौरी	४७२. कान्ति	४७३. छाया	४७४. गौरी
४७५. धात्री	४७६. चूर्णा	४७७. छाया	४७८. धात्री	४७९. चूर्णा	४८०. क्षमा
४८१. धात्री	४८२. गौरी	४८३. देही	४८४. चूर्णा	४८५. गौरी	४८६. देही
४८७. गौरी	४८८. गौरी	४८९. गौरी	४९०. धात्री	४९१. चूर्णा	४९२. देही
४९३. देही	४९४. गौरी	४९५. क्षमा	४९६. क्षमा	४९७. कीर्त्ति	४९८. क्षमा
४९९. गौरी	५००. धात्री	५०१. चूर्णा	५०२. देही	५०३. देही	५०४. क्षमा
५०५. धात्री	५०६. धात्री	५०७. विद्या	५०८. देही	५०९. देही	५१०. देही
५११. छाया	५१२. गौरी	५१३. गौरी	५१४. चूर्णा	५१५. चूर्णा	५१६. देही
५१७. चूर्णा	५१८. चूर्णा	५१९. गौरी	५२०. क्षमा	५२१. देही	५२२. धात्री

५२३. विद्या	५२४. गौरी	५२५. देही	५२६. देही	५२७. छाया	५२८. चूर्णा
५२९. चूर्णा	५३०. कान्ति	५३१. धात्री	५३२. चूर्णा	५३३. चूर्णा	५३४. धात्री
५३५. गौरी	५३६. छाया	५३७. छाया	५३८. छाया	५३९. चूर्णा	५४०. देही
५४१. धात्री	५४२. चूर्णा	५४३. गौरी	५४४. चूर्णा	५४५. धात्री	५४६. छाया
५४७. गौरी	५४८. गौरी	५४९. गौरी	५५०. धात्री	५५१. कान्ति	५५२. चूर्णा
५५३. गौरी	५५४. क्षमा	५५५. कान्ति	५५६. छाया	५५७. छाया	५५८. धात्री
५५९. धात्री	५६०. चूर्णा	५६१. गौरी	५६२. देही	५६३. देही	५६४. क्षमा
५६५. देही	५६६. देही	५६७. विद्या	५६८. विद्या	५६९. क्षमा	५७०. गौरी
५७१. धात्री	५७२. चूर्णा	५७३. गौरी	५७४. छाया	५७५. देही	५७६. देही
५७७. धात्री	५७८. अनुष्टुप	५७९. विद्या	५८०. चूर्णा	५८१. धात्री	५८२. चूर्णा
५८३. गौरी	५८४. गौरी	५८५. देही	५८६. धात्री	५८७. छाया	५८८. कीर्त्ति
५८९. चूर्णा	५९०. धात्री	५९१. कान्ति	५९२. गौरी	५९३. गौरी	५९४. गौरी
५९५. चूर्णा	५९६. गौरी	५९७. कीर्त्ति	५९८. धात्री	५९९. देही	६००. छाया
६०१. धात्री	६०२. अनु०	६०३. अनु०	६०४. चूर्णा	६०५. चूर्णा	६०६. चूर्णा
६०७. गौरी	६०८. विद्या	६०९. गौरी	६१०. धात्री	६११. क्षमा	६१२. क्षमा
६१३. धात्री	६१४. क्षमा	६१५. क्षमा	६१६. देही	६१७. गौरी	६१८. देही
६१९. चूर्णा	६२०. देही	६२१. देही	६२२. गौरी	६२३. देही	६२४. गौरी
६२५. देही	६२६. देही	६२७. चूर्णा	६२८. चूर्णा	६२९. क्षमा	६३०. क्षमा
६३१. छाया	६३२. धात्री	६३३. देही	६३४. धात्री	६३५. विद्या	६३६. क्षमा
६३७. देही	६३८. देही	६३९. देही	६४०. गौरी	६४१. विद्या	६४२. लज्जा
६४३. छाया	६४४. धात्री	६४५. गौरी	६४६. धात्री	६४७. धात्री	६४८. देही
६४९. देही	६५०. देही	६५१. क्षमा	६५२. देही	६५३. क्षमा	६५४. क्षमा
६५५. देही	६५६. देही	६५७. गौरी	६५८. धात्री	६५९. धात्री	६६०. क्षमा
६६१. धात्री	६६२. गौरी	६६३. क्षमा	६६४. बुद्धि	६६५. चूर्णा	६६६. गौरी
६६७. विद्या	६६८. छाया	६६९. गौरी	६७०. क्षमा	६७१. देही	६७२. चूर्ण
६७३. देही	६७४. क्षमा	६७५. क्षमा	६७६. देही	६७७. चूर्णा	६७८. गाहू
६७९. धात्री	६८०. गौरी	६८१. देही	६८२. धात्री	६८३. गौरी	६८४. देही
६८५. लज्जा	६८६. देही	६८७. विद्या	६८८. चूर्णा	६८९. विद्या	६९०. गौरी
६९१. गौरी	६९२. गौरी	६९३. क्षमा	६९४. देही	६९५. देही	६९६. गौरी
६९७. देही	६९८. क्षमा	६९९. चूर्णा	७००. क्षमा	७०१. क्षमा	७०२. कान्ति
७०३. देही	७०४. गौरी	७०५. छाया	७०६. गौरी	७०७. लज्जा	७०८. विद्या

७०९. क्षमा	७१०. देही	७११. देही	७१२. धात्री	७१३. क्षमा	७१४. गौरी
७१५. गौरी	७१६. क्षमा	७१७. देही	७१८. धात्री	७१९. देही	७२०. गौरी
७२१. लज्जा	७२२. क्षमा	७२३. धात्री	७२४. चूर्णा	७२५. गौरी	७२६. धात्री
७२७. क्षमा	७२८. धात्री	७२९. लज्जा	७३०. देही	७३१. चूर्णा	७३२. लज्जा
७३३. देही	७३४. देही	७३५. क्षमा	७३६. विद्या	७३७. विद्या	७३८. क्षमा
७३९. विद्या	७४०. गौरी	७४१. विद्या	७४२. धात्री	७४३. धात्री	७४४. गौरी
७४५. चूर्णा	७४६. धात्री	७४७. क्षमा	७४८. विद्या	७४९. चूर्णा	७५०. गौरी
७५१. गौरी	७५२. विद्या	७५३. चूर्णा	७५४. विद्या	७५५. देही	७५६. विद्या
७५७. धात्री	७५८. गौरी	७५९. चूर्णा	७६०. देही	७६१. लज्जा	७६२. क्षमा
७६३. गौरी	७६४. गौरी	७६५. कीर्त्ति	७६६. गौरी	७६७. गौरी	७६८. धात्री
७६९. धात्री	७७०. धात्री	७७१. गौरी	७७२. धात्री	७७३. गौरी	७७४. गौरी
७७५. चूर्णा	७७६. गौरी	७७७. देही	७७८. चूर्णा	७७९. गौरी	७८०. गौरी
७८१. गौरी	७८२. गौरी	७८३. कान्ति	७८४. धात्री	७८५. चूर्णा	७८६. देही
७८७. गौरी	७८८. देही	७८९. विद्या	७९०. देही	७९१. गौरी	७९२. विद्या
७९३. देही	७९४. धात्री	७९५. गौरी	७९६. देही	७९७. धात्री	७९८. विद्या
७९९. गौरी	८००. क्षमा	८०१. क्षमा	८०२. गौरी	८०३. देही	८०४. देही
८०५. गौरी	८०६. चूर्णा	८०७. चूर्णा	८०८. क्षमा	८०९. गौरी	८१०. क्षमा
८११. गौरी	८१२. छाया	८१३. चूर्णा	८१४. धात्री	८१५. चूर्णा	८१६. गौरी
८१७. धात्री	८१८. देही	८१९. गौरी	८२०. क्षमा	८२१. देही	८२२. देही
८२३. धात्री	८२४. धात्री	८२५. विद्या	८२६. क्षमा	८२७. गौरी	८२८. छाया
८२९. विद्या	८३०. क्षमा	८३१. बुद्धि	८३२. गौरी	८३३. देही	८३४. धात्री
८३५. देही	८३६. क्षमा	८३७. गौरी	८३८. क्षमा	८३९. चूर्णा	८४०. चूर्णा
८४१. चूर्णा	८४२. चूर्णा	८४३. गौरी	८४४. धात्री	८४५. गौरी	८४६. देही
८४७. विद्या	८४८. महामाया	८४९. चूर्णा	८५०. गौरी	८५१. कान्ति	८५२. महामाया
८५३. गौरी	८५४. देही	८५५. गौरी	८५६. विद्या	८५७. चूर्णा	८५८. देही
८५९. गौरी	८६०. विद्या	८६१. गौरी	८६२. चूर्णा	८६३. बुद्धि	८६४. देही
८६५. विद्या	८६६. क्षमा	८६७. लज्जा	८६८. धात्री	८६९. धात्री	८७०. विद्या
८७१. धात्री	८७२. गौरी	८७३. देही	८७४. देही	८७५. देही	८७६. छाया
८७७. लज्जा	८७८. धात्री	८७९. देही	८८०. चूर्णा	८८१. चूर्णा	८८२. चूर्णा
८८३. धात्री	८८४. गौरी	८८५. छाया	८८६. गौरी	८८७. देही	८८८. धात्री
८८९. गौरी	८९०. धात्री	८९१. गौरी	८९२. विद्या	८९३. कान्ति	८९४. क्षमा

८९५. गौरी	८९६. क्षमा	८९७. धात्री	८९८. धात्री	८९९. देही	९००. धात्री
९०१. चूर्णा	९०२. धात्री	९०३. देही	९०४. विद्या	९०५. देही	९०६. धात्री
९०७. क्षमा	९०८. धात्री	९०९. धात्री	९१०. क्षमा	९११. गौरी	९१२. देही
९१३. गौरी	९१४. छाया	९१५. धात्री	९१६. धात्री	९१७. क्षमा	९१८. देही
९१९. गौरी	९२०. क्षमा	९२१. विद्या	९२२. कान्ति	९२३. क्षमा	९२४. विद्या
९२५. देही	९२६. देही	९२७. विद्या	९२८. लज्जा	९२९. चूर्णा	९३०. देही
९३१. गौरी	९३२. धात्री	९३३. देही	९३४. चूर्णा	९३५. देही	९३६. गौरी
९३७. धात्री	९३८. धात्री	९३९. गौरी	९४०. छाया	९४१. महामाया	९४२. विद्या
९४३. चूर्णा	९४४. देही	९४५. गौरी	९४६. गौरी	९४७. देही	९४८. क्षमा
९४९. धात्री	९५०. गौरी	९५१. गौरी	९५२. गौरी	९५३. छाया	९५४. गौरी
९५५. गौरी	९५६. गौरी	९५७. बुद्धि	९५८. देही	९५९. गौरी	९६०. गौरी
९६१. धात्री	९६२. देही	९६३. देही	९६४. धात्री	९६५. धात्री	९६६. देही
९६७. ०	९६८. क्षमा	९६९. चूर्णा	९७०. देही	९७१. देही	९७२. लज्जा
९७३. क्षमा	९७४. गौरी	९७५. कान्ति	९७६. देही	९७७. देही	९७८. क्षमा
९७९. विद्या	९८०. क्षमा	९८१. धात्री	९८२. क्षमा	९८३. धात्री	९८४. देही
९८५. धात्री	९८६. गौरी	९८७. गौरी	९८८. देही	९८९. विद्या	९९०. गौरी
९९१. गौरी	९९२. गौरी	९९३. देही	९९४. क्षमा	९९५. धात्री	९९६. धात्री
९९७. क्षमा	९९८. क्षमा	९९९. देही	१०००. गौरी	१००१. गौरी	१००२. देही
१००३. चूर्णा	१००४. देही	१००५. चूर्णा	१००६. देही	१००७. छाया	१००८. कीर्त्ति
१००९. क्षमा	१०१०. चूर्णा	१०११. धात्री	१०१२. विद्या	१०१३. क्षमा	१०१४. चूर्णा
१०१५. छाया	१०१६. गौरी	१०१७. गौरी	१०१८. गौरी	१०१९. गौरी	१०२०. सिद्धि
१०२१. गौरी	१०२२. गौरी	१०२३. क्षमा	१०२४. गौरी	१०२५. चूर्णा	१०२६. मानिनी
१०२७. गौरी	१०२८. गौरी	१०२९. मानिनी	१०३०. देही	१०३१. चूर्णा	१०३२. विद्या
१०३३. धात्री	१०३४. देही	१०३५. चूर्णा	१०३६. देही	१०३७. कान्ति	१०३८. देही
१०३९. क्षमा	१०४०. क्षमा	१०४१. देही	१०४२. कान्ति	१०४३. विद्या	१०४४. चूर्णा
१०४५. चूर्णा	१०४६. कान्ति	१०४७. गौरी	१०४८. चूर्णा	१०४९. चूर्णा	१०५०. गौरी
१०५१. देही	१०५२. देही	१०५३. चूर्णा	१०५४. गौरी	१०५५. क्षमा	१०५६. गौरी
१०५७. धात्री	१०५८. देही	१०५९. छाया	१०६०. महामाया	१०६१. क्षमा	१०६२. क्षमा
१०६३. देही	१०६४. कान्ति	१०६५. लज्जा	१०६६. गौरी	१०६७. गौरी	१०६८. कान्ति
१०६९. चूर्णा	१०७०. चूर्णा	१०७१. क्षमा	१०७२. धात्री	१०७३. विद्या	१०७४. चूर्णा
१०७५. चूर्णा	१०७६. लज्जा	१०७७. विद्या	१०७८. विद्या	१०७९. धात्री	१०८०. कीर्त्ति

१०८१. कीर्त्ति १०८२.मानिनी १०८३.महामाया १०८४. चूर्णा १०८५. गौरी १०८६. क्षमा
 १०८७. धात्री १०८८. गौरी १०८९. क्षमा १०९०. धात्री १०९१. गौरी १०९२. गौरी
 १०९३. चूर्णा १०९४. देही १०९५. क्षमा १०९६. विद्या १०९७. गौरी १०९८. गौरी
 १०९९. गौरी ११००. कान्ति ११०१. गौरी ११०२. देही ११०३. गौरी ११०४. कान्ति
 ११०५. धात्री ११०६. गौरी ११०७. छाया ११०८.महामाया ११०९. धात्री १११०. चूर्णा
 ११११. देही १११२. धात्री १११३. लज्जा १११४. देही १११५. अनुष्टुप १११६. अनुष्टुप
 १११७. अनुष्टुप १११८. अनुष्टुप १११९. अनुष्टुप ११२०. क्षमा ११२१. अनुष्टुप ११२२. अनुष्टुप
 ११२३. अनुष्टुप ११२४. अनुष्टुप ११२५. अनुष्टुप ११२६. अनुष्टुप ११२७. अनुष्टुप ११२८. अनुष्टुप
 ११२९. उद्गाथा ११३०. धात्री ११३१. चूर्णा ११३२. क्षमा ११३३. क्षमा ११३४. चूर्णा
 ११३५. देही ११३६. विद्या ११३७. क्षमा ११३८. देही ११३९. क्षमा ११४०. गौरी
 ११४१. क्षमा ११४२. सिद्धि ११४३. धात्री ११४४. महामाया ११४५. विद्या ११४६. लज्जा
 ११४७. गौरी ११४८. ० ११४९. गौरी ११५०. धात्री ११५१. क्षमा ११५२. धात्री
 ११५३. चूर्णा ११५४. चूर्णा ११५५. धात्री ११५६. देही ११५७. गौरी ११५८. छाया
 ११५९. धात्री ११६०. क्षमा ११६१. गौरी ११६२. धात्री ११६३. धात्री ११६४. धात्री
 ११६५. क्षमा ११६६. देही ११६७. धात्री ११६८. देही ११६९. देही ११७०. गौरी
 ११७१. धात्री ११७२. उद्गाथा ११७३. चूर्णा ११७४. महामाया ११७५. चूर्णा ११७६. महामाया
 ११७७. महामाया ११७८. धात्री ११७९. सिद्धि ११८०. छाया ११८१. छाया ११८२. महामाया
 ११८३. चूर्णा ११८४. गौरी ११८५. धात्री ११८६. चूर्णा ११८७. चूर्णा ११८८. गौरी
 ११८९. लज्जा ११९०. चूर्णा ११९१. देही ११९२. धात्री ११९३. लज्जा ११९४. गौरी
 ११९५. ० ११९६. क्षमा ११९७. कीर्त्ति ११९८. विद्या ११९९. चूर्णा १२००. देही
 १२०१. विद्या १२०२. अनुष्टुप १२०३. चूर्णा १२०४. देही १२०५. धात्री १२०६. धात्री
 १२०७. क्षमा १२०८. अनुष्टुप १२०९. क्षमा १२१०. गाहू १२११. क्षमा १२१२. क्षमा
 १२१३. लज्जा १२१४. कीर्त्ति १२१५. धात्री १२१६. छाया १२१७. क्षमा १२१८. देही
 १२१९. धात्री १२२०. धात्री १२२१. गाहू १२२२. गौरी १२२३. विद्या १२२४. क्षमा
 १२२५. देही १२२६. क्षमा १२२७. गाहू १२२८. चूर्णा १२२९. बुद्धि १२३०. देही
 १२३१. क्षमा १२३२. चूर्णा १२३३. गौरी १२३४. गौरी १२३५. विद्या १२३६. अनुष्टुप
 १२३७. अनुष्टुप १२३८. लज्जा १२३९. देही १२४०. गौरी १२४१. विद्या १२४२. गौरी
 १२४३. देही १२४४. विद्या १२४५. गौरी १२४६. देही १२४७. विद्या १२४८. धात्री
 १२४९. विद्या १२५०. छाया १२५१. क्षमा १२५२. गौरी १२५३. गौरी १२५४. उद्गाथा
 १२५५. क्षमा १२५६. देही १२५७. गौरी १२५८. देही १२५९. महामाया १२६०. क्षमा
 १२६१. उद्गाथा

संदर्भ ग्रंथ

१. पाणिनीय शिक्षा श्लोक, ६, चौखम्भा संस्करण १९४८
२. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ०-२,
३. वही,
४. वही,
५. सिद्धहेमशब्दानुशासन-८/१/१
६. वही, २/६०
७. वही, ९/२
८. सिद्धहेमशब्दानुशासनम्-८/१/१
९. परम्परागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी, पृ०-२
१०. सुन्दरकाण्ड, श्लोक-३०/१७-१८
११. वही, ७/९०
१२. वही, १/३३
१३. प्राकृत प्रवेशिका, हिन्दी संस्करण अध्याय-१
१४. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०-३
१५. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, सन् १९५७, पृ०-१५
१६. सिद्धहेमशब्दानुशासनम्, सूत्र-८/१/३७ अतोडो विसर्गस्य
१७. वही, सूत्र-८/३/२ अतोसेडो
१८. वही, सूत्र- ८/४/२८७ अतएत्सोपुंसिमागध्याम्
१९. वही, सूत्र- ८/१/२३ मोनुस्वार
२०. सिद्धहेमशब्दानुशासनम्, सूत्र-८/१/१७७, क्-ग्-च्-ज्-त्-द्-प्-य्-वां प्रायोलुक्
२१. वही, ८/३/२६०, तोदोनादोशोरसेन्याम्ययुक्तस्य
२२. सिद्धहेमशब्दानुशासनम्-क्-ग्-ट्-ड्-त्-द्-प्-श्-ष्-स्-क् पामूर्ध्वलुक् ८/२/७७
२३. वही, सूत्र-८/२/८९ अनादोशेषादेशयोद्वित्वम्
२४. वही, सूत्र-८/२/७४ पक्ष्म श्म, ष्म, स्म, ह्यांम्हः
२५. वही, सूत्र-८/२/७५ सूक्ष्म-श्न्-ष्न्-न् ह् नहण-क्ष्णां ण्हः
२६. वही, सूत्र-८/२/२६ (साध्वस-ध्य-ह्यां झः)
२७. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ०-१३८
२८. वही, सूत्र-८/१/६, नयुवर्णस्यास्वे
२९. वही, सूत्र-८/१/४१ (पदादेर्वा)
३०. वही, सूत्र-८/१/८ स्वरस्योदवृते
३१. प्राकृत पैंगलम्-सं० डॉ० भोलाशंकर व्यास, पृ०-५०
३२. वही, पृ०-५२
३३. वही, पृ०-५५
३४. वही, पृ०-३६
३५. वही, पृ०-६२

अष्टम अध्याय तित्थोगाली की परम्परा

उदात्त साहित्य की रचना उदात्त और गतिशील समाज में हो सकती है, यह कथन जितना ध्रुव सत्य है उतना ही निश्चित यह भी है कि गतिशील और जागृत समाज में साहित्य की रचना निरपेक्ष भाव से नहीं हो सकती है। यदि किसी सभ्यता का प्रतिबिम्ब साहित्य निरपेक्ष भाव से रचित है, तो स्पष्ट अर्थ यह है कि वह समाज न तो जागरूक है, न गतिशील और न ही उदात्त भावों से भावित। यों तो सम्पूर्ण मानव सभ्यता की साहित्य रचना आस-पड़ोस के विचारों और संस्कृतियों से अनुभावित होती हुई सापेक्ष रूप से ही हुई है। पर, भारतीय समाज और सांस्कृतिक प्रवाह में रचित साहित्य में सापेक्षता और एक दूसरे अनुप्राणित होने की चमक ही अलग तरह की है। भारतीय साहित्य किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक झलक की व्यापकता को अपने में संजोए हुए हैं। यही कारण है कि अलग-अलग विचारधारा होने के बावजूद मूल तत्त्व लगभग समान है। साहित्य एक दूसरे से सकारात्मक रूप में प्रभावित होकर विकसित हुए हैं। यदि इनमें समान तत्त्व पाये जाते हैं, तो यह इस सकारात्मक ग्रहणशीलता के उदात्त भाव को ही प्रदर्शित करता है।

जैन परम्परा के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ तित्थोगाली स्वाभाविक रूप से इस नियम के प्रतिकूल नहीं है। यद्यपि इसके प्रतिपाद्य विषय की एक सीमा होने के कारण उस वर्ण्य-विषय के क्षेत्र के अन्दर ही यह बंधी हुई है, फिर भी इसी सीमा में उसने पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्य से ग्रहण किया है तो परवर्ती साहित्य पर अपनी अमिट छाप भी छोड़ी है। तित्थोगाली प्रकीर्णक साम्प्रदायिक आग्रहों से कई मामले में अछूता चलता है। इसपर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के पूर्ववर्ती ओर समकालीन मान्यताओं का प्रभाव परिलक्षित होता है जो उन सम्प्रदायों के साहित्य में निबद्ध है। यहाँ इस अध्याय में हम तित्थोगाली की पूर्व परम्पराओं और साहित्य का इस पर पड़े प्रभाव पर विचार करेंगे।

(क) तित्थोगाली पर अंगप्रविष्ट ग्रन्थों का प्रभाव

तित्थोगाली प्रकीर्णक जैन आगम साहित्य के प्रकीर्णक कोटि के अन्तर्गत आता है। आगमों का प्रथमतः दो विभाग किये गये हैं— अंगप्रविष्ट आगम और अंगबाह्य आगम। अंगप्रविष्ट आगम वे हैं, जिसका व्याख्यान तीर्थकरों ने किया और गणधरों ने उसे सूत्ररूप में निबद्ध किया है तथा अंगबाह्य आगम वे हैं, जिसका प्ररूपण, गणधरों एवं अन्य आचार्यों ने तीर्थकरों के उपदेश के आधार पर उन उपदेशों के मूल तत्त्व से अलग न हटते हुए किया

है। प्रकीर्णकों के विषय में सामान्य अवधारणा यह है कि जिस तीर्थकर के तीर्थ में जितने भी स्थविर थे, उन सबने एक-एक प्रकीर्णक की रचना की। पर यह परम्परागत मान्यता ही है, क्योंकि भगवान महावीर के तीर्थ में चौदह हजार स्थविर होने का उल्लेख मिलता है और वर्तमान में उपलब्ध प्रकीर्णकों की अधिकतम संख्या ३४ ही है। आगमों में अंगप्रविष्ट ग्रन्थों की संख्या बारह है। ये हैं— १. आचारांग २. सूत्रकृतांग ३. समवायांग ४. स्थानांग ५. भगवती ६. ज्ञाताधर्मकथा ७. उपासकदशा ८. अन्तकृद्दशा ९. अनुत्तरौपपातिकदशा १०. प्रश्नव्याकरण ११. विपाक-सूत्र और १२. दृष्टिवाद। इनमें से अन्य आगम-ग्रन्थों के विषय में जानकारी देनेवाला मात्र दो ही ग्रन्थ- समवायांग और स्थानांग ही है। इन ग्रन्थों के वर्णित विषयों के समान ही तित्थोगाली में विवेचन किया गया। एक परम्परा के मान्य ग्रन्थ होने के कारण इसकी ही अपेक्षा की जा सकती है कि मूलभूत तत्त्वों में मतभेद पैदा न हो। आगमों की धारा में ही परवर्ती सभी आगम और आगमेतर जैन साहित्य है। परन्तु, तत्कालीक वर्णन में उनमें भी उपसम्प्रदायों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यद्यपि तित्थोगाली प्रकीर्णक श्वेताम्बर परम्परा का है परन्तु कुछ मान्यताएँ वर्तमान में मान्य परम्परा से भी साम्यता रखती हैं। हो सकता है कि तित्थोगाली के रचनाकार किसी सम्प्रदाय से पूरी तरह से प्रतिबद्ध नहीं रहे हों और रचनाक्रम में उन्होंने कई बातें दिगम्बर परम्परा की भी ले ली हों। या दूसरी बात यह भी हो सकती है कि उस कालखण्ड में श्वेताम्बर परम्परा में भी दिगम्बर परम्परा मान्य बातों को स्वीकार करने की चर्चा चल रही होगी, जिसे रचनाकार ने तित्थोगाली में शामिल कर लिया होगा। जैसे— आगम विलोप विषयक प्रसंग, परन्तु श्वेताम्बर मान्यता के अनुरूप इसे साहित्य में समाहित करने में बाधा के कारण इसे बाद में अस्वीकार कर दिया होगा। इसका एक प्रमाण तो यही है कि तित्थोगाली के अनुसार वीर निर्माण के १२५० वर्ष पश्चात् दिन्नगणि पुष्यमित्र के समय में वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सहित छह अंगों का व्यवच्छेद हो जाएगा।^१ परन्तु परम्परानुसार दृष्टिवाद को छोड़ शेष सभी ग्यारह अंग विद्यमान हैं। इसी तरह अन्य आगमों के विलोप के विषय में भी कहा गया है।

१. कुलकर—यों तो अंगप्रविष्ट ग्रन्थ समवायांग और स्थानांग का अनुकरण ही तित्थोगाली में किया गया है, परन्तु यत्र-तत्र प्रसंगवश इन अंगों के कथ्य का परिवर्तित रूप भी प्राप्त होता है। समवायांग में वर्तमान अवसर्पिणी में उत्पन्न हुए सात कुलकरों^२ के नाम यथावत् तित्थोगाली में प्राप्त होते हैं।^३ इनकी पत्नियों के नाम भी यथावत् ही हैं। इसी प्रकार स्थानांग सूत्र भी समवायांग से वर्तमान अवसर्पिणी के कुलकरों के विषय में सहमत है।^४ परन्तु आगामी उत्सर्पिणी काल के कुलकर की संख्या और उनके नाम को लेकर एक ही परम्परा के ग्रन्थ में अन्तर्विरोध है। जहाँ समवायांग में आगामी उत्सर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में सात कुलकरों की संख्या तित्थोगाली की संख्या के समान है। वहीं, उनके नाम में दोनों ग्रन्थों में विभिन्नता है। समवायांग के अनुसार, आगामी उत्सर्पिणी के साथ कुलकर होंगे। १. मित्रवाहन २. सुभूम ३. सुप्रभ ४. स्वयम्प्रभ ५. दत्त ६. सूक्ष्म और ७. सुबन्धु।^५

पर तित्थोगाली में उनके नाम हैं— १. विमलवाहन २. सुदाम ३. संगम ४. सुपाश्व ५. दत्त ६. सुनाभ ७. वसुमति (तसमति)।^६ स्थानांग में ये नाम समवायांग के समान ही हैं।^७ इसी प्रकार आगामी उत्सर्पिणी काल में ऐरावत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले कुलकरों की संख्या समवायांग^८ एवं स्थानांग^९ में १०-१० है और उनके नामक्रम में भी अन्तर है। समवायांग में निम्न नाम है— १. विमलवाहन २. सीमंकर ३. सीमंधर ४. क्षेमंकर ५. क्षेमंधर ६. दृढधनु ७. दशधनु ८. शतधनु ९. प्रतिश्रुति और १०. शतधनु। वहीं तित्थोगाली में आगामी उत्सर्पिणी काल में सात निम्न कुलकरों के उत्पन्न होने का वर्णन है— १. विमलवाहन २. विपुलवाहन ३. दृढधन ४. दशधनु ५. शतधनु ६. प्रतिश्रुति और ७. संभुति।^{१०} इसमें सभी नाम समवायांग और स्थानांग से मिलते हैं पर तीन नाम नहीं है। इससे यह पता चलता है कि ११ अंग आगमों के संकलन के समय लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी में भी इन विषयों में श्वेताम्बर परम्परा में दो मत प्रचलित थे जिनमें से एक का संकलन अंगद्वय में हो गया और दूसरी परम्परा आगे बढ़ती रही जिसको तित्थोगाली में समाविष्ट किया गया। यह केवल श्वेताम्बर परम्परा की बात है। दिग्म्बर परम्परा में एक तीसरी शाखा विद्यमान थी, जिसके अनुसार कुलकरों की संख्या सभी कालचक्रों में चौदह मानी गयी है। इसपर विस्तार से आगे चर्चा की जाएगी।

तीर्थकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों और वासुदेवों के वर्ण, ऊँचाई, वायु आदि के बारे में वर्णन तित्थोगाली में समवायांग, स्थानांग के समान ही है। महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्ली और वासुपूज्य के कुमारकाल में प्रवर्जित होने का भी वर्णन समान ही है।^{११} इनके प्रवर्जित होने के समय का नगर, समय और जितने लोग इनके साथ प्रवर्जित हुए— ये वर्णन भी समान है। वर्तमान अवसर्पिणी के सभी तीर्थकरों के चैत्यवृक्षों के नाम भी तित्थोगाली में समवायांग के समान है।^{१२} इन सबों में महावीर के चैत्यवृक्ष की ऊँचाई ३२ धनुष तथा शेष तीर्थकरों का चैत्यवृक्ष उनके शरीर के बारह गुणा ऊँचा था। आगामी उत्सर्पिणी काल के भरत क्षेत्र के तीर्थकरों में छठे तीर्थकर देवश्रुत^{१३} के स्थान पर तित्थोगाली में देवगुप्त का नाम है।^{१४} समवायांग के दसवें तीर्थकर शतकीर्ति के स्थान पर तित्थोगाली में सचक का नाम है, उन्नीसवें विजय के बदले विपाक का नाम है तथा चौबीसवें अनन्तविजय को तित्थोगाली में अनन्त और विजय अलग-अलग तीर्थकर के रूप में दिखाया गया है।^{१५} ग्यारहवें तीर्थकर सुव्रत की गणना तित्थोगाली में नहीं की गयी है, जिससे क्रम भी बदल गया है। ऐरावत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी में उत्पन्न होने वाले तीर्थकरों के नाम-क्रम भी दोनों ग्रन्थों में अलग-अलग हैं। समवायांग^{१६} और तित्थोगाली में चौबीस नाम निम्न हैं—

समवायांग	तित्थोगाली	समवायांग	तित्थोगाली
१. सुमंगल	१. सिद्धार्थ	१३. सत्यसेन	१३. दीर्घपाश्व
२. सिद्धार्थ	२. पुण्यघोष	१४. सूरसेन	१४. सुव्रत
३. निर्वाण	३. श्रुतसागर	१५. महासेन	१५. सुपाश्व

४. महायश	४. पुष्पकेतु	१६. सर्वानन्द	१६. सुकोशल
५. धर्मध्वज	५. सुमंगल	१७. देवपुत्र	१७. अनंतपार्श्व
६. श्रीचन्द्र	६. अर्थसिद्ध	१८. सुपार्श्व	१८. पुण्यघोष
७. पुष्पकेतु	७. निर्वाण	१९. सुव्रत	१९. महाघोष
८. महाचन्द्र	८. महायश	२०. सुकोशल	२०. सर्वानन्द
९. श्रुतसागर	९. धर्मध्वज	२१. अनन्तविजय	२१. सत्यसेन
१०. सिद्धार्थ	१०. श्रीचन्द्र	२२. विमल	२२. विमल
११. पूर्णघोष	११. दृढकीर्ति	२३. महाबल	२३. महाबल
१२. महाघोष	१२. महाचन्द्र	२४. देवानन्द	२४. देवानन्द

इसमें कुछ नाम परिवर्तित हैं तो कुछ का क्रम भिन्न है। गणधर विषयक प्रसंग में समवायांग सूत्र और तित्थोगाली में कई स्थानों पर भिन्नता पायी जाती है। छठे सुप्रभ के प्रथम गणधर का नाम सूर्य और गणधर संख्या तित्थोगाली में १०१ बतायी गयी है^{१८} जबकि समवायांग में प्रथम गणधर का नाम सुव्रत है।^{१९} तित्थोगाली में नौवें तीर्थकर सुविधिनाथ के गणधरों की संख्या ८४ उल्लिखित है, जबकि समवायांग में गणधरों की संख्या ८६ बतायी गयी है।^{२०} ग्यारहवें तीर्थकर श्रेयांस के ७० गणधर और उनमें प्रमुख गौस्तुभ को बताया गया है,^{२१} परन्तु समवायांग में इनकी संख्या ६६ वर्णित है।^{२२} बारहवें वासुपूज्य के ६६ गणधर कहे गये हैं।^{२३} पर समवायांग में यह संख्या ६२ है।^{२४} तेरहवें तीर्थकर विमलनाथ के गणधरों की संख्या ५६ है।^{२५} समवायांग में भी यही संख्या है। चौदहवें तीर्थकर अनन्तनाथ के गणधरों की संख्या ५० है, जो अन्य ग्रन्थों के समान है।^{२६} पर समवायांग में यह संख्या ५४ है।^{२७} पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथ के तैतालीस गणधर होने का उल्लेख है।^{२८} समवायांग में यह संख्या अड़तालीस है।^{२९} सोलहवें तीर्थकर शातिनाथ के चालीस गणधर थे तथा प्रथम गणधर चक्राउध थे।^{३०} समवायांग में इनका नाम चक्राभी है तथा संख्या ९० बतायी गयी है।^{३१} सत्तरहवें तीर्थकर कुंथुनाथ के प्रथम गणधर का नाम यहाँ सम्ब^{३२} है पर समवायांग में^{३३} सयंभू मिलता है। उन्नीसवें तीर्थकर मल्लीनाथ के प्रथम गणधर के रूप में भिषक^{३४} का नाम यहाँ प्राप्त होता है जबकि समवायांग में इन्द्र^{३५} नाम मिलता है। बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत के प्रथम गणधर का नाम मल्ली^{३६} है और समवायांग में मल्ली की जगह कुम्ब^{३७} का नामोल्लेख है। इक्कीसवें तीर्थकर नमिनाथ के प्रथम गणधर का नाम सुंभ^{३८} है। समवायांग में भी शुभ^{३९} नाम प्राप्त होता है। तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ के प्रथम गणधर का नाम आर्यदिन्न^{४०} उल्लिखित है और स्थानांग में 'शुभ' नाम प्राप्त होता है। समवायांग में दिन्न नाम है।^{४१} समवायांग और तित्थोगाली की विभिन्नता सारणी में स्पष्ट है।

तीर्थकर का नाम एवं क्रम	प्रथम गणधर एवं गणधरों की संख्या (तित्थोगाली में)	प्रथम गणधर एवं गणधरों की संख्या (समवायांग में)
६. सुप्रभ	सूर्य-१०१	सुव्रत-१०१
९. सुविधि	वराह-८४	वराह ८६
११. श्रेयांस	गोस्तूभ-७०	गोस्तूभ-६६
१२. वासुपूज्य	सुभूम-६६	सुधर्मा-६२
१५. धर्मनाथ	अरिष्ट-४३	अरिष्ट-४८
१६. शांति	चक्राउध-४०	चक्राभ-९०
१७. कुंथु	सम्ब-३७	सयंभु-३७
१९. मल्ली	भिषंक-२८	इन्द्र-२८
२०. मुनिसुव्रत	मल्ली-१८	कुम्भ-१८
२१. नमिनाथ	शुम्भ-११	शुभ-०
२३. पार्श्व	आर्यदिन्न-८	दिन्न, शुभ-(स्थानांग)

समवायांग में तीर्थकरों की प्रमुख साध्वियों के जो नाम उपलब्ध हैं^{४२} उनसे कई नाम तित्थोगाली से भिन्नता रखते हैं।^{४३} यथा—

तीर्थकर का नाम एवं क्रम	प्रमुख आर्यिका (तित्थोगाली में)	प्रमुख आर्यिका (समवायांग में)
१०. शीतलनाथ	सुजसा	सुलसा
१३. विमल	धरा	धरणिधरा
१६. शांति	श्रुति	शुचि
१७. कुंथु	दामिनी	अंजुका
१८. अरनाथ	रक्षी	भावितात्मा
२२. नेमि	यक्षदिन्ना	यशस्विनी

समवायांग में जो बलदेव-वासुदेव सम्बन्धी विवरण उपलब्ध है, उनमें कतिपय नामों के सम्बन्ध में तित्थोगाली अलग मत रखता है। बलदेव-वासुदेवों के पिता के नाम में अंतर है। यथा— समवायांग में तीसरे बलदेव-वासुदेव के पिता सोम और चौथे के रुद्र हैं।^{४४} तित्थोगाली में तीसरे के रुद्र और चौथे के पिता सोम हैं।^{४५} स्थानांग में यह प्रसंग तित्थोगाली के समान ही है। बलदेवों-वासुदेवों की माताओं के नाम दोनों में समान हैं। इनके पूर्व मत के नाम में भी कई जगह अन्तर है। समवायांग में तीसरे वासुदेव स्वयंभव

का पूर्वभव का नाम धनदत्त है, जबकि तित्थोगाली में धनमित्र है। पाँचवें वासुदेव पुरुषसिंह के पूर्व भव का नाम समवायांग में ऋषिपाल और तित्थोगाली में शैवाल है। समवायांग में तीसरे बलदेव भद्रके पूर्वभव का नाम सागर, चौथे का दत्त और पाँचवें का अशोकललित है।^{४६} प्रतिवासुदेवों में सातवें का नाम समवायांग में प्रभराज है, जबकि तित्थोगाली में हिरण्य नाम प्राप्त होता है।^{४७}

आगामी काल के चक्रवर्तियों में भरत क्षेत्र में पाँचवें चक्रवर्ती का नाम समवायांग में श्रीपुत्र है, तथा तित्थोगाली में श्रीचन्द्र मिलता है।^{४८} वासुदेवों में तीसरे वासुदेव का नाम समवायांग में दीर्घबाहु है और तित्थोगाली में सुंदरबाहु। दूसरे बलदेव का नाम समवायांग में विजय है, जबकि तित्थोगाली में अर्जित।^{४९}

इसके अतिरिक्त जो वर्णन तित्थोगाली में उपलब्ध है, वे समवायांग और स्थानांग में उपलब्ध विवरणों से समानता रखते हैं। समवायांग में तीर्थकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, समवसरण वर्णन, काल-चक्र विवेचन, चैत्यवृक्ष, पंचकल्याणक यथा-गर्भावतरण, जन्म-जन्मोत्सव, निष्क्रमण, केवलज्ञान और निर्वाण आदि का तिथि-नक्षत्र-दिन, माह, समय आदि का वर्णन बलदेव-वासुदेवों के पूर्वभव, उनमें उनके नाम-नगर-आचार्य-वर्तमान भव के माता-पिता, गणधर, श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, उनकी संख्या, तीर्थकरों की आयु, ऊँचाई, वर्ण, गणों की संख्या, वर्तमान और अतीत काल के कुलकर, तीर्थकरों के माता-पिता आदि का वर्णन, जिनका उल्लेख इस अध्याय के उपर्युक्त वर्णन में नहीं है, उन सबका तित्थोगाली में अनुकरण हुआ जानना चाहिए। इसी तरह स्थानांग में उपर्युक्त अध्याय के वर्णित प्रसंग से इतर जो वर्णन उपलब्ध होते हैं, उनके समान विषय ही तित्थोगाली में भी प्रसंगवश पुनरावृत्त हुए हैं। वर्ण्य-विषय के असंतुलित विस्तार-भय के कारण, सभी का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है। इनका वर्णन इस शोध-प्रबन्ध के पूर्व के अध्यायों में यथानुसार आ चुका है, इसलिए पुनरुक्ति दोष के कारण सबका विस्तृत वर्णन अपेक्षित नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही परम्परा के ग्रंथ होने के बावजूद दोनों में कई जगह भिन्नता आ गयी है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि संभवतः आगमों की अन्य वाचना (संभवतः नागार्जुनीय वाचना) के पाठ भी प्रचलित रहे हों और उसके वल्लभी वाचना से भिन्न होने के कारण आगम में समाहित नहीं किया गया हो और तित्थोगाली की रचना पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसमें कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें अंग आगम समवायांग से भिन्नता है। परन्तु अंगबाह्य आगमों, व्याख्या साहित्य और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों से समानता है। इसे हम आगे दर्शाने का प्रयास करेंगे।

(ख) अंगबाह्य ग्रन्थों से समानता एवं परिवर्तन

अंग-बाह्य आगमों की सूची बड़ी लम्बी है। यदि परम्परा भेद से ऊपर उठकर देखा जाए तो १२ उपांग, ६ छेदसूत्र, ६ मूलसूत्र, ३४ प्रकीर्णक, नदी, अनुयोगद्वार, कल्पसूत्र,

षडावश्यक आदि ग्रन्थ इसके अंतर्गत आ जाते हैं। दिगम्बर परम्परा में मान्य आगमतुल्य ग्रन्थों को शामिल करने पर यह सूची और लम्बी हो जाएगी। हम चूँकि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों से तित्थोगाली की तुलना अगले उप-शीर्षक में करेंगे, इसलिए यहाँ उपर्युक्त ग्रन्थों के साथ ही तित्थोगाली के वर्ण्य-विषय पर विचार करेंगे। इसके अतिरिक्त हम यहाँ आवश्यक निर्युक्ति को भी शामिल कर रहे हैं। इन ग्रन्थों में से मूल रूप से तित्थोगाली के विषय से मिलती-जुलती सामग्री नंदीसूत्र, कल्पसूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति आदि कुछ ही ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। इनपर क्रम से विचार करते हैं—

कल्पसूत्र-नंदी और तित्थोगाली— नंदी सूत्र में जो सामग्री है, उसमें से संघ-स्तुति और स्थविरावली का वर्णन तित्थोगाली में भी प्राप्त होता है। नंदी सूत्र के प्रारम्भ में की गयी संघ की स्तुति की पाँच गाथाएँ तित्थोगाली में यथावत् हैं। अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य आगम, अन्य परम्परागत ग्रन्थों एवं दिगम्बर परम्परा के तित्थोगाली में मिले समान गाथाओं को एक सारणी के अन्त में दर्शाया गया है। नंदी^{५०} एवं कल्पसूत्र^{५१} की स्थविरावली के कुछ अंश भी तित्थोगाली में मिलते हैं। तित्थोगाली में महावीर से स्थूलभद्र तक की पट्ट-परम्परा का उल्लेख किया गया है। इसमें भद्रबाहु के पश्चात् पाटलिपुत्र के द्वादशवर्षीय अकाल और उसके बाद पुनः साधुओं का पाटलिपुत्र में एकत्रित होकर आगम की वाचना का पूरा वृत्तान्त निबद्ध है। इसी क्रम में बारहवें अंग दृष्टिवाद के पूर्वो की वाचना के लिए स्थूलभद्र सहित ५०० साधुओं का भद्रबाहु के पास नेपाल जाना, वाचना ग्रहण करने में केवल स्थूलभद्र का सक्षम होना और दस पूर्वो के ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपनी सात बहनों के समक्ष कौतुकवश स्थूलभद्र का वैक्रिय लब्धि से सिंह का रूप धारण कर उन्हें भयभीत करना, इसपर भद्रबाहु का भविष्य की आशंकाओं को देखकर आगे की वाचना देने से इनकार कर जाना, और इसी प्रसंग में स्थूलभद्र के जीवन की पिछली कथा और कोशा वेश्या के उनके सम्पर्क में आने की कथा विस्तार से दी गयी है।^{५२} कल्प सूत्र एवं नंदी-सूत्र में महावीर को लेकर भद्रबाहु सातवें आचार्य हैं, जबकि तित्थोगाली में आठवें आचार्य। नंदी और तित्थोगाली में स्थूलभद्र का स्थान भद्रबाहु के उत्तराधिकारी के रूप में है, तो कल्पसूत्र में भद्रबाहु और स्थूलभद्र के बीच संभूतविजय नामक पट्टधर का नाम है। इसे निम्न सारणी से स्पष्ट किया जा रहा है।

नंदी-सूत्र	कल्पसूत्र	तित्थोगाली
१. महावीर	१. महावीर	१. महावीर
२. सुधर्मा	२. सुधर्मा	२. सुधर्मा
३. जम्बू	३. जम्बू	३. जम्बू
४. प्रभव	४. प्रभव	४. प्रभव
५. शय्यंभव	५. शय्यंभव	५. शय्यंभव
६. यशोभद्र	६. यशोभद्र	६. यशोभद्र

७. भद्रबाहु

७. भद्रबाहु

७. संभूत

८. स्थूलभद्र

८. संभूतविजय

८. भद्रबाहु

९. स्थूलभद्र

९. स्थूलभद्र

आवश्यकनिर्युक्ति और तित्थोगाली— आवश्यकनिर्युक्ति का वर्ण्य-विषय तित्थोगाली से बहुत ही मिलता-जुलता है। आवश्यकनिर्युक्ति का रचनाकाल भी तित्थोगाली से पूर्व का, लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी का माना जाता है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि आवश्यकनिर्युक्ति से ये गाथाएँ ज्यों की त्यों या कुछ नाममात्र के परिवर्तन के साथ गृहीत कर ली गयी हैं। परिवर्तन भी एक-दो शब्द का है, जो मुख्यतः भाषा की विविधता के कारण है। जिन-जिन प्रसंगों को तित्थोगाली में आवश्यकनिर्युक्ति से लिया गया है। वे हैं— कुलकर उत्पत्ति,^{५३} उनकी आयु, उनके जन्म, कुमार काल, राज्यकाल तथा मरने के पश्चात् गति, उनके समय की दण्डनीति। ऋषभ आदि दस क्षेत्रों के तीर्थकरों के जन्मोत्सव में आर्यां दिशाकुमारियों के कृत्य, ऋषभ के इक्ष्वाकु वंश की स्थापना, उनकी देवियों द्वारा चर्या, काल-क्रम का प्रथम विवाह जो ऋषभदेव का हुआ। इन्द्र द्वारा विवाहकर्म की शुरुआत, भरत, बाहुबली आदि ऋषभ के सौ सन्तानों का जन्म, राज्य की स्थापना, राजा का विधान, राजदण्ड, राज्याभिषेक, राज्य के लिए विभिन्न वस्तुओं का संग्रह, जिनों का शरीर-वर्ण, चक्रवर्तियों की ऊँचाई, बलदेवों-वासुदेवों की ऊँचाई, जिनों का गोत्र, उनके कुमार काल, चक्रवर्ती काल, राज्यत्व काल, साथ में प्रव्रजित लोगों की संख्या, निष्क्रमण का स्थान, निष्क्रमण के समय का तप, प्रथम भिक्षा, समवशरण का विस्तार और स्वरूप, चक्रवर्तियों और तीर्थकरों के काल-समय, चक्रवर्तियों की मृत्युपर्यन्त गति, वासुदेव-बलदेवों के नाम, उनके पिता-माता, प्रतिवासुदेवों के नाम तथा गति, वासुदेव-बलदेवों द्वारा तीर्थकरों की वंदना तथा अन्तर-काल, उनकी गति तथा आगाभी तीर्थकर के निष्क्रमण पर देवताओं द्वारा की गयी घोषणा। इन सबको अध्याय के अन्त में दी गयी सारणी में विषयवार स्पष्ट किया गया है। जन्मोत्सव का वर्णन संक्षेप में आवश्यकनिर्युक्ति^{५४} में प्राप्त होता है, जो तित्थोगाली के समान है।^{५५} केवलज्ञान उत्पत्ति के समय तीर्थकरों के तप का वर्णन समान रूप से दोनों ग्रन्थों में प्राप्त होता है।^{५६} यहाँ भी आवश्यकनिर्युक्ति का अनुकरण तित्थोगाली में किया गया है। केवलज्ञान उत्पत्ति के समय में दोनों ग्रन्थों में मतभेद है। तित्थोगाली में मल्ली, पार्श्व, ऋषभ, श्रेयांस और वासुपूज्य को पूर्वाह्न में तथा शेष को मध्याह्न में केवलज्ञान की प्राप्ति बतायी गयी है।^{५७} आवश्यकनिर्युक्ति में महावीर को अपराह्न में और शेष को पूर्वाह्न में केवलज्ञान की प्राप्ति बतायी है।^{५८} तीर्थकरों के जन्म नगर का तित्थोगाली में वर्णन^{५९} तथा उनके माता पिता का नाम भी आवश्यकनिर्युक्ति^{६०} के समान ही है। जिनों के बीच के अन्तर भी दोनों में समान है।^{६१} बलदेवों, वासुदेवों की आयु में भी दोनों ग्रन्थ समान है।^{६२} इन सबको स्पष्ट रूप से सारणी में देखा जा सकता है। सारणी में ही तित्थोगाली में अपने से पूर्ववर्ती प्रकीर्णकों

यथा दीवसागरपण्णत्ति, तंदुलवैचारिक, चंदावेज्झय, मरणविभत्ति, देवेन्द्रस्तव तथा दिगम्बर ग्रन्थ मूलाचार और तिलोयपण्णत्ति से समान विषय-वस्तु वर्णित करनेवाली गाथा को उसी रूप में ही ले लिया गया है। इनमें दीवसागरपण्णत्ति से दिशाकुमारियों के नाम, तंदुलवैचारिक से हीनमाण लोक में मनुष्यों की स्थिति और दुर्बल-मिथ्यात्वी जीव को शास्त्र कथन न करने का निर्देश, चंदावेज्झय से श्रामण्य पालन के योग्य-अयोग्य का विचार, मरणविभत्ति से कषाय नियंत्रण से मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति और देवेन्द्रस्तव से वर्णित सिद्ध स्वरूप के वर्णन वाली गाथा को तित्थोगाली में ज्यों का त्यों ले लिया गया है।

इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा मान्य उत्तराध्ययननिर्युक्ति, आवश्यक (मलयगिरि टीका), आवश्यक (हरिभद्रीय टीका), आचारांग चूर्णी (शीलांक), दशवैकालिक-चूर्णी, अन्तकृद्दशा, निरयावली, कल्पसूत्र वृत्ति (धर्मसागर), कल्पसूत्र वृत्ति (विनयविजय) आदि अनेक ग्रन्थों में तीर्थकर, चक्रवर्ती सम्बन्धी छिटपुट विवरण प्राप्त होता है। इन सभी पूर्ववर्ती परम्परागत ग्रन्थों के सार रूप में अनुकरण तित्थोगाली में माना जा सकता है। यह अनुकरण अन्य वाचना जैसे नागार्जुनीय वाचना से भी किया गया है। यह साहित्य रूप में तो उपलब्ध नहीं है, पर जिसकी स्मृति यदा-कदा जैन श्रमणों को थी और इस कारण उक्त मूल-धारा की परम्परागत मान्यता में कहीं-कहीं मतभेद दीख जाते हैं। आगे भी दिगम्बर परम्परा मान्य अवधारणा में कई स्थानों पर कुछ श्वेताम्बर आगमों से समानता दीखती है, तो उसी प्रसंग में अन्य श्वेताम्बर आगमों और ग्रन्थों से विषमता भी है। यह विषमता न केवल दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा के मध्य है, बल्कि श्वेताम्बर परम्परा के ही अलग-अलग ग्रन्थों में परिलक्षित होती है। आगे दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों से तित्थोगाली की तुलना कर देखेंगे कि कहाँ-कहाँ यह ग्रन्थ श्वेताम्बर मान्यता को दरकिनार अपने से पूर्ववर्ती दिगम्बर ग्रन्थ का अनुसरण करता है। जिसकी मान्यताएँ भी उसी मूल धर्म तीर्थ से श्रुतिरूप में आकर बाद में लिपिबद्ध हुई और विस्तार से प्राप्त हुई, जिस तीर्थ से श्वेताम्बर आगम श्रुतिरूप में आकर लगभग चौथी शताब्दी में लिपिबद्ध हुए थे। पर दोनों की सोच, अनुभव और स्मृति में यदा-कदा भेद पैदा हो गये।

(ग) दिगम्बर-परम्परा का तित्थोगाली पर प्रभाव

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि समुदाय भेद के कारण बहुत सारी मान्यताओं में भी भेद आना स्वाभाविक था। उपर्युक्त विवरणों से यह भी स्पष्ट हो गया है कि तित्थोगाली प्रकीर्णक यद्यपि श्वेताम्बर मान्यताओं का निर्वाह करता है फिर भी अनेक प्रसंगों में यह इन मान्यताओं से स्वतंत्र आचरण भी करता है। श्वेताम्बर आगमों के प्रणयन के काल तक आगमों में निबद्ध परम्परा के अतिरिक्त भी अन्य मान्यताएँ विद्यमान थी, जो दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य थी और इनसे अलग भी मान्यताएँ, जो लोक में प्रचलित थी पर किसी पंथ के साहित्य में स्थान नहीं पा सकीं। तित्थोगाली में इन मान्यताओं को जगह-जगह स्थान दिया गया है। श्वेताम्बर परम्परा के आगम भी इसके प्रमाण हैं, जिनमें

स्थानांग और समवायांग में कई स्थानों पर अन्तर्विरोध उजागर होता है। इनमें से कुछ तो दिगम्बर परम्परा से मेल खाते हैं जबकि कुछ प्रसंग अलग तरह के हैं। जो हो सकता है, कुछ मुनियों के स्मरण में रहा या वल्लभी की नागार्जुनीय वाचना के पाठ रहे हों, जिनको किसी परम्परा में स्थान न मिला हो। तित्थोगाली में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों और आगमेतर साहित्य में उपलब्ध तित्थोगाली के समान कथ्य की तुलना, उसमें समानता-असमानता पर पूर्व में विचार किया गया है। यहाँ दिगम्बर परम्परा के समान विषय-वस्तु का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथों से तित्थोगाली की तुलना प्रस्तुत की जा रही है, यहाँ हम दिगम्बर परम्परा से साम्य रखनेवाले वैसे प्रसंगों की चर्चा करेंगे, जिसमें श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओं को छोड़कर तित्थोगाली दिगम्बर परम्परा से प्रभावित हुआ है। यहाँ दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्परा में समान वैसे विषयों को नहीं उठाया जाएगा, जिसका पूरा अनुसरण तित्थोगाली में हुआ है। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के मौलिक मतभेद जो तित्थोगाली में भी प्रसंग-वश निबद्ध हुए हैं उन्हें भी हम अपने विचार के दायरे में रखेंगे।

तित्थोगाली से वर्ण्य-विषय में समानता रखनेवाले दिगम्बर ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ति प्रमुख है। इसके अलावा तिलोयसार, महापुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें कुछ समान विषय प्रसंगवश आ गये हैं। परन्तु तिलोयपण्णत्ति को छोड़ शेष सभी ग्रन्थ तित्थोगाली के परवर्ती काल के हैं। तिलोयपण्णत्ति के समय के विषय में विद्वान एकमत नहीं है। इसका काल विद्वानों के अनुसार दूसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का है। यद्यपि इतना अवश्य है कि ये ग्रन्थ चाहे जब भी रचित हुए हों, सदियों से चली आ रही परम्परागत मान्यता ही इनका आधार रहा है। इस दृष्टि से हम रचनाकाल पर न जाकर मुख्यरूप से तिलोयपण्णत्ति से तित्थोगाली की तुलना करेंगे, क्योंकि दोनों ग्रन्थ पूर्व से चली आ रही अलग-अलग सम्प्रदायगत मान्यताओं को ही निबद्ध करते हैं। इनसे समकालीन होने पर भी इनके बीच की समानता और विविधता को पूर्व का ही मानकर एक-दूसरे पर पड़े प्रभाव को चिह्नित किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि दिगम्बर परम्परा के उपर्युक्त ग्रन्थ मान्यताओं और कथ्यों के सुव्यवस्थित हो जाने के बाद प्रणीत हुए हैं, अतः उनमें वैसे अन्तर्विरोध नहीं है, जैसा कि पूर्ववर्ती श्वेताम्बर मान्य आगमों में देखा जाता है। अतः दिगम्बर परम्परा के किसी एक ग्रन्थ को आधार मान लेने से ही पूरी परम्परा का प्रतिनिधित्व हो जाता है। दिगम्बर ग्रन्थों में जो कुछ बिन्दुओं जैसे नाम आदि में जो अन्तर्विरोध हैं, वे नाम मात्र के हैं। ऐसा आने पर उन्हें तत्तत्स्थानों पर उल्लिखित कर दिया जाएगा।

तित्थोगाली प्रकीर्णक में वर्णित काल-स्वरूप का वर्णन एवं उनका छह आरों में विभाजन तिलोयपण्णत्ति के समान ही है। उन विभिन्न आरों में मनुष्य आदि के वैभव का वर्णन तथा कल्प वृक्ष वर्णन दोनों में समान है।^{६३} कुलकर उत्पत्ति के क्रम में तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है कि “कुछ कम एक पल्योपम के आठवें भाग मात्र तृतीय काल के शेष रहने पर सुवर्ण के सदृश प्रभा से युक्त प्रतिश्रुति नामक प्रथम कुलकर पुरुष

२१८ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

उत्पन्न होते हैं।^{६४} जबकि, तित्थोगाली में प्रथम कुलकर का नाम विमलवाहन उल्लिखित है।^{६५} श्वेताम्बर परम्परा की भाँति तित्थोगाली में प्रत्येक चक्र में सात-सात कुलकरों की उत्पत्ति वर्णित है,^{६६} तो दिगम्बर परम्परा में एक चक्र में कुलकरों की संख्या १४ बतायी गयी है। दोनों परम्परा के कुलकरों के नाम निम्न हैं।^{६७}

दिगम्बर परम्परा के कुलकर	तित्थोगाली में वर्तमान काल के कुलकर	दिगम्बर परम्परा के कुलकर	तित्थोगाली में कुलकर
		(आगामी उत्सर्पिणी के)	
१. प्रतिश्रुति	१. विमलवाहन	१. कनक	१. विमलवान
२. सन्मिति	२. चक्षुष्मान्	२. कनकप्रभ	२. सुदाम
३. क्षेमंकर	३. यशस्वी	३. कनकराज	३. संगम
४. क्षेमंधर	४. अभिचन्द्र	४. कनकपुंख	४. सुपाशर्व
५. सीमंकर	५. मरुदेव	५. नलिन	५. दत्त
६. सीमंधर	६. प्रसेनजित	६. नलिनप्रभ	६. सुनाभ
७. विमलवाहन	७. विमलवाहन	७. नलिनराज	७. वसुमति
८. चक्षुष्मान्		८. नलिनध्वज	
९. यशस्वी		९. नलिनपुंख	
१०. अभिचन्द्र		१०. पद्म	
११. चन्द्राभ		११. पद्मप्रभ	
१२. मरुदेव		१२. पद्मराज	
१३. प्रसेनजित		१३. पद्मध्वज	
१४. नाभिराय		१४. पद्मपुंख	

यहाँ दिगम्बर परम्परा में प्रथम से छठे तक और ग्यारहवें कुलकर का नाम तित्थोगाली से अधिक है। इनमें पहले पाँच के काल में हाकार दण्डनीति, छठे से दसवें के काल में हाकार और माकार दण्डनीति तथा अंतिम चार के काल के हाकार, माकार और धिक्कार-तीनों दण्डनीति प्रचलित थी। आगामी उत्सर्पिणी काल के चौदह कुलकरों के नाम भी तित्थोगाली से भिन्न हैं।^{६८} आगामी उत्सर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले तीर्थकरों के नाम को लेकर दोनों परम्परा में मतभेद स्पष्ट है।^{६९} चक्रवर्ती के नाम दोनों में समान हैं, पर बलदेव एवं प्रतिवासुदेवों के नाम में कतिमय अंतर प्राप्त होता है।^{७०} वासुदेवों का नाम समान है।^{७१} आगामी काल के चक्रवर्ती-बलदेव और प्रतिवासुदेवों के नाम में भी दोनों परम्पराओं में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगत होता है।^{७२} ऐरावत क्षेत्र के तीर्थकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों का विवरण श्वेताम्बर परम्परा तथा तित्थोगाली में तो प्राप्त

होता है, पर दिगम्बर परम्परा इस बारे में मौन है। तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है, “ऐरावत क्षेत्र में जो कोई शलाकापुरुष होते हैं, उनके नामादि विषयक उपदेश इस समय नष्ट हो चुके हैं।^{७३}” तीर्थकरों के विमानों से च्युत होकर तीर्थकर भव में गर्भ धारण के क्रम में च्युत हुए विमानों में भी अंतर नहीं है। तित्थोगाली और दिगम्बर परम्परा में तीर्थकरों की गणधर संख्या को लेकर कुछ समानता है, जिस प्रसंग में यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा का अनुकरण न कर दिगम्बर परम्परा का अनुकरण करते हैं।

द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ के ९० गणधरों में प्रमुख गणधर के नाम में भिन्नता है। तित्थोगाली में जहाँ श्वेताम्बर मान्यतानुसार सिंहसेन नाम है, वहीं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में के सरिसिंह^{७४} और सिंह सेन^{७५} दोनों हैं। तीसरे तीर्थकर भगवान सयंभवनाथ के गणधरों की संख्या तित्थोगाली में ९५ है, जबकि अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह संख्या १०२ है और दिगम्बर परम्परा में १०५ बताई गयी है। अभिनन्दन जिन के गणधरों की संख्या श्वेताम्बर परम्परा में ११६ मानी गयी है पर तित्थोगाली में यह संख्या १०३ है, जो दिगम्बर के अनुरूप है। पाँचवें तीर्थकर सुमतिनाथ के गणधरों की संख्या श्वेताम्बर ग्रन्थों में १०० है लेकिन तित्थोगाली में दिगम्बर मान्यतानुसार यह संख्या ११६ उल्लिखित है। छठे सुप्रभ जिन के प्रथम गणधर का नाम अलग-अलग ग्रन्थों में १०७, तित्थोगाली में १०१ तथा दिगम्बर ग्रन्थों में १११ एवं ११० प्राप्त होता है। सातवें सुपाशर्व जिन के प्रथम गणधर का नाम हरिवंश पुराण में बली, तिलोयपण्णत्ति में बलदत्त तथा तित्थोगाली में विदर्भ है। आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ के प्रथम शिष्य का नाम तिलोयपण्णत्ति में विदर्भ तथा तित्थोगाली में दिन्न है। नौवें तीर्थकर सुविधिनाथ के प्रथम गणधर का नाम दिगम्बर परम्परा में नाग और विदर्भ है एवं श्वेताम्बर परम्परानुसार तित्थोगाली में वराह है। परन्तु गणधरों की संख्या समवायांग में ८६, अन्य श्वेताम्बर तथा दिगम्बर ग्रन्थों में ८८ तथा तित्थोगाली में इनसे हटकर यह संख्या ८४ है। ग्यारहवें तीर्थकर श्रेयांसनाथ के गणधरों की संख्या तित्थोगाली में ७० तथा दिगम्बर परम्परा में ७७ बतायी गयी है। प्रथम गणधरका नाम भी भिन्न-भिन्न है। तित्थोगाली में गोस्तुभ है तथा दिगम्बर परम्परा में कुंथु एवं धर्म नाम प्राप्त होता है। बारहवें तीर्थकर वासुपूज्य के ६६ गणधर और प्रथम गणधर का नाम सुभूम तित्थोगाली उद्घटित करता है। दिगम्बर परम्परा में भी गणधर संख्या ६६ है तथा प्रथम गणधर का नाम हरिवंशपुराण में सुधर्म और तिलोयपण्णत्ति में मंदिर है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ समवायांग में गणधर संख्या ६२ और प्रथम गणधर का नाम सुधर्मा है। इसका संदर्भ पूर्व में दिया गया है। तेरहवें तीर्थकर विमलनाथ के ५६ गणधर थे तथा प्रथम का नाम मंदर तित्थोगाली कहता है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ गणधरों की संख्या ५५ तथा प्रथम का नाम जय बताते हैं। चौदहवें तीर्थकर अनन्तनाथ के ५० गणधर और प्रमुख का नाम यश तित्थोगाली में है पर तिलोयपण्णत्ति में अरिष्ट और हरिवंशपुराण में जय नाम का उल्लेख है। पन्द्रहवें धर्मनाथ के ६३ गणधर और प्रथम का नाम अरिष्ट तित्थोगाली प्रतिपादित करता है, जबकि दिगम्बर ग्रन्थों में भी यही संख्या है, नाम अरिष्ट और सेन

२२० : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

दोनों मिलता है। समवायांग में गणधरों की संख्या ६८ है। सोलहवें तीर्थकर शांतिनाथ के ४० गणधर और प्रथम चक्राउध का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में है जबकि समवायंग में ९० और प्रथम गणधर का नाम चक्राभ है। दिगम्बर ग्रन्थों में गणधर संख्या ३६ और प्रथम गणधर का नाम चक्रायुध है। सत्रहवें तीर्थकर कुंथनाथ के गणधरों की संख्या ३० और मुख्य गणधर का नाम सम्ब तित्थोगाली में उल्लिखित है। तित्थोगाली अठारहवें तीर्थकर अरनाथ के गणधरों की संख्या ३३ और प्रथम गणधर का नाम कुम्भ है, पर हरिवंश पुराण में कुंथु है। तिलोयपण्णत्ति में गणधर संख्या ३० उल्लिखित है। उन्नीसवें तीर्थकर मल्लिनाथ के २८ गणधर और भिषक् नामक प्रमुख गणधर का उल्लेख तित्थोगाली करता है। तिलोयपण्णत्ति में विशाख नामक गणधर है। तित्थोगाली ग्रन्थ इक्कीसवें नमिनाथ के गणधरों की संख्या ग्यारह तथा प्रथम गणधर का नाम शुंभ प्रतिपादित करता है। तिलोयपण्णत्ति में यह नाम सुप्रभ तथा हरिवंशपुराण में सोमक मिलता है। गणधर संख्या दिगम्बर ग्रन्थों में १७ है। बाइसवें नेमि जिन के गणधरों की संख्या तित्थोगाली में १८ है तथा प्रथम गणधर का नाम वरदत्त है। दिगम्बर परम्परा में भी वरदत्त नाम है पर श्वेताम्बर ग्रन्थों में इस बारे में कोई उल्लेख नहीं है। दिगम्बर ग्रन्थों में गणधरों की संख्या ११ है। तेईसवें पार्श्वनाथ के गणधरों की संख्या तित्थोगाली के अनुसार ८ है और प्रथम गणधर आर्यदिन्न हैं। पर, दिगम्बर ग्रन्थों में प्रथम गणधर का नाम स्वयम्भू है। समवायांग में गणधर संख्या ८ है पर शेष सभी दिगम्बर श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह संख्या १० है। इसे सारणी द्वारा स्पष्ट किया जाता है।

तीर्थकर क्रम	गणधर संख्या एवं प्रथम गणधर (तित्थोगाली में)	गणधर संख्या एवं प्रथम गणधर (अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थ)	गणधर संख्या एवं प्रथम गणधर (दिगम्बर ग्रन्थ)
१.	८४- ऋषभसेन	१. ८४- ऋषभसेन	१. ८४- ऋषभसेन
२.	९०- सिंहसेन	२. ९०- सिंहसेन	२. ९०- केसरिसेन(सिंहसेन)
३.	९५- चारु	३. १०२- चारु	३. १०५- धारुदत्त
४.	१०३- वज्रनाभ	४. ११६- वज्रनाभ	४. १०३-वज्रचमर(वज्रनाभि)
५.	११६- चमर	५. १००- चामर	५. ११६-वज्र(चमर,अमर)
६.	१०१ सुज्ज	६. १०७ सुव्रत	६. १११(११०)-चमर(वज्रचमर)
७.	९५ विदर्भ	७. ९५ विदर्भ	७. ९५- बलदत्त (बलि)
८.	९३- दिन्न	८. ९३- दिन्न	८. ९३- वैदर्भ (दत्त)
९.	८४- वराह	९. ८६- वराह	९. ८४- नाग (विदर्भ)
१०.	८१- नन्द	१०. ८१- नंद	१०. ८७८१- कुन्थु(अनगार)
११.	७०- गोस्तुभ	११. ६६-गोस्तुभ	११. ७७-धर्म (कुन्थु)

१२. ६६- सुभूम	१२. ६२- सुधर्मा	१२. ६६- मंदिर (सुधर्मा)
१३. ५६- मंदर	१३. ५६ (७ मंदर)	१३. ५५- जय (मंदर)
१४. ५०- यश	१४. ५४- यश	१४. ५०- अरिष्ट (जय)
१५. ४३- अरिष्ट	१५. ४३- अरिष्ट	१५. ४३- सेन(अरिष्टसेन)
१६. ४०- चक्राउध	१६. ९०- चक्राभ	१६. ३६- चक्राउध
१७. ३७- सम्ब	१७. ३७- स्वयम्भू	१७. ३५- स्वयम्भू
१८. ३३- कुम्भ	१८. २३- कुम्भ	१८. ३०- कुम्भ (कुन्थु)
१९. २८- भिषक	१९. २८- इन्द्र	१९. २८- विशाख
२०. १८- मल्ली	२०. १८- कुम्भ	२०. १८- मल्ली
२१. ११- शुम्भ	२१. -	२१. १७- सुप्रभ (सोमक)
२२. १८- वरदत्त	२२. -	२२. ११- वरदत्त
२३. ८- आर्यदिन्न	२३. ८- आर्यदिन्न	२३. १०- स्वयंभू
२४. ११- इन्द्रभूति	२४. ११- इन्द्रभूति	२४. ११- इन्द्रभूति

उपर्युक्त संदर्भ तित्थोगाली में गाथा ४५२-४६३, समवायांग में पृ०-२३१, सूत्र-२४८ तिलोयपण्णत्ति ४/९६१-९६६ और हरिवंश पुराण में ३४१-३४९ तक वर्णित है। महापुराण में यह अलग-अलग सर्गों में विभाजित है। जिसे जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-२, पृ०-३८६ पर देखा जा सकता है।

तीर्थकरों की मुख्य आर्यिकाओं के नाम के बारे में तित्थोगाली का दिगम्बर ग्रन्थों से काफी मतभेद है। तिलोयपण्णत्ति, हरिवंशपुराण एवं उत्तर पुराण में प्रथम, छठे, बाईसवें और चौबीसवें तीर्थकर की प्रमुख आर्यिकाओं के नाम हैं जो सभी परम्पराओं में समान हैं। पर शेष बीस तीर्थकरों की प्रमुख आर्यिकाओं के नामों में अन्तर है। दिगम्बर ग्रन्थों और तित्थोगाली में प्रमुख आर्यिकाओं के नाम निम्न प्रकार हैं :-

तीर्थकर	तित्थोगाली में प्रमुख आर्यिकाएँ	दिगम्बर परम्परा (तिलोयपण्णत्ति) में प्रमुख आर्यिकाएँ
१. ऋषभदेव	१. ब्राह्मी	१. ब्राह्मी
२. अजित	२. फल्लू	२. प्रकुब्जा
३. सम्भव	३. श्यामा	३. धर्मश्री
४. अभिनन्दन	४. अजिता	४. मेरुषेणा
५. सुमती	५. काश्यपी	५. अनन्ता
६. पद्मप्रभ	६. रती	६. रतिषेणा

७. सुपाश्व	७. सोमा	७. मीना
८. चन्द्रप्रभ	८. सुमना	८. वरुणा
९. सुविधि	९. वारुणि	९. घोषा
१०. शीतल	१०. सुजसा	१०. धारणा
११. श्रेयांस	११. धारिणी	११. चारणा
१२. वासुपूज्य	१२. धरिणी	१२. वरसेन
१३. विमल	१३. धरा	१३. पद्मा
१४. अनन्त	१४. पद्मा	१४. सर्वश्री
१५. धर्म	१५. शिवा	१५. सुव्रता
१६. शांति	१६. श्रुति	१६. हरिषेणा
१७. कुंथु	१७. दामिणी	१७. भाविता
१८. अर	१८. रक्षिता	१८. कुंथुसेना
१९. मल्ली	१९. बंधुमती	१९. मधुसेना
२०. मुनिसुव्रत	२०. पुष्पवती	२०. पूर्वदत्ता
२१. नमि	२१. अनिला	२१. मार्गिणी
२२. अरिष्टनेमि	२२. यक्षदिन्ना	२२. याक्षिणी (यक्षदिन्ना)
२३. पाश्व	२३. पुष्फचूला	२३. सुलोका
२४. वर्द्धमान	२४. चन्दना	२४. चन्दना

इसके अतिरिक्त जो मुख्य अंतर हैं वे परम्परागत मतभेद के कारण आए अंतर हैं। जैसे तीर्थकर माता के चौदह स्वप्न^{७४}, उन्नीसवें तीर्थकर का स्त्री होना एवं वर्तमान अवसर्पिणी (हुंडावसर्पिणी) काल में दस आश्चर्य का घटित होना^{७५} प्रमुख है। तीर्थकरों के माता-पिता के नाम में-तृतीय सयम्भव जिनदेव माता का नाम तित्थोगाली में 'सेना' है^{७६} जो हरिवंश पुराण में भी है, पर तिलोयपण्णत्ति और उत्तरपुराण में 'सुसेन'^{७७} नाम है। छोटे पद्मप्रभ के पिता का नाम दिगम्बर परम्परा में धरण है^{७८} और तित्थोगाली में घर^{७९} बलदेव का क्रम-अन्तर है। तित्थोगाली में प्रथम बलदेव अचल और द्वितीय विजय है^{८०} जबकि दिगम्बर परम्परा में प्रथम विजय और द्वितीय अचल है।^{८१}

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा से तित्थोगाली का परम्परागत मतभेद के बावजूद कई समानताएँ हैं जबकि उसके अपनी श्वेताम्बर परम्परा से कई मामलों में मतभेद परिलक्षित होता है।

(घ) तित्थोगाली में आगम विलोप की मीमांसा

तित्थोगाली प्रकीर्णक की जो कुछ खास विशेषता है, उसमें इतिहास के क्रमबद्ध

विवेचन के अतिरिक्त आगम लोप की मान्यता। यह मान्यता दिगम्बर परम्परा में ही रही है, श्वेताम्बर परम्परा में नहीं। श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ होने के बाद भी तित्थोगाली में आगम-विलोप विषयक वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि वर्तमान में जैनों के किसी भी सम्प्रदाय में सम्पूर्ण बारह अंग उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय अलग-अलग कारणों से कुछ-कुछ आगमों की उपलब्धता स्वीकार करता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के मतानुसार महावीर निर्वाण के लगभग १६० वर्ष पश्चात् मगध के भीषण द्वादशवर्षीय अकाल के समय आगमों का व्यवच्छेद हो गया। सभी आगमधर या उसके कुछ अंशधर धीरे-धीरे काल-कवलित हो गये। उनके बारहवें अंग दृष्टिवाद का कुछ अंश परम्परा से आचार्य धरसेन और आचार्य गुणधर के पास सुरक्षित बचा था, जिसके आधार पर बाद में उनके शिष्यों ने 'षट्खण्डागम' और 'कषायपाहुड' नामक ग्रन्थ की रचना की।

यद्यपि दिगम्बर ग्रंथ धवला के अनुसार, सभी अंगों का सम्पूर्ण विच्छेद नहीं हुआ। बल्कि उसके एक अंश को मानने की परम्परा रही है। लेकिन इसके विच्छेद का भय प्रदर्शित किया गया है। धवला और जयधवला में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् भारतवर्ष में जितने भी आचार्य हुए, वे सभी अंग-पूर्वों के एकदेशधर थे।^{८२} दूसरी तरफ श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि द्वादशवर्षीय अकाल के बाद इधर-उधर बिखर गये साधु पुनः मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में एकत्र हुए और जिसे जितना स्मरण था, उन सबने सबका संकलन कर लिया, पर बारहवाँ अंग किसी को स्मरण नहीं। एक भद्रबाहु ही थे, जिन्हें बारहवें अंग का ज्ञान था। पर उस समय वे नेपाल में साधना कर रहे थे। सोच-विचार कर साधुओं का संघ पाटलिपुत्र से उनके पास गया और उनसे पूर्वों की वाचना देने का आग्रह किया। पहले तो भद्रबाहु ने इनकार कर दिया पर संघ द्वारा दण्ड स्वरूप उन्हें संघ से बहिष्कृत कर देने की धमकी पर उन्होंने वाचना देना स्वीकार किया। तब ५०० योग्य साधुओं का एक समूह उनसे वाचना लेने पहुँचा पर एक स्थूलभद्र को छोड़कर शेष साधु कठिन वाचना लेने में समर्थ नहीं हो सके और धीरे-धीरे वापस चले गये। यह विवरण अन्य ग्रन्थों के साथ तित्थोगाली में गाथा ७१४ से ८०६ तक निबद्ध है।

वर्तमान में व्यवहारसूत्र में विशिष्ट आगमपठन की योग्यता का वर्णन (दशम उद्देशक) है। उसमें निर्दिष्ट आगम सूची, नन्दी और पाक्षिक सूत्र में जो आगम-सूची दी है तथा स्थानांग में प्रासंगिक रूप से जिन आगमों का उल्लेख है— इन सबके आधार पर श्री कापड़िया ने श्वेताम्बरों के अनुसार अनुपलब्ध आगमों की विस्तृत चर्चा की है।^{८३} आगमों का निम्न अंश श्वेताम्बर के अनुसार वर्तमान में अनुपलब्ध है— १. आचारांग का महापरिज्ञा अध्ययन २. ज्ञाताधर्मकथा की कई कथाएँ ३. प्रश्नव्याकरण, का वह रूप जो नन्दी, समवायांग आदि में निर्दिष्ट है तथा ४. दृष्टिवाद। इसके अतिरिक्त अंगों के जो परिमाण निर्दिष्ट हैं, उसे वर्तमान में उपलब्ध परिमाण से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जितना उपलब्ध है, उससे कई गुणा अधिक नष्ट हो चुका है।

दोनों परम्परा में मान्यतानुसार आगम विच्छेद को देखा जाए तो दिगम्बर आमनाय में आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में श्रुत विवरण क्रम में अंगबाह्य और अंगों की चर्चा की है। किन्तु आगम-विच्छेद की चर्चा नहीं की है। आचार्य अकलंक ने भी, जो धवला से पूर्व के हैं, आगम विच्छेद की कोई चर्चा नहीं की है।^{१४} तिलोयपण्णत्ति जिसका समय डॉ० ए०एन० उपाध्ये ने ई० सन् ४७३ और ६०९ के बीच माना है, में श्रुत विच्छेद की चर्चा है, जिसका अनुकरण धवला में माना जा सकता है।^{१५} तिलोयपण्णत्ति में श्रुतविच्छेद के क्रम में आचारांगधारी तक का समय वीर निर्वाण ६८३ बताया गया है। पर अंग-पूर्व का सर्वथा विच्छेद यहाँ भी नहीं है, बल्कि उनके एकदेशधर विद्यमान रहेंगे और सम्पूर्ण श्रुत तीर्थ का विच्छेद वीर नि० के २०,३१७ में होगा।^{१६} परवर्ती धवला में जो श्रुत परम्परा का वर्णन है, उसके अनुसार गौतम से सकल श्रुत लोहार्य को मिला, उनसे जम्बू को। ये तीनों ही सकल श्रुत के पारगामी थे। उसके बाद क्रम से विष्णु आदि पाँच आचार्य हुए जो चौदह पूर्वधर थे। इनमें अन्तर यह था कि उपर्युक्त तीन अपने जीवन के अन्तिम काल में सर्वज्ञ हुए और शेष पाँच नहीं हुए थे। उसके बाद विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य दस पूर्वधर हुए। इसके बाद नक्षत्रादि पाँच आचार्य एकादशांगधारी थे और दृष्टिवाद के अंशधर थे। उसके बाद सुभद्रादि चार आचार्य केवल आचारांग को सम्पूर्ण और शेष अंग-पूर्वों के एकदेशधारी हुए। इसके बाद जो आचार्य हुए वे सभी अंगों-पूर्वों के मात्र एक अंश के धारक हुए। यही परम्परा धरसेन तक चली।^{१७} इसे आगे सारणी में स्पष्ट किया गया है।

श्रुत विच्छेद के विषय में श्वेताम्बर परम्परा में मात्र तित्थोगाली प्रकीर्णक में ही विवरण उपलब्ध है। दिगम्बर परम्परा और तित्थोगाली में श्रुत विच्छेद में जो मुख्य अंतर है, वह यह कि जहाँ दिगम्बर परम्परा सूत्रधर-प्रधान अनुयोगधर को विनष्ट मानती है^{१८} तथा श्रुतधरों के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद फलित मानती है। वहीं, श्वेताम्बर परम्परा श्रुत को विनष्ट मानती है। यद्यपि नंदी-चूर्णि में दोनों मत का उल्लेख किया गया है।^{१९} तित्थोगाली में स्थूलभद्र के बाद दसपूर्वों के अंतिम धारक सर्वमित्त थे। उसके बाद निर्देश है कि वीर निर्वाण के १००० वर्ष बाद पूर्वों का विच्छेद हुआ। यही उल्लेख भगवती सूत्र में भी है।^{२०} यहाँ तित्थोगाली और तिलोयपण्णत्ति में श्रुत और श्रुतधरों के क्रमिक विनष्ट होने की परम्परा निम्न प्रकार निर्दिष्ट है।

वीर निर्वाण	वीर निर्वाण	श्रुत का विच्छेद	संदर्भ ग्रन्थ
संवत् पश्चात्	संवत् (संभवतः)		ग्रंथ और किस
पश्चात्			मुनि में
१. ६४		केवली मनः पर्यव, परमावधि पुलाकलब्धि, आहारक, शरीरक्षपक, उपशम श्रेणी,	तित्थो० ६९८ (जम्बू स्वामी)

जिनकल्प, संयमत्रिक और

मुक्तिगामी

२.	६२	केवलीधर	तिलोयपण्णत्ति ४/११४७८
३. १७०		श्रुतकेवलकी (चतुर्दशपूर्व)	तित्थो० ७०१-७०२ (स्थूलभद्र)
४.	१६२	„	तिलोय०-४/१४८४
५. ३७५		दशपूर्वी	तित्थो०- ८०६ (सत्यमित्र)
६.	३४५	„	तिलाय०- ४/१४८६
७.	५६५	एकदेश अंगधर	„ - ४/१४८९
८.	६८३ ^{११}	आचारांगधर	„- ४/१४९१
९. १०००		पूर्वगत	तित्थोगाली-८०९
१०. १२५०		व्याख्याप्रज्ञप्ति और अंतिम छः अंग	देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण तित्थो०-८११ (दिन्नगणि-पुष्यमित्र)
११. १३००		समवायांग	तित्थो०- ८१४ (माढरगोत्रीय संभूत)
१२. १३५०		स्थानांग	तित्थो०- ८१५ (आर्यव यति)
१३. १४००		कल्प-व्यवहार	तित्थो०-८१६ (ज्येष्ठभूति)
१४. १५००		दशाश्रुतस्कन्ध	तित्थो०- ८१७ (फल्गुमित्र)
१५. १९००		सूत्रकृतांग	तित्थो०-८१८ (महाश्रवण)
१६. २०००		निशीथ	तित्थो०- ८१९ (विशाख मुनि)
१७. २०,०००		आचारांग	तित्थो०- ८२० (विष्णुमुनि)
१८. २०,५००		उत्तराध्ययन	तित्थो०-८२६ (पुष्यमुनि)

२२६ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

१९. २०,९००		दशवैकालिक	तित्थो०- ८२७ (दिन्नमुनि)
२०.	२०,३१७	श्रुततीर्थविच्छेद	तिलोय०- ४/१४९३ (दुप्रसह)
२१. २१००३			
वर्ष साढ़े			
आठ मास		आवश्यक, अनुयोगद्वार और नन्दी	तित्थो०- ८६५
२२. तीर्थ के		सामयिक और	तित्थो०- ८६७
अंतिम दिन		छेदोपस्थापनीय	

(ड) तित्थोगाली में अन्य पूर्ववर्ती ग्रंथों की गाथाएँ

तित्थोगाली गाथा संख्या	अन्य पूर्ववर्ती ग्रंथों का नाम एवं गाथा क्रमांक
७०-८१	१५०-१६१- आवश्यक निर्युक्ति
८३-८९	१६२-१६८- ,,
१४४	८/९९/१- स्थांनांग, मुनिमधुकर
१४७	८/१००/१- वही
१५३	८/९५/२ - ,,
१५७	८/९७/२ - ,,
१५९	८/९८/२ - ,,
२७४-२७६	१९१-१९३ - आवश्यक निर्युक्ति
२७७-२७८	१८९-१९० - ,,
२७९-२८०	१९४-१९५ - ,,
२८३-२८९	१९६-२०२ - ,,
३३९-३५७	३७६-३८० - ,,
३६०-३६३	४१८/१-४ - ,,
३६९-३७०	३९२-९३, ३९५-९६- ,,
३७१-३७२	३०३, ३०५ - ,,
३८५	३८१ - ,,
३८६-३८८	२२१-२२३ - ,,
३९२	२२/६३९, (समवा०) २२९- आ०नि०

३९४-३०५	६४१/२४-२५ (") २२४-२२५-
४००	६५२/२६ (समवायांग) २२८ - "
४०१	६४४/३१ (समवायांग) ३१९- आ०नि०
४०२	६४५/३२ (समवायांग) ३२० - "
४२१	२५५ - आ०नि०
४२४	५४५ - "
४२५	५४७ - "
४२६	५४६ - "
४२७	५५१ - "
४२८	५५२ - "
४२९	५४९ - "
४३०	५५० - "
४३१	५५३ - "
४३२-४३४	५५५-५५७ - "
४३७-४३९	५५८-५६० - "
४४४-४४६	५६१-५६३ - "
४४७	५६६ - "
४४८	१/६२८ - मूलाचार
५३४	सम्पादक कल्पित
५३५	" "
५७२-५७४	४१६-४१८- आवश्यकनिर्युक्ति
५७५	४/१४१० (ति०प०) ४१ - "
५७७-५७८	३७५/४०-४१- "
६०२	४११ - "
६०३-६०४	४०९-४१० - "
६१०-६११	३७५/४२-४३ - "
६१२-६१३	४१९-४२० - "
६१४	६१५ - "
६१५	६१३ - "
६१६	६१६ - "
८४८	४- नंदीसूत्र (मुनि मधुकर)

२२८ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

८४९	६ - "
८५०	५ - "
८५१	७ - "
८५२	८ - "
९२४	७५ - तंदुलवैचारिक
९४६	सम्पादक कल्पित
९८६	"
१०६०	२१९ - आवश्यक निर्युक्ति
१०६१	२१७ - " "
१०६२	२२० - " "
१११५-१११९	६६७/७४-७८- समवायांग (मुनि मधुकर)
११२१-११२५	६७४/८९-९५ - "
११४७-११४८	६७२/८५-८६ १/२ - "
११९३	१६८ - तंदुलवैचारिक
१२००	१४२ - चंदावेज्झय
१२०१	१४३ - "
१२०३-१२०६	६३२, ६३३, ६३०, ६३१ - मरणविभक्ति
१२१७	६०० - चंदावेज्झय
१२२३	१३५ - मरणविभक्ति
१२२६	२९४ - देवेन्द्रस्तव
१२२६-१२२७	३६/५६-५७ - उत्तराध्ययन
१२२८	२७८ - "
१२३०-१२३१	२७९-२८० - "
१२३६-१२३७	२८५-२८६ - "
१२३९	२८७ - "
१२४२	२९० - "
१२४४	२९३ - "
१२४५-४६	२९५ - २९६ - देवेन्द्रस्तव
१२४७	२९९ - "
१२४८	२९८ - "
१२४९-१२५०	३००-३०१ - "
१२५२	३०३ "

१२५८

३ - नंदी (मुनि मधुकर)

१२५९

४ - ,,

संदर्भ ग्रंथ

१. तित्थोगाली, गा०-८११
२. समवायांग- मधुकर मुनि, पृ०-२२६
३. तित्थो०-७५
४. स्थानांग, मुनि मधुकर- ७/६२.१
५. समवायांग वही, पृ०-२३८, सूत्र-२६५
६. तित्थो०-१००५
७. स्था०-७/६४१
८. समवायांग वही, पृ०-२३८, सूत्र-६६६
९. स्थानांग वही, १०/१४४
१०. तित्थो०-१००७-१००८
११. तित्थो०-३८६, स्थानांग, स्थानक ५, सूत्र-२३४
१२. तित्थो०-४०९-४११, समवायांग, पृ०-२३०, सूत्र-६४६
१३. समवायांग-पृ०-२३९, सूत्र-६६७
१४. तित्थो०-१११५
१५. समवायांग वही, तित्थो०१११६-१११८
१६. समवायांग-पृ०-२४१, सूत्र-६७४
१७. तित्थो०-११२१-११२५
१८. तित्थो०-४५४
१९. वही, पृ०-२३१, सूत्र-६४८.४०
२०. तित्थो०-४५६, सम० पृ०-१४५, सूत्र-४०३
२१. तित्थो०-४५७
२२. समवायांग, पृ०-१२६, सूत्र-३३३
२३. तित्थो०-४५७
२४. वही, पृ०-१२३, सूत्र- ३१८
२५. तित्थो०-४५८
२६. तित्थो०-४५८
२७. वही, पृ०-११८, सूत्र-२९२
२८. तित्थो०-४५९
२९. वही, पृ०-११४, सूत्र-२७२
३०. तित्थो०-४५९
३१. वही, पृ०-१४९, सूत्र-४१४
३२. तित्थो०-४६०
३३. वही, पृ०-२३१, सूत्र-६४८.४१
३४. तित्थो०-४६१
३५. वही, पृ०-२३१, सूत्र-६४८-४२
३६. तित्थो०-४६२

२३० : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

३७. वही, पृ०-२३१, सूत्र-६४८-४२
३८. तित्थो०- ४६२
३९. वही, पृ०-२३१, सूत्र-६४८.४२
४०. तित्थो०-४६३
४१. वही, पृ०-२३१, सूत्र-६४८.४२
४२. समवायांग-पृ०-२३१-२३२, सूत्र-६४९
४३. तित्थो०-४६५-४७०
४४. समवायांग, पृ०-२३३, सूत्र-६५४
४५. तित्थो०-६०२
४६. समवायांग, पृ०-२३६, सूत्र-६५९, तित्थो०-६०५-६०६
४७. समवा०, पृ०-२३७, सूत्र-६६३, तित्थो०-६१०
४८. वही, पृ०-२४०, सूत्र-६७०, तित्थो०-११२८
४९. समवायांग, पृ०-२४०, सूत्र-६७२, तित्थो०-११४७-११४८
५०. नदी सूत्र, संपादक मधुकर मुनि, गा०-२५-२६
५१. कल्पसूत्र, स०-देवेन्द्र मुनि शास्त्र, पृ०-२७६-२९२, सूत्र-२०१-२०९
५२. तित्थोगाली, गा०-७०२-८०६
५३. वही, ७०-८१
५४. आ० नि०-पृ०-४१-८३
५५. तित्थो०-१४३-१८१
५६. आ०नि०-२५५, तित्थो०-४२
५७. तित्थो०-४०३
५८. आ०नि०-२५३
५९. तित्थो०-४९६-५२१
६०. वही, ४७२-४९५
६१. आ०नि०गा०-४१५/१-१७, तित्थो०-४९६-५२१
६२. आ०नि०-४०५, तित्थो०-३८२
६३. तित्थो०-प्रारम्भ से, तिलोयपण्णत्ति-४/३१३-३२१ एवं आगे
६४. वही, ४/४४१
६५. तित्थो०-७५
६६. वही, ७१
६७. तिलोय०-४१, ४२१-४९४ तित्थो०-७५, त्रि०सा०-७९२-७९३
६८. तित्थो०-१००५, तिलोयपण्णत्ति-४/१५७०-७१
६९. देखें, तित्थो०-११५-११८ एवं तिलोयपण्णत्ति-४/१५७९-८१
७०. तित्थो०-५७०, ५७८, तिलोयपण्णत्ति-४/१२८९५-९६, १४११, १४१३
७१. तित्थो०-५७७, ति०प० ४/१४१२
७२. तित्थो०-११२८-११२९, ११४७-११४८, ११५० तिलोयपण्णत्ति-४/१५८७-८८, १५२९, १५३०, १५९२
७३. वही, ४/२३६६
७४. तित्थो०-१००
७५. वही, ८८८-८८९
७६. तित्थो०-४७४

७७. तिलोय०, ४/५२६-२७
७८. वही,
७९. तित्थो०-४७७
८०. तित्थो०-५७८
८१. तिलोय०-४/५१७, १४११
८२. जयधवला, भाग-१, पृ०-८६, धवला, पुस्तक-१, पृ०-६७
८३. ए हिस्ट्री ऑफ द कैनोनिकल लिटरेचर ऑफ द जैनस, ले०- डॉ० हीरालाल रसिकलाल कापडिया
प्रकरण-४
८४. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-१, पृ०-४५
८५. वही,
८६. तिलोयपण्णत्ति-४/१४७५-९३
८७. धवला पु०-१, पृ०-६५-६७, जयधवला भाग-१, पृ०-८३
८८. धवला पु०-१ पृ०-६५, जयधवला भाग-१, पृ०-८३
८९. नन्दी-चूर्णि, पृ०-८
९०. भगवती सूत्र-२-८
९१. यहाँ तक काल गणना में कुछ अन्तर है पर वीर नि० ६८३ वर्ष सामान्य है। धवला, पुस्तक-१,
भूमिका, पृ०-२६pp, जयधवला भाग-१, भूमिका FF -४८, FF

नवम अध्याय उपसंहार

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि इसके विकास-क्रम में भिन्न-भिन्न विचारों और दर्शनों का समावेश हुआ है। भारतीय संस्कृति के आदि ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में अनेक प्रकार की सांस्कृतिक, वैचारिक और धार्मिक मान्यताएँ समाविष्ट हैं, जो परवर्ती काल में विकास को प्राप्त कर स्वतंत्र रूप से फूली-फली। इनमें से कई धाराएँ एक-दूसरे में समाहित भी हुईं और कई एक से अनेक नवीन सम्प्रदायों, पंथों और मान्यताओं का उद्भव और विकास हुआ। मानव के अस्तित्व में आने और उसमें सभ्यता की अवधारण विकसित होने के साथ ही मुख्य रूप से दो प्रकार की जीवन-शैली का विकास हुआ—ब्राह्मण अवधारणा पर आधारित तथा श्रमण अवधारणा पर आधारित। परवर्ती काल में इन दोनों परम्परा का और विकास हुआ और इनके कई उपसम्प्रदाय अस्तित्व में आए।

ब्राह्मण परम्परा जहाँ एक ओर प्रवृत्तिभूलक रही और जीवन को अधिकाधिक सुख-शांति की ओर से जाने में विश्वास करती है, वहीं श्रमण धारा जीवन और संसार को निस्सार मान कर परम-तत्त्व मोक्ष की प्राप्ति को अपना अंतिम ध्येय मानती है। कहना न होगा कि वेदों के इस जीवन को संवारने और 'जीवेमि शरदं शतम्' की इच्छा के बाद ही अस्तित्व में आये उपनिषद् साहित्य में 'आत्मा' की जिज्ञासा और उसे परम और स्थायी सुख की ओर ले जाने के मार्ग की गवेषणा प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार यह 'आत्म-जिज्ञासा' उपनिषद् साहित्य दूसरी ओर से श्रमण परम्परा को अधिक मजबूती प्रदान करनेवाला और उसे आगे बढ़ानेवाला साबित हुआ। बाद में श्रमण-धारा के अनेक पंथ दो भागों में स्थापित हो गये। विशेषकर 'महावीर' और 'बुद्ध' के समय से, जब इन दोनों व्यक्तियों ने पूरी व्यवस्था और मानव-मन को झकझोरने और उसे एक नये रास्ते पर चलने को प्रेरित किया। महावीर और बुद्ध दोनों अपने समय के तीर्थ-संस्थापक और प्रभावशाली व्यक्तित्व थे। अतः स्वाभाविक है कि समाज में इन दोनों के अलग-अलग अनुयायी पैदा हुआ, जो बाद में सम्प्रदाय बना। श्रमण परम्परा के वाहक होने और आत्मा की ही जिज्ञासा में विचारमग्न रहने के बावजूद भी दोनों के विचारों और अनुभूतियों में कुछ अंतर आया जिसके आधार पर ये दो सम्प्रदाय मुख्य रूप से विकसित हुए। इस प्रकार दोनों पंथों के साहित्य भी अलग-अलग रचे गये। आगे चलकर महावीर का अनुयायी पंथ "जैन-धर्म" और बुद्ध को स्वीकार करनेवाला पंथ "बौद्ध-धर्म" के नाम से जाना गया।

जैन-धर्म का आधार साहित्य 'आगम' कहलाता है जिसमें अलग-अलग उपसंप्रदायगत भेद से ३२, ४५, और ८४ आगम भी माने जाते हैं। इन आगमों का कई प्रकार से

अलग-अलग विभाग किये गये हैं। इनमें प्रकीर्णक विभाग के अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थ आविष्ट है। वर्तमान में उपलब्ध इन प्रकीर्णकों की संख्या ३४ है।

प्रकीर्णक जैन-धर्म की मान्यतानुसार विविध विषयों का विवेचन करता है। इसी क्रम में तित्थोगाली प्रकीर्णक जैन धर्म के उद्भव विकास और हास को परम्परागत मान्यतानुसार प्रतिपादित करता है। जैन मान्यता के अनुरूप लोक के भूगोल में से अढ़ाई-द्वीप में अवस्थित पाँच भरत पाँच ऐरावत क्षेत्रों में घटित होनेवाली विभिन्न घटनाओं का विवेचन विस्तार से किया गया है। इसमें मुख्य रूप से यह प्रतिपादित किया गया है कि काल-चक्र के दो विभागों-अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल, जो छह-छह आरों में विभक्त है, में किस प्रकार मनुष्यों का विकास और हास होता है। साथ ही धर्म की उत्पत्ति, कुलकर, तीर्थकर आदि शलाकापुरुषों की अवस्थिति और सांस्कृतिक विकास और उसके हास का विस्तृत वर्णन उल्लिखित है। तीर्थकरों के जन्म आदि पंचकल्याणकों, महोत्सवों का जितना विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, उतना इसके पूर्ववर्ती श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। आगमों पर रचित व्याख्या साहित्य जैसे चूर्णि, भाष्य आदि में कुछ विवरण हैं, पर वे सब भी तित्थोगाली के समकालीन ही हैं या परवर्ती। इससे यह निश्चित किया जा सकता है कि विषयों और घटनाओं का आलंकारिक वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ के रचनाकाल से ही प्रारम्भ हुआ। इस ग्रन्थ का रचनाकाल और रचनाकार का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में नहीं है और न ही किसी अन्य ग्रन्थ में। इसके अन्तः साक्ष्यों और बाह्य साक्ष्यों के विश्लेषण के आधार पर इसका रचनाकाल और रचना-स्थान निश्चित करने का प्रयास किया है। बाह्य साक्ष्यों में तीसरी शदी के 'नन्दीसूत्र' में उल्लिखित आगमों की सूची में 'तित्थोगाली' का नाम नहीं है, जबकि ६ठी/७वीं शताब्दी के ग्रन्थ 'व्यवहार भाष्य' (जिनदासगणि क्षमाश्रमण) में इसका प्रथम बार उल्लेख आया है। इससे इस ग्रन्थ का रचनाकाल ५वीं शताब्दी के आस-पास निश्चित किया जा सकता है। रचना स्थान और रचनाकार को निश्चित करना यद्यपि कठिन है, फिर भी कुछ ऐसे उल्लेख इसमें हैं, जिनके आधार पर इस ग्रन्थ को पाटलिपुत्र में रचित हुए अनुमान लगाया जा सकता है। इसकी गाथा संख्या ६३५ में कल्की की उत्पत्ति के विषय में वर्णन है, जिसमें 'एयं' और 'एथं' शब्द का प्रयोग आया है। विद्वानों ने इस आधार पर इसके लेखक का पाटलिपुत्र में रहकर इसकी रचना करने का अनुमान लगाया है।

श्वेताम्बर परम्परा में तित्थोगाली में ही जैन अवधारणा पर आधारित लोक-व्यवस्था, भूगोल एवं काल का स्वरूप व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होता है। इसमें प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के सभी छह-छह आरों की स्थिति और उसमें घटित होने वाली विविध घटनाओं का अलग-अलग वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस लोक व्यवस्था के वर्णन में जैन परम्परा के ग्रंथ कर्ताओं ने अपूर्व कल्पना का सृजन किया है। काल प्रमाण को मापने की ईकाई में सबसे छोटा 'समय' है, जो काल की अविभाज्य ईकाई है तो दूसरी ओर सबसे बड़ा 'सागरोपम' है जो कई लाख 'पूर्वों' से बना है। एक 'पूर्व' का जो मान रखा गया है, वही मानव के लिए कल्पनातीत है। इस सबका विवेचन द्वितीय

अध्याय में किया गया है। इस काल-मान की अवधारणा सम्भवतः ब्राह्मण परम्परा की 'चतुर्युगों' की कल्पना के समानान्तर एक अलग अवधारणा स्थापित करने का प्रयास होगी, जो 'व्याख्या-साहित्य' और उसके बाद विकसित हुई। इसी प्रकार 'तीर्थकरों' की अवधारणा का विकसित रूप भी हमें इस प्रकीर्णक में देखने को मिलता है।

भगवान महावीर ने वैदिक कर्मकाण्डों और धर्म के नाम पर चल रहे बाह्याऽम्बरों के विरुद्ध सामाजिक चेतना को उभारने का ऐतिहासिक कार्य किया था तथा अपने सरल और लोक-व्यवहार के अनुरूप सिद्धांतों से व्यापक जन-समूह को जोड़ने का प्रयास किया और काफी हद तक वे इसमें सफल हुए। पर परवर्ती काल में जब इस सामाजिक सांस्कृतिक और धार्मिक आंदोलन में ठहराव आया, तब यह सम्प्रदाय विद्वत्त्वर्ग की ओर उन्मुख हुआ, और इस विद्वत्-वर्ग में अपना स्थान सुनिश्चित करने के लिए उनमें प्रचलित गूढ़, जनसाधारण के लिए अगम्य और तरह-तरह के अलौकिक और दिव्य अवधारणाओं को स्वीकार करने लगा। इसी क्रम में उसने कई गूढ़तम और गम्भीर दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया और चौबीस तीर्थकरों एवं अन्य शलाकापुरुषों, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव आदि को भी प्रस्थापित किया। यह वही काल था जब ब्राह्मण परम्परा में विष्णु के चौबीस अवतार और बौद्ध परम्परा में चौबीस बुद्धों की अवधारणा अपनी विकसनशील अवस्था से गुजर कर स्थायी रूप ले चुकी थी। इसकी स्पष्ट छाप प्रस्तुत ग्रन्थ में परिलक्षित होती है। इसमें न केवल अवसर्पिणी के केवल इस क्षेत्र के चौबीस तीर्थकरों का वर्णन है बल्कि, ऐरावत क्षेत्र, आगामी उत्सर्पिणी काल के इस अढ़ाई द्वीप के अन्तर्गत आनेवाले पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में उत्पन्न होनेवाले तीर्थकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों आदि का भी क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। इसमें वर्णित तीर्थकरेतर शलाकापुरुषों में से कई 'ब्राह्मण परम्परा' में विख्यात पौराणिक व्यक्तित्वों का नवीन और परिवर्द्धित संस्करण है।

इस ग्रन्थ में परम्परागत तीर्थ के हास-क्रम के वर्णन के सिलसिले में ही कई तात्कालिक ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने की कुंजी प्राप्त होती है। जैन परम्परा में पञ्चम 'दुषमा' आरा में एक अत्यन्त ही धर्म-विरोधी और दुष्ट राजा का उल्लेख आता है जिसे 'कल्की' कहा गया है। इस कल्की की अवधारणा प्रथम शताब्दी के बाद रचित ग्रन्थों में ही प्राप्त होती है। तित्थोगाली में इस कल्की की उत्पत्ति भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग २००० वर्ष पश्चात् बताया गया है। इसी क्रम में पालक राजा, नन्दवंश, मौर्य-वंश, पुष्यमित्र, बलमित्र, भानुमित्र, नभसेन, गर्दभिल्ल तथा शकवंश के राजाओं का उल्लेख है। परन्तु तित्थोगाली में वर्णित समय की यह गणना कल्पित प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें आये राजवंशों और कल्की का उल्लेख विचारणीय है। इसमें वर्णित राजवंशों के शासन-काल इतिहास की विशेष सूचना प्रदान करते हैं। इसमें कल्की की उत्पत्ति पाटलिपुत्र में बताया गया है। उपर्युक्त राजवंशों को इतिहास की दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि ये सभी राजा एक राज्य के शासक नहीं थे अपितु इनका स्थान भिन्न-भिन्न

था। इन सबों को एक क्रम से रख देने का कारण यह हो सकता है कि जैन साधु सदा भ्रमणशील रहते हैं। वे एक राज्य से दूसरे राज्य में सदा भ्रमण करते रहते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् मगध पर शुंगवंश का शासन स्थापित हुआ। शुंग शासक पुष्यमित्र शुंग के काल में मगध और श्रमण-परम्परा-दोनों की प्रतिष्ठा घटी और शुंगों की राजधानी होने से उज्जयिनी की प्रतिष्ठा बढ़ी। इसी काल में बौद्धों-जैनों पर अत्याचार होने के संकेत भी इतिहास में प्राप्त होते हैं। अतः उक्त शुंगवंश का शासक पुष्यमित्र ही तित्थोगाली में वर्णित कल्की के रूप में चिह्नित किया गया है। पालक राजा के राज्याभिषेक का समय, जो वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष पश्चात् बताया गया है, उसे अलग-अलग राज्यों के शासकों के कुल शासनकाल को जोड़कर तैयार किया गया प्रतीत होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि मौर्यों के पतन के बाद मगध में श्रमणों पर अत्याचार शुरू हुए, तब वे वहाँ से पश्चिम की ओर चले गये। इस समय तक के नन्दों का १५५ वर्ष, मौर्यों का १६० वर्ष तथा पुष्यमित्र का ३० वर्ष का शासन काल उनकी परम्परा में सुरक्षित था। इसमें पूर्ववर्ती पालक राजा का ६० वर्ष, जो मूलतः उज्जयिनी का शासक था, को भी इसी काल में जोड़ दिया गया है। यहाँ तक शासन काल क्रमबद्ध रहा, परन्तु इसके बाद के शासक बलमित्र, भानुमित्र, नभसेन और गर्दभिल्ल मगध के राजा न होकर उज्जयिनी के शासक थे, जो इन श्रमणों के उज्जयिनी आगमन के पूर्ववर्ती और समकालीन थे। श्रमणों ने परम्परा से चली आ रही मगध राजाओं के उपर्युक्त काल के साथ इन समकालीन राजाओं के काल को भी जोड़ दिया और इस प्रकार वीर निर्वाण पश्चात् ६०५ वर्ष का समय निकाल दिया। यदि इन समकालीन राजाओं के काल से हटा दिया जाए तो मगध के शासकों का काल लगभग ४०० वर्ष आता है और वीर निर्वाण पश्चात् ४०० वर्ष पश्चात् कल्की की उत्पत्ति को माना जाए तो यह समय मगध में शुंगों का था। यद्यपि तित्थोगाली में कल्की काल को वीर निर्वाण के २००० वर्ष पश्चात् निश्चित कर तित्थोगालीकार ने इसे काल्पनिक बना दिया है, पर इसमें निबद्ध अत्याचार के अनुभव के वर्णन का संकेत इसकी रचना का पूर्ववर्ती है। इस शोध प्रबंध में इसपर गवेषण कर इस ऐतिहासिक भ्रम को सुलझाने का प्रयास किया गया है।

यद्यपि यह ग्रन्थ केवल जैन धर्म से सम्बन्धित है और केवल जैन मान्यतानुसार स्वीकृत मिथकों एवं परम्पराओं का ही विश्लेषण विस्तृत रूप में करता है, फिर भी इस विश्लेषण क्रम में उस पर तात्कालिक समाज, संस्कृति, दर्शन, अव्यवस्था एवं अन्य व्यावहारिक मान्यताओं का प्रभाव भी पड़े बिना नहीं रहा है। यों भी 'साहित्य समाज का दर्पण है' इस उक्ति को मानें तो आस-पड़ोस से प्रभावित हुए बिना कोई भी मौलिक साहित्य की रचना नहीं हो सकती है। तित्थोगाली में सांस्कृतिक और सामाजिक सामग्री प्रचुर मात्रा में भरी पड़ी है।

तित्थोगाली की भाषा के विवेचन क्रम में प्राकृत भाषा के उद्भव, विकास और उसकी स्थिति पर भी काफी विचार किया गया है। इसमें प्राकृत भाषा के उद्भव विकास

पर विचार करते हुए मूल रूप से यह दर्शाया गया है कि प्राकृत और संस्कृत दोनों का विकास भारोपीय और परवर्ती वैदिक छान्दस् से हुआ है, क्योंकि संस्कृत भाषा को 'संस्कृत' संज्ञा से प्राकृत युग में ही अभिहित किया गया। इसके पूर्व इसे संस्कारपूता भाषा कहा जाता रहा है। इससे अब तक की चली आ रही धारणा कि प्राकृत का विकास संस्कृत से हुआ है, का खण्डन हो जाता है। वैदिक युग में प्राकृत में हमें कई वैभाषिक प्रवृत्तियों का संकेत मिलता है, जो तत्काल और तत्तत्प्रदेश की लोक भाषा का सूचक है। यह उस समय की साहित्यिक भाषा थी जो जनभाषा की परिष्कृत रूप थी। जनभाषा अपने स्वाभाविक प्रवाह से आगे बहती रही और यही छठी शती ई. पूर्व में महावीर और बुद्ध द्वारा अपने उपदेश की भाषा के रूप में अपना लिए जाने पर विस्तार को प्राप्त हुई। जैन-बौद्ध मतावलम्बियों द्वारा अपने साहित्य की रचना इसी भाषा में करने से यह साहित्यिक भाषा का स्थान प्राप्त कर सकी। यद्यपि यह साहित्यिक भाषा जनता की मूल भाषा का परिनिष्ठित रूप ही थी। मूल प्रकृति से आयी भाषा का प्रवाह तो निरंतर ही बना रहा जो क्रमशः अपभ्रंश के रास्ते आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तक आ गया है। यह प्राकृत भाषा देश-काल-क्षेत्र की अपेक्षा अलग-अलग रूपों में विकसित हुई, क्योंकि जनसाधारण का उच्चारण एवं शब्द प्रयोग क्षेत्र एवं काल की अपेक्षा भिन्न-भिन्न था। इस प्रकार प्राकृत के कई प्रकार विकसित हुए। इनमें मुख्य रूप से, अर्धमागधी, शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची, चूलिका पैशाची आदि हैं। प्रस्तुत तित्थोगाली प्रकीर्णक की भाषा अर्धमागधी है, परंतु अन्य क्षेत्रों और उस काल में प्रचलित महाराष्ट्री और शौरसेनी के लक्षण भी इसमें मिलते हैं। विशेषकर उस समय में काव्यों की भाषा बन चुकी महाराष्ट्री के। इसके अतिरिक्त तित्थोगाली में प्राचीन अर्धमागधी या आर्षप्राकृत के बहुत सारे रूप सुरक्षित हैं। इसमें इन सभी पहलुओं पर गहराई से विचार कर इन भिन्नताओं और विशेषताओं को प्रकट किया गया है। इसमें प्राकृत के भाषातात्त्विक पक्ष को भी प्रमुखता से उजागर किया गया है, तथा प्राकृत के विभिन्न ध्वनि-तत्त्वों, स्वरतत्त्वों, धातु-शब्द रूपों तथा घटित होनेवाले विभिन्न विकारों को स्पष्टता के साथ अलग-अलग उपशीर्षकों में दर्शाया गया है। छन्द की दृष्टि से इस ग्रन्थ में प्राकृत का सर्वाधिक प्रचलित 'गाथा-छन्द' प्रयुक्त हुआ है, परंतु साथ में अन्य छन्दों यथा विग्गाहा, गाहू और अनुष्टुप् के भी कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं। गाथा छन्द के २७ उपभेदों में से अधिकांश का प्रयोग देखने को मिलता है। इसमें प्रत्येक गाथा में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन किया गया है।

यद्यपि तित्थोगाली प्रकीर्णक श्वेताम्बर सम्प्रदाय में गृहीत मान्यताओं का वहन प्रमुखता से करता है, तथापि उसमें इस सम्प्रदाय में मान्य विचारों से इतर मान्यताओं का समावेश भी है। मान्यताओं का यह उल्लंघन कहीं तो दिग्म्बर परम्परा में मान्य अवधारणाओं को स्वीकार कर लेने के कारण है, तो कहीं-कहीं पर उक्त दोनों सम्प्रदाय से स्वतंत्र स्थापना प्रस्तुत करते हुए हुआ है। गणधरों की संख्या को लेकर अनेक स्थलों पर इसमें श्वेताम्बर आम्नाय में मान्य संख्या न होकर दिग्म्बर आम्नाय में मान्य संख्या को ग्रहण किया गया है, तो कई स्थलों पर इन दोनों आम्नायों से अलग संख्या वर्णित है।

इस विषय में विवेचन करते हुए मैंने यह पाया है कि आगमों की भिन्न-भिन्न कालखण्डों में हुई मान्य वाचनाओं के अतिरिक्त भी अन्य वाचनाएँ हुई थी, जिनका स्पष्ट-प्रमाण यद्यपि प्राप्त नहीं होता, परंतु इसके विषय यदा-कदा इन आगमों में समाविष्ट दिखायी देते हैं। ऐसी ही एक वाचना लगभग पहली-दूसरी शताब्दी की वल्लभी में आयोजित नागार्जुनीय वाचना है जो मथुरा में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में आयोजित द्वितीय वाचना के समकालीन है।

इस ग्रन्थ में वर्णित आगम-विलोप विषयक मीमांसा सम्प्रदायगत दृष्टिकोण से आश्चर्यजनक है। क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी पूर्ववर्ती या पश्चात्वर्ती ग्रन्थ में यह मीमांसा प्राप्त नहीं होती और न ही इस परम्परा की मान्यता में आगमों का विलोप स्वीकार किया गया है। दिगम्बर-श्वेताम्बर का विभाजन जिन कुछ प्रमुख बिन्दुओं पर मतभेद के कारण हुआ, उसमें आगमों का लोप मानना या नहीं मानना एक प्रमुख मुद्दा था। दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रुतधरों का क्रमशः लोप हो जाने से अन्ततः आगम ज्ञान का भी लोप हो जाना स्वीकार किया गया है। परंतु इस आगम में यह मीमांसा प्रस्तुत कर लेखक ने सम्भवतः इस ग्रन्थ को साम्प्रदायिक मतभेद से ऊपर स्थापित करने की कोशिश की है और उस समय तक प्रचलित मान्यताओं का भी निष्पक्ष भाव से समावेश किया है, जो अन्य ग्रन्थों में नहीं पाये जाते हैं।

इन्हीं कुछ निष्पक्ष और साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ऊपर उठकर रचना करने के कारण यह ग्रन्थ जैनों के किसी भी सम्प्रदाय में आगम की प्रतिष्ठित सूची में नहीं स्वीकार किया गया है और ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक सूचना प्रदान करनेवाला यह अद्वितीय ग्रन्थ उपेक्षित रहा है।

परिशिष्ट : सहायक-संदर्भ ग्रंथों की सूची

१. अन्तकृद्दशा सूत्र-सं. मुनि मधुकर प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति ब्यावर, राज. १९८२
२. अन्तकृद्दशा-प्रका. आगमोदय समिति, १९१८
३. अनुत्तरोपपातिक-सं. मुनि मधुकर श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, राज.
४. अनुयोगद्वार चूर्णि-प्रका. ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम, १९२८
५. अनुयोगद्वार वृत्ति-(हेमचन्द्र) ऋषभदेव, केशरीमल, रतलाम, १९२८
६. अभिधानचिन्तामणि-हेमचन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४
७. अभिधानचिन्तामणि-हेमचन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६४
८. अभिधान राजेन्द्र कोश-(६ भागों में) राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्थान, १९८७
९. आचारांग-सं. मुनि मधुकर प्रका. श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
१०. आचारांग चूर्णि-ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम, १९४१
११. आवश्यक चूर्णि-ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम, १९२८-२९
१२. आवश्यक भाष्य-विजयदान जैन सीरिज, सूरत-१९३९-४०
१३. उत्तराध्ययन टीका-शांतिसूरि, बम्बई, १९१६
१४. उत्तराध्ययन वृत्ति-(शान्त्याचार्य) देवचन्द्र, लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुम्बई-१९१६
१५. उत्तराध्ययन सूत्र-साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२
१६. उपासकदशासूत्र-सं. मुनि मधुकर, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
१७. ऋग्वेद-भाष्यकार-पद्मभूषण डा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प्रका.-स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि. बालसाड १९७५
१८. ऋग्वेद (हिन्दी) रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस लि. प्रयाग-१९५४
१९. एजुकेशन इन एंशियन्ट इण्डिया- ए०एस० अल्लेकर, प्रका० नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस-१९४४
२०. ए हिस्ट्री आफ द कैनोनिकल लिटरेचर आफ जैन्स, एच०आर० कापड़िया, सूरत १९४१
२१. कथासरित्सागर एपेंडिक्स- सोमदेव- सं० पेंजर, भाग- १-१० लंदन १९२४-२८
२२. कल्पसूत्र- सं० देवेन्द्रमुनि शास्त्री, प्रका० श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शांति सर्कल, उदयपुर-१९८५
२३. कल्पावंतसिका- मुनि मधुकर, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
२४. कल्पिका- मुनि मधुकर- वही

२५. कल्याण (अग्नि पुराण)- वर्ष ४५, संख्या-१, सं०- हनुमान प्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वामी, मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
२६. कल्याण- 'संक्षिप्त विष्णुपुराण'- वर्ष २८, अंक-१, सं०-हनुमान प्रसाद पोद्दार,
चिम्मनलाल गोस्वामी घनश्याम जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
२७. कालकाचार्य कथा संग्रह- प्राप्त- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, पुस्तकालय, वाराणसी
२८. कुमारसम्भवम्- कालिदास प्रका०-पांडुरंग जावजी, बम्बई १९३५
२९. गोम्मटसार' (जीवकाण्ड)- ले०- नेमिचन्द्र अनु० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,
प्रका०- परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई-१९२७
३०. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) नेमिचन्द्र- सं० पं० मनोहरलाल, प्रका०- वही- १९२७
३१. चंदावेज्जय पइण्णयं- आगम-अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर १९९१
३२. चन्द्रप्रज्ञप्ति- सं० मुनि मधुकर- श्री आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राज०
३३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्रम्- (शांतिचन्द्र रचित वृत्ति सहित) प्रका०- देवचन्द्र
लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुम्बई-(१९२०)
३४. जंबूद्वीप पण्णत्ति संग्रहो - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि०सा०-२०१४
३५. जिनागमों की मूल भाषा- सं० के०आर० चन्द्र, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी,
अहमदाबाद-१९९९
३६. जैन आगम साहित्य- ले० के०आर० चन्द्र- प्राकृत जैन विद्या विकास फंड,
अहमदाबाद
३७. जैन आगम साहित्य- एक अनुशीलन- ले० आचार्य जयन्त सेन सूरि, राज राजेन्द्र
प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, वि०सं० २०५१
३८. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज- डा० जगदीश चन्द्र जैन, प्रका०- चौखम्भा
विद्याभवन, वाराणसी
३९. जैन दर्शन- महेन्द्र कुमार जैन- श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी-१९७४
४०. जैन दर्शन का आदिकाल- ले० दलसुख मालवणिया-ला०द० इन्स्टीच्यूट ऑफ
इंडोलॉजी, अहमदाबाद-१९८०
४१. जैन साहित्य का इतिहास- जगदीशचन्द्र जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान,
वाराणसी
४२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास- (७ भागों में) पार्श्वनाथ विद्यापीठ शोध संस्थान,
वाराणसी
४३. जैनेन्द्र-सिद्धान्त कोश- (पाँच भाग) सं०- क्षु० जिनेन्द्र वर्णी, प्रका० भारतीय
ज्ञानपीठ, वाराणसी
४४. जैन-सिद्धान्त बोल संग्रह- (८ भाग) संयोजक- भैरोदान सेठिया प्रका०- जैन
पारमार्थिक संस्था, बीकानेर १९४५
४५. ज्ञाताधर्मकथा- सं० मुनि मधुकर, श्री आमग प्रकाशन समिति, व्यावर, राज०

२४० : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

४६. ज्ञाताधर्मकथा- आगमोदय समिति, १९८०
४७. तत्त्वार्थ सूत्र- विवेचन- पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
४८. तत्त्वार्थवार्तिकम्- सं०-प्रो० महेन्द्र कुमार जैन- भारतीय ज्ञानपीठ, काशी-१९५३
४९. ताण्ड्य बाह्यण- चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी- १९३६
५०. तिलोपपण्णत्ति- (दो भाग)- ले० यतिवृषभ, प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९४३
५१. तीर्थकर बुद्ध और अवतार-ले० रमेशचन्द्र गुप्त, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
५२. त्रिलोकसार- ले० नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सं० पं० मनोहरलाल शास्त्री, प्रका०- हिन्दी जैन प्रसारक कार्यालय, बम्बई, १९१८
५३. दशरूपक- धनंजय, प्रका० चौखम्बा प्रसारक कार्यालय, बम्बई १९१८
५४. दशवैकालिक- सं० युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन श्वेताम्बर तेरापंथ सभा, कलकत्ता ।
५५. दशाश्रुतस्कन्ध- मुनिमधुकर- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
५६. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति- सं० मुनि विजयगणि सीरिज, भावनगर, वि०स० २०११
५७. दिव्यावदानम्- मिथिला विद्यापीठेन प्रकाशितम्, वि०स०-२०१५
५८. दीघनिकाय- सं० राहुल सांकृत्यायन एवं जगदीश काश्यप, प्रका०- भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद, लखनऊ-१९७९
५९. नन्दी सूत्रम्- सं० मुनि पुण्यविजय, प्रका०- प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी अहमदाबाद-१९६६
६०. नियमसार- आचार्य कुन्दकुन्द, प्रका० दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान हस्तिनापुर, मेरठ-१९८५
६१. निर्युक्ति संग्रह- प्रका०- श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावाबल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र) १९८९
६२. निशीथ चूर्णि- जिणदासगणि, सं०- उपाध्याय अमरमुनि एवं मुनि कन्हैयालाल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-१९५७-६०
६३. निशीथ चूर्णि- सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९५७-६०
६४. पइण्णय सुत्ताइं- सं० मुनि पुण्यविजय, प्रका०- महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८४
६५. पंचाशक- ले० हरिभद्र- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-१९९८
६६. पद्मपुराण- (रविषेण) दो भाग- सं० पन्नलाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५८
६७. प्रमाणनयतत्त्वालोक-विवेक- पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, श्री जैन गुरुकुल शिक्षण संघ, ब्यावर, १९४२

६८. परम्परागत प्राकृत व्याकरण की समीक्षा और अर्धमागधी-के०आर० चन्द्र, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद-१९९५
६९. परिशिष्ट पर्व- ले० हेमचन्द्र- सं० हर्मन जैकोबी, प्रका० एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता-१९३२
७०. प्रवचनसारोद्धार- ले० नेमिचन्द्र सूरि, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई, १९२२
७१. प्रश्न व्याकरण- सं० मुनि मधुकर- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
७२. प्रश्न-व्याकरण- आगमोदय समिति १९१८
७३. प्रज्ञापना- सं० मुनि मधुकर- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
७४. पाक्षिक सूत्र- (श्रमणसूत्रादि संग्रह) पारेख मनसुखलाल, नगरचन्द्र
७५. पारमर्ष- स्वाध्याय ग्रंथ संग्रह- श्री जैन ग्रंथ प्रकाशन सभा, राजनगर
७६. प्राकृत चन्द्रिका- भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी-१९६९
७७. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में- के०आर० चन्द्र-प्राकृत जैन विद्या विकास फंड अहमदाबाद-१९९१
७८. प्राकृत पैंगलम्- (दो भाग) सं०-प्रो० भोलाशंकर व्यास, प्रका०- प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी-१९६२
७९. प्राकृत-प्रोपर नेम्स- (दो भाग) सं०प्रो० मोहनलाल मेहता एवं डा० के०आर० चन्द्र, ला०द० भारतीय विद्यामंदिर, अहमदाबाद १९७०
८०. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- ले० डा० नेमिचन्द्र शास्त्री प्रका०-तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी १९८६,
८१. प्राकृत-प्रकाश, वररुचि- चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी १९५९
८२. प्राकृत-प्रवेशिका- ले० ए०सी० वूलनर, अनु० बनारसीदास जैन, प्रका०- मुंशीराम, मनोहरलाल, दिल्ली
८३. प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण एवं उसमें प्राक्-संस्कृत तत्व- के०आर० चन्द्र, प्राकृत विद्यामंडल, अहमदाबाद १९८२
८४. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण- ले० रिचर्ड पिशेल, अनु० हेमचन्द्र जोशी, प्रका०- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना १९५८
८५. प्राकृत लक्षणावली- चण्ड, प्रका० मफतलाल माणेकचन्द वीरमगाम, गुजरात, वि०स० १९९२
८६. प्राकृत व्याकरण- ले० हेमचन्द्र, सं० ज्ञान मुनि, प्रका० आत्माराम जैन मॉडल स्कूल, दिल्ली, १९७४
८७. प्राकृत व्याकरण प्रवेशिका- ले०- प्रो० सत्यरंजन बनर्जी, जैन भवन, कलकत्ता १९९९
८८. प्राकृत सर्वस्वम्- प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद १९६८

२४२ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

- ८९ प्राचीन अर्धमागधी की खोज में- के०आर० चन्द्र, प्राकृत जैन विद्या विकास फंड, अहमदाबाद १९९१
९०. पुष्पचूला- सं०- मुनि मधुकर श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
९१. पुष्पिका- वही
९२. बृहत्कल्प टीका- मलयगिरि और क्षेमकीर्ति, आत्मानंद जैन सभा, भावनगर, १९३८-३९
९३. बृहत्कल्पभाष्य- संघदासगणि
९४. बृहत्कल्पभाष्य- जैन आत्मानंद सभा भावनगर, १९३३-४२
९५. बृहत्कल्पसूत्र- (५ भाग) भद्रबाहु- वही, १९३८
९६. भगवती आराधना (दो भाग) सं० पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री जैन संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर १९७८
९७. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, ले० डा० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल १९७५
९८. मत्स्यपुराण- (I & II खण्ड) सं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, (वेदनगर) बरेली १९७०
- ९९ मत्स्यपुराण, उत्तरार्द्ध- वर्ष ५९ का कल्याण, गीताप्रेस, गोरखपुर १९८५
१००. मरण समाधि- आगमोदय समिति, १९२७
१०१. महानिशीथ- सं० मुनि पुण्यविजय जी
१०२. महापुराण- (दो भाग) रविषेण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५१
१०३. महाभारत- सं० पं० रामचन्द्र शास्त्री प्रथम, शंकर नरहर जोशी, पूना १९३०
१०४. मूलाचारं (दो भाग) ले० आचार्य वट्टकेर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली १९९२
१०५. रत्नकरावतारिका- (तीन भाग) ले० रत्नप्रभसूरि, सं०- दलसुख मालवणिया, ला०द० भारतीय विद्या मंदिर, अहमदाबाद १९६८
१०६. राजप्रश्नीय सूत्र- (बेचरदास) गुजरात ग्रंथरत्न कार्यालय, अहमदाबाद, वि०सं० १९९४
१०७. वसुदेवहिण्डी-(दो भाग) सं० मुनिचतुरविजय-पुण्यविजय, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर १९३०
१०८. व्याख्याप्रज्ञप्ति- मुनि मधुकर- श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
- १०९ व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) आगमोदय समिति १९१८-२१
११०. व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका (अभयदेव) आगमोदय समिति, बम्बई १९२१ रतलाम १९३७
१११. व्यवहार-सूत्रम्- सं०- मुनि कन्हैयालाल, अ०भा०श्वे०स्था० जैन शास्त्रोद्धारक समिति, १९६९
११२. व्यवहार सूत्र भाष्य- प्रका० केशवलाल प्रेमचन्द्र, अहमदाबाद- १९२६-२८

११३. वाल्मिकी रामायण (दो भाग) गीताप्रेस, गोरखपुर
११४. विधिमार्गप्रपा- ले० जिनप्रभसूरि, सं० मुनि जिनविजय, श्री जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत १९४१
११५. विपाकसूत्र- सं० मुनि मधुकर, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर,
११६. विशेषावश्यकभाष्य- सं०- दलमुख मालवणिया ला०द०भा०सं० विद्यामंदिर, अहमदाबाद १९६८
११७. विशेषावश्यकभाष्य- ऋषभदेव केशरीमल, रतलाम १९३६
११८. वृष्णिदशा- मुनि मधुकर, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
११९. विष्णुपुराण- सं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली १९६९
१२०. विष्णुपुराण- छठा संस्करण, गीताप्रेस, वि०सं० २०२४
१२१. वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना- ले० मुनि कल्याण विजय, नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका, काशी, वर्ष-१० अंक-४
१२२. वैदिक इंडेक्स- (दो भाग) मैकडोनल एण्ड कीथ, १९१२
१२३. शतपथ ब्राह्मण- चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि०सं० २०४०
१२४. शतपथ ब्राह्मण (I & II) पं० चन्द्रधर शर्मणा, अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, काशी, सं० १९७४-१९९७
१२५. श्री आगम सुधा सिन्धु (निशीथ, महानिशीथ) सं० श्री विजय जिनेन्द्र सूरि, श्री हर्ष पुष्पामृत जैन ग्रंथमाला, लाखाबावल, (सौराष्ट्र) ग्रं०-९९
१२६. श्रीमद्भागवत महापुराण- गीताप्रेस, गोरखपुर
१२७. षट्खण्डागम (सोलहभाग, धवलासहित) सं० डॉ० हीरालाल जैन एवं डॉ० ए०एन० उपाध्ये, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९७३
१२८. संयुक्तिकाय- सं० भिक्षु जगदीश काश्यप एवं धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५४
१२९. समवायांग- आगमोदय समिति, बम्बई
१३०. समवायांग- मुनि मधुकर, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर
१३१. सर्वार्थसिद्धि- सं० पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५
१३२. स्टडीज इन वात्स्यायन कामसूत्र- ले० एच०सी० चकलदार, कलकत्ता १९२९
१३३. स्थानांग- आगमोदय समिति, १९१८-२०
१३४. स्थानांग- मुनि मधुकर, श्री आगम प्रका० समिति, ब्यावर
१३५. सुखबोधसमाचारी- श्रीचन्द्र सूरि
१३६. सूत्रकृतांग चूर्णि- (जिनदासगणि) ऋषभदेव केशरीमल, श्वे० संस्था, रतलाम, १९४१
१३७. सूर्यप्रज्ञप्ति- मुनि मधुकर, आगम प्रका० समिति, ब्यावर
१३८. हरिवंशपुराण- सं० पं० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६२

२४४ : तित्थोगाली प्रकीर्णक का समीक्षात्मक अध्ययन

शोध-पत्रिका

१. तुलसी प्रज्ञा- जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं
२. तित्थयर- जैन भवन, कलकत्ता
३. निर्ग्रंथ- शारदाबेन चिमनभाई एजुकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद
४. प्रज्ञा- काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
५. प्राकृत-विद्या-कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली
६. श्रमण- पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
७. सम्बोधि- ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद



कर्मभूमि एवं अकर्मभूमि (भोगभूमि)

जहाँ के निवासी स्वयं असि-मसि-कृषि आदि षट्कर्मों के द्वारा अपनी आवश्यकता के अनुरूप सामग्री का उत्पादन एवं उपभोग करते हैं, उसे कर्मभूमि कहा जाता है। यद्यपि अकर्मभूमि (भोगभूमि) पुण्य का फल समझी जाती है, परन्तु मोक्ष के द्वार रूप कर्मभूमि ही है, अकर्मभूमि नहीं। यहाँ शुभ और अशुभ कर्मों के आश्रय को कर्मभूमि कहा जाता है। यद्यपि तीनों लोक ही कर्म का आश्रय है, फिर भी इससे उत्कृष्टता का ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूप से कर्मों के आश्रय हैं। सातवें नरक को प्राप्त करानेवाले अशुभ कर्मों का अर्जन भरतादि क्षेत्रों में ही किया जाता है। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेष को प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मों का उपार्जन भी यहीं पर होता है तथा पात्र-दान आदि के साथ कृषि आदि छह प्रकार के कर्म का आरम्भ भी यहीं पर होता है। इसलिए भरतादि क्षेत्र को कर्मभूमि कहा जाता है।

पाँचों भरत और पाँचों ऐरावत क्षेत्रों के दोनों कालों (अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी) के तीन-तीन आरों को छोड़कर सभी क्षेत्रों में सर्वदा भोगभूमि वर्तमान रहती है। इन कालों एवं क्षेत्रों के निवासियों को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी प्रकार का उद्योग या कर्म नहीं करना पड़ता बल्कि बिना कर्म के ही उनकी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, अतः इन क्षेत्रों को अकर्मभूमि कहा जाता है। यहाँ इच्छाओं की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों से होती रहती है। यहाँ नगर, कुल, असि-मसि-कृषि आदि षट्कर्म शिल्प, वर्णाश्रम की पद्धति नहीं होती है। यहाँ के स्त्री-पुरुष युगल रूप में पैदा होते हैं और पूर्व पुण्य के प्रभाव से पति-पत्नी के रूप में विचरण करते हैं। वे सदा निरोग रहते हैं और सुख भोगते हैं। यहाँ के लोग स्वभाव से ही मृदुपरिणामी अर्थात् मन्दकषायी होते हैं इसलिए मरणोपरान्त इन्हें स्वर्ग की प्राप्ति है।



शिद्धि गदे वीरजिणे वि-जदु-चदु-वे सुवास संकंते ।
वित्त सिया तेरसिपे चंददिणे जाद-ऊरावे संते ॥१॥
वेसासीए पागय-निज्जावीडरस मूल-पदरस ।
सिरि राजिदपसादे रहवई ठावण किदवं ॥२॥

महावीर भगवान के निर्वाण से २४८२ (दो हजार
चार सौ ब्यासी) वर्ष व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ल त्रयो-
दशी दिन सोमवार को महावीर जन्मोत्सव के
सुअवसन पर वैशाली प्राकृत विद्यापीठ की
शिलान्यास विधि राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद जी
ने आपने कर-कमलों द्वारा सम्पन्न की ।



प्रमुख प्रवृत्तियाँ

1. स्नातकोत्तर अध्यापन
2. शोधकार्य
3. शोध प्रकाशन
4. विद्वद् गोष्ठियाँ एवं विशेष व्याख्यान
5. स्नातकोत्तर तथा शोध छात्रवृत्तियाँ



प्राकृत, जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली

बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार)-844128 (भारत)

मो.-09471001719, 06431441951

email : vaishaliinstitute@gmail.com

website : www:ripja.bih.nic.in